Nagari Pracharini Sabha Educational Series—No. 1.

भाषासारसंग्रह

पहिला भाग

काशी नागरीप्रचारिणी सभा के कुछ सभासदों द्वारा सभा के आज्ञानुसार संगृहीत और सम्पादित

EIGHTH IMPRESSION.

इंडियन प्रेस, इलाहाबाद, से छपकर प्रकाशित

१९०६ ई०

 [मूल्य ।=)

Nagari Pracharini Sabha Educational Series—No. 1.

भाषासारसंग्रह

पहिला भाग

काशी नागरीप्रचारिणी सभा के कतिपय सभासदों द्वारा सभा के आज्ञानुसार संगृहीत और सम्पादित

SEVENTH IMPRESSION.

—:o:—

इण्डियन प्रेस, प्रयाग

१९०४ ई०

[मूल्य ।≡)

सूचीपत्र

—:०:—

——–

भाषासारसंग्रह

पहिला भाग

टेम्स नदी पर हिम का मेला*

उस देश के रहनेवाले जहां गरमी अधिक और सरदी कम पड़ती है, इस बात पर, जो वर्णन की जाती है; विश्वास न करेंगे और कहेंगे कि क्या और देशों में इतनी सरदी पड़ती है कि पानी जम कर पत्थर की चट्टान की नाईं हो जाता है। इङ्गलिस्तान में प्रतिवर्ष बहता जल जम जाता है, परन्तु टेम्स नदी, जो वहाँ की सब नदियों में बड़ी और प्रसिद्ध है और जिसके दोनों ओर लण्डन नगरी बसी हुई है, उसका पानी कई बार जमकर मानो एक पत्थर की चट्टान सा हो गया। सन् १०९२, सन् १५६४ और फिर सन् १६८३ ईसवी में वह ऐसी ही जम गई थी। तीसरी बार का वर्णन ईबलिन साहब ने यों लिखा है कि जैसा जाड़ा इस बार पड़ा है वैसा कई वर्षों से इङ्गलिस्तान में नहीं पड़ा था। इस बार सम्पूर्ण टेम्स नदी का जल शीत की अधिकाई से जम कर ऐसा

* यह लेख शेरिङ्ग साहब लिखित भूचरित्रदर्पण से लिया गया है।

कड़ा हो गया था कि वह एक नगर के भार उठाने योग्य हो। जब लोगों ने ऐसा देखा तो तुरन्त उसपर आ बसे। गलिओं के चिन्ह हुए, दूकानें बस गईं और उनमें उत्तम उत्तम वस्तुएं बिकने लगीं। उसकी गलिओं में लोग भांति भांति के यानों पर चढ़ कर घूमने लगे। एक स्थान पर लोगों ने आग सुलगा कर समूचे जन्तु का मांस पकाया। एक ओर स्थल के अद्भुत अद्भुत पशु पक्षी दिखाई देते थे, जिन्हें लोग पहिएदार कटघरों में बन्द कर और उनमें घोड़े जोत करके ले जाते थे। एक ओर चायघर था जहां लोग बैठ कर चाय पीते थे। कहीं चर्खी थी जिसपर चढ़ कर लोग झूलते थे और एक ठौर बहुत सी नावें थीं जिनके छज्जे और मसतूल पर पाल और ध्वजाएं लगी थीं। कभी उन्हें मल्लाह घोड़ों से और कभी रस्सा लगा कर आपही बरफ़ के ऊपर खींचते थे।

एक आश्चर्य की बात यह थी कि किसीने एक मुद्रायन्त्र हिम पर खोला और एक कवि ने एक कविता रचकर उसमें छपवाई। उसका भावार्थ यह है—

चलो छापेखाने में देखने वालो।
कुटुम्बों का नाम और अपना छपालो॥
चतुर जन है सभी उसके कर्म्मचारी।
मजूरी ले काम अपना करते सँवारी॥
पर अचरच ये है छापते उस ठहर हैं।
जहां नित्य सब डूब कर जाते मर हैं॥

उस समय दूसरा चार्ल्स् अपनी रानी, राजकुँवर और अनेक सेवकों के साथ मेले में आया और कुछ पारितोषिक देकर उसने अपना नाम उस यन्त्रालय में छपवाया। एक पत्र जिसमें राजा और सब सेवकों के नाम, वर्ष महीने और तिथि सहित छपे थे, अबलों वहां के अजायबघर में रक्खा है और सबसे उत्तम वस्तु समझा जाता है।

सन् १७३९ ईसवी में फिर ऐसेही दशा हुई और सन् १७८९ में इतना पाला पड़ा कि नदी का जल अठारह फ़ीट मोटा जम गया। फिर उसपर मेला लगा, पर जब पाला पिघलने लगा तो लोग बड़ी आपदा में पड़े। सब दूकानदार डर के मारे अपनी अपनी वस्तुओं को किनारे पर फेंकने लगे। नदी के ऊपर हिम में दरारें फट गईं, इसलिये मल्लाहों ने उनपर पटरे बिछा दिए और जो लोग उनपर से जाते थे उनसे कुछ पैसे वे लेने लगे। पर जब भीड़ की भीड़ उन पटरों पर झुक पड़ी तो वे पैसे न ले सके और उन्होंने पटरों को उठा लिया। तब तो कौतुक देखनेवाले दरारों पर कूदने लगे और कूदने के समय मनुष्यों की भीड़ के कारण बहुतेरे लोग पानी में गिर पड़े।

उस समय के कौतुकों में एक यह कौतुक था कि एक मनुष्य ने हिम के ऊपर एक डेरा खड़ा किया और उसके बाहर यह विज्ञापन लगाया था कि यह तम्बू भाड़े के लिये है, पर इसका अधिकारी हिम साहब है और उसके काम का ठिकाना नहीं है। ऐसा जान पड़ता है कि थोड़े दिनों के पीछे उसके साझियों में

फूट होगी और कोठी टूट जायगी। उस समय सब लेखा जोखा पिघलाहट साहब के हाथ में सौंपा जायगा।

सबसे अन्तिम मेला जो अब तक प्रसिद्ध है, सन् १८१४ ईसवी में हुआ था। इसके होने के पहिले लण्डन नगर पर ऐसा कुहरा पड़ा कि दिन रात के समान हो गया और ऐसा अन्धेरा हुआ कि लोगों ने घरों में दिए और सड़कों पर पलीते बाले। ऐसी अवस्था में एक धनी अपने घर से एक मित्र की भेंट करने के लिये निकला। पर कई घण्टों तक वह भटकता फिरा और अन्त में अपने मित्र का घर न पाकर लौट आया। जब कुहरा दूर हुआ तो पाला पड़ने लगा और टेम्स नदी का जल जम गया। फिर मेला लगा और लोगों ने आग सुलगा कर मांस पकाया। पाले की ऐसी दशा केवल पाँच दिन तक रही। ज्वार के वेग से नदी के ऊपर का पाला फट गया। उसकी एक चट्टान पर, जो अलग हो गई थी, एक डेरा था जिसमें नौ मनुष्य सोते थे। जब ज्वार के वेग से वह चट्टान डगमगाने लगी तो वे लोग चौंक पड़े और डर के मारे बलता हुआ दिया भीतर ही छोड़ कर भागे। अचानचक डेरे में आग लगी और सारा तम्बू भस्म हो गया। आग लगने के समय एक पटेला जो छूटा हुआ था उस चट्टान के पास आकर लग गया इसी के द्वारा उन लोगों के प्राण बचे। प्रायः ऐसे विचित्र मेलों में बहुत से लोग जान बूझ कर अपने प्राण दे देते हैं।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र*

श्रीमान कवि चूड़ामणि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने सन् १८५० ई० के सितम्बर मास की ९ वीं तारीख को बनारस में जन्म लिया था। जब वे पाँच वर्ष के थे तो उनकी पूज्य माता जी और ९ वर्ष के हुए तो महामान्य पिता बाबू गोपालचन्द्र जी का स्वर्गवास हुआ, जिससे उनको माता पिता का सुख बहुत ही कम देखने में आया। उनको शिक्षा बालकपन से दी गई थी और उन्होंने कई वर्ष लों बनारस कालेज में अंग्रेज़ी तथा हिन्दी पढ़ी थी। उस समय बनारस कालेज में हिन्दी के अध्यापक पण्डित लोकनाथ चौबे थे। चौबे जी हिन्दी के बहुत अच्छे कवि थे। बाबू साहब की विलक्षण बुद्धि देखकर वे अपने इष्ट मित्रों से कहा करते थे कि यह बालक विशेष होनहार है। बाबू हरिश्चन्द्र ने संस्कृत, फ़ारसी, बँगला, मराठी आदि अनेक भाषाओं में अपने घर पर इतना परिश्रम किया था कि तैलङ्ग और तामिल भाषाओं को छोड़ कर वे भारतवर्ष की समस्त देशभाषाओं को जानते थे। उनकी विद्वत्ता, बहुज्ञता, नीतिज्ञता, और विलक्षण बुद्धि का वृत्तान्त सब पर विदित है, कहने की कोई आवश्यकता नहीं। उनकी बुद्धि का चमत्कार देखकर लोगों को आश्चर्य होता था कि इतनी अल्प अवस्था में यह सर्वज्ञता! कविता की रुचि बाबू साहब को बालकपनही से थी। उनकी उस समय की कविताओं के पढ़ने से जब कि वे बहुत छोटे थे, बड़ा आश्चर्य होता है, तो

* महामहोपाध्याय पण्डित सुधाकर द्विवेदी द्वारा चन्द्रास्त से सङ्कलित।

फिर पिछली का तो कहनाही क्या है? वे हिन्दी के मूर्तिमान आशु कवि कालिदास थे इसमें कोई सन्देह नहीं। जैसी कविता इनकी सरस और प्रिय होती थी, वैसी आज दिन किसी कवि की नहीं होती। वे कविता सब भाषाओं की करते थे, पर हिन्दी-भाषा की कविता में अद्वितीय थे। उनके जीवन का बहुमूल्य समय सदा लिखने पढ़ने में जाता था, और कोई समय ऐसा नहीं जाता था कि जब उनके पास लिखने पढ़ने की सामग्री न रहती हो। उन्होंने १६ वर्ष की अवस्था में कविवचनसुधा नामक पत्र निकाला था। इसके पीछे तो धीरे धीरे अनेक पत्र पत्रिकाएं और सैकड़ों पुस्तकें लिख डालीं जो युगयुगान्तर तक संसार में उनका नाम जैसा का तैसा बनाए रक्खेंगी। २० वर्ष की अवस्था अर्थात् सन् १८७० ई० में, बाबू साहब आनरेरी मजिस्ट्रेट नियुक्त हुए और सन् ७४ तक रहे, तथा उसीके लगभग ६ वर्ष लों वे म्यूनिसिपल कमिश्नर भी थे। साधारण लोगों में विद्या फैलाने के लिये सन् १८६७ में, जब कि उनकी अवस्था केवल १७ वर्ष की थी, उन्होंने चौखम्भा-स्कूल, जो अब तक उनकी कीर्ति की ध्वजा है, स्थापित किया। लोगों के संस्कार सुधारने तथा हिन्दी की उन्नति के लिये उन्होंने हिन्दी डिबेटिङ्गक्लब, अनाथरक्षिणी सभा, तदीयसमाज, काव्यसमाज आदि सभाएं स्थापित कीं और वे स्वयं उनके सभापति रहे। भारतवर्ष के प्रायः सब प्रतिष्ठित समाज तथा सभाओं में से वे किसी के प्रेसीडेंट, किसी के सेक्रेटरी और किसी के मेम्बर थे। उन्होंने लोगों के उपकार के लिये

अनेक बार देश देशान्तरों में व्याख्यान भी दिए। उनकी वक्तृता सरल और हृदयग्राहिणी होती थी। उनके लेख तथा वक्तृत्व में देश का अनुराग झलकता था। विद्या का सम्मान जैसा वे करते थे, वैसा करना आज कल के लोगों के लिये कठिन है। ऐसा कोई भी विद्वान् न होगा जिसने उनसे आदर सत्कार न पाया हो। काशी के पण्डितों ने जो अपना हस्ताक्षर करके बाबू साहब को प्रशंसापत्र दिया था, उसमें उन लोगों ने स्पष्ट लिखा है कि—

"सब सज्जन के मान को कारन इक हरिचन्द।
जिमि स्वभाव दिन रैन के कारन नित हरि चन्द॥"

जब काशी में राजघाट पर गङ्गाजी के पुल बँधने में काम लग रहा था, उस समय एक दिन पण्डित सुधाकर द्विवेदी को साथ लेकर वे कलें देखने गए। लौटती समय पण्डित जी ने यह दोहा पढ़ा—

"राजघाट पर बँधत पुल जहँ कुलीन को ढेरि।
आज गए कल देखिके आजहिं लौटे फेरि॥"

इसपर प्रसन्न होकर उन्होंने उसी समय पण्डित जी को सौ रुपए का नोट पारितोषिक दिया।

बाबू साहब दानिओं में मानों कर्ण थे बस इतनाही कहना बहुत है, क्योंकि उनसे सहस्रों मनुष्यों का कल्याण होता था। विद्या की उन्नति के लिये भी उन्होंने बहुत कुछ व्यय किया। ५०० रु० तो उन्होंने पण्डित परमानन्द जी को "बिहारी सतसई"

की संस्कृत टीका रचने का दिया था और इसी प्रकार से वे कालेज और स्कूलों में भी समय समय पर उचित पारितोषिक बाँटते थे। जब जब बङ्गाल, बम्बई और मदरास में स्त्रियां परीक्षोत्तीर्ण हुईं, तब तब उन्होंने उनके उत्साह बढ़ाने के लिये बनारसी साड़ियां भेजीं। वे गुणग्राहक भी एक ही थे, क्योंकि गुणिओं के गुण से प्रसन्न होकर उनको यथेष्ट द्रव्य देते थे। तात्पर्य यह कि जहां तक बना उन्होंने दिया; और कभी देने से हाथ न रोका।

वे परम राजभक्त थे। जब प्रिंस आफ़ वेल्स आए थे तो उन्होंने अनेक भाषाओं के छन्दों में बना कर स्वागतग्रन्थ उनके अर्पण किया था। ड्यूक आफ़एडिन्बरा जिस समय यहां पधारे थे, उस समय बाबू साहब ने उनके साथ ऐसी राजभक्ति प्रकट की कि, जिससे ड्यूक उनपर ऐसे प्रसन्न हुए कि जब तक वे काशी में रहे, उन्होंने बाबू साहब पर विशेष स्नेह रक्खा।

देशहितैषियों में पहिले उन्हीं के नाम पर अँगुली पड़ती थी, क्योंकि वे ऐसे देशहितैषी थे कि उन्होंने अपने देश के गौरव को स्थापित रखने के लिये अपने धन, मान और प्रतिष्ठा को एक ओर रख दिया था और सदा वे उन सबके सुधारने का उपाय सोचते रहे। उनको अपने देशवासियों पर कितनी प्रीति थी यह बात उनके ग्रन्थों के पढ़ने से भली भांति विदित हो सकती है, क्योंकि उनके लेखों से उनकी देशहितैषिता और देश की सच्ची प्रीति झलकती है।

बाबू साहब अजातशत्रु थे, इसमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं है। और उनका शील ऐसा अपूर्व था कि साधारण लोगों की क्या कथा, भारतवर्ष के प्रधान प्रधान राजे महाराजे, नवाब और शाहज़ादे भी उनसे मित्रता का वर्ताव करते थे। इसी प्रकार अमेरिका और योरप के सहृदय तथा प्रधान लोग भी उन पर पूरा स्नेह रखते थे।

हिन्दी के लिये तो बाबू साहब का मानो जन्मही हुआ था। यह उन्हींका काम था कि वे हिन्दी गद्य में एक नई जीवनीशक्ति का सञ्चार करके उसके लेखकों के पथदर्शक और उसके भण्डार की पूर्ति के प्रधान कारण हुए। हिन्दी गद्य के जन्मदाता तो लल्लू लाल जी हुए, परन्तु यह बाबू हरिश्चन्द्र का ही कार्य था कि उन्होंने इसको नवीन रूप से अलङ्कृत कर इस भाषा का गौरव बढ़ाया। इसी कारण से आज दिन हिन्दी के पठित समाज में वे सर्वमान्य और सर्वश्रेष्ठ माने जाते हैं। उनके अनेक गुणों से सन्तुष्ट हो सन् १८८९ ई० में पण्डित रामशङ्कर व्यास के प्रस्ताव पर हिन्दी समाचारपत्रों के सम्पादकों ने उन्हें 'भारतेन्दु' की पदवी दी थी।

बाबू साहब का धर्म वैष्णव था। वे धर्म में बड़े पक्के थे, पर आड़म्बर से दूर भागते थे। उनके सिद्धान्त में परम धर्म भगवत्प्रेम था। वे मत वा धर्म को केवल विश्वासमूलक मानते थे, प्रमाणमूलक नहीं। सत्य, अहिंसा, दया, शील; नम्रता आदि चारित्र्य को भी वे धर्म मानते थे। वे प्रायः कहा करते थे कि यदि

मेरे पास बहुत सा धन होता तो मैं चार काम करता—(१) श्री ठाकुरजी को बगीचे में पधराकर धूम धाम से षटऋतु का मनोरथ करता; (२) इङ्गलैंड, फ़्रांस और अमेरिका जाता; (३) अपने उद्योग से एक शुद्ध हिन्दी की युनिवर्सिटी स्थापित करता और (४) एक शिल्पकला का पश्चिमोत्तर प्रदेश में कालेज बनाता। परन्तु इन इच्छाओं में से वे एक भी पूरी न कर सके। उनके आमोद की वस्तुएं राग, वाद्य, रसिकसमागम, चित्र, देश देश और काल की विचित्र वस्तुएं और भाँति भाँति की पुस्तकें थीं। काव्य उनको जयदेव, देव, नागरीदास, सूरदास और आनन्दघन का अत्यन्त प्रिय था।

ये रुग्न तो कई बेर हुए थे, पर भाग्य अच्छे थे इसलिये बराबर अच्छे होते गए। किन्तु सन् १८८२ ई० में जब श्रीमन्महाराणा उदयपुर से मिलकर जाड़े के दिनों में वे लौटे तो आते समय मार्ग में रोग ने उन्हें धर दबाया। बस, बनारस पहुँचने के साथही वे श्वासरोग से पीड़ित हुए। रोग दिन दिन अधिक होता गया, परन्तु शरीर अन्त में कुछ अच्छा हो गया था। यद्यपि देखने में कुछ दिनों तक रोग जान न पड़ा, पर भीतर ही भीतर वह बना रहा और जड़ से नहीं गया। सन् १८८४ के अन्त में फिर श्वास चलने लगा। कभी कभी ज्वर का आवेश भी हो आता। औषधि बराबर होती रही, पर उससे कुछ लाभ न हुआ, श्वास अधिक हो चला और क्षयी के चिन्ह देख पड़े। एकाएक २ जनवरी, सन् १८८५, से पीड़ा बढ़ने लगी। ६ वीं तारीख़ को

प्रातःकाल जब दासी समाचार पूछने आई तो आपने कहा कि हमारे जीवन के नाटक का प्रोग्राम नित्य नया छप रहा है, जिसके पहिले दिन ज्वर को, दूसरे दिन शूल को और तीसरे दिन खांसी की सीन तो हो चुकी, अब देखें लास्ट नाइट कब होती है। उसी दिन रोग इतना बढ़ा कि अन्त को रात के १० बजे श्रीकृष्ण श्रीराम कहते कहते यह भारतेन्दु भारत के दुर्भाग्य रूपी मेघाच्छन गगन में विलीन हो गया और अपनी कौमुदी रूपी अक्षय कीर्ति का विकाश उस समय तक के लिये स्थिर रख गया कि जब लों भूमण्डल पर हिन्दी भाषा और नागरी अक्षरों का लोप न हो।

भूचाल का वर्णन*

प्राचीन समय के लोग भूचाल का कारण नहीं जानते थे और उस समय के लेखकों ने भी भूकम्प का और समुद्र के घटने बढ़ने तथा पृथ्वी के ऊंची नीची होने का कुछ वर्णन नहीं किया, परन्तु भूचाल से जो जो हानियां बस्ती को हुईं उन्हें लिखा है। जबसे हुक साहब ने अपने विचार से भूकम्प के कारणों को प्रकट किया तबसे लोगों को इसका ज्ञान हुआ।

सन् १६९२ ईसवी में जमैका नाम के टापू में ऐसा भूकम्प हुआ कि धरती समुद्र की नाईं लहराने और हिलने लगी और कहीं कहीं यह ऐसी धधक उठी कि बड़े बड़े दरार इसमें फटे

---

* यह लेख शेरिङ्ग साहब लिखित भूचरित्रदर्पण से लिया गया है।

ग्रौर फिर मिल गए। बहुतेरे लोग उन दरारों में गिर कर मर गए ग्रौर बहुतेरे, जिनका ग्राधा ग्रङ्ग भीतर ग्रौर ग्राधा बाहर था, दबकर मर गए। बहुधा लोग ऐसे मरे कि उनका केवल सिरही दिखाई देता था ग्रौर बहुतेरे लोग दरार में पड़कर भूचाल के झोंके से दूर जा पड़े। समुद्र के तीर बन्दरस्थान पर जितने जहाज़ ग्रौर घर थे सब डूब गए। उनमें से कितने चौबीस ग्रौर कई छत्तीस तथा ग्रनेक ग्रड़तालीस फ़ीट तक समुद्र में धँस गए। परन्तु उन डूबे हुए घरों के कंगूरे ग्रौर जहाज़ों के मस्तूल दिखाई देते थे। पोर्टरायल नगर के निकट धरती एकाएक धँस गई ग्रौर वहां समुद्र बहने लगा। बहुत दिनों तक डूबे हुए घरों की छत पर एक जङ्गीजहाज़ चलता रहा, ग्रन्त में वह छत पर टिक गया जिसके बोझ से छत टूट गई ग्रौर वह नीचे धँस गया। भूकम्प के सौ वर्ष पीछे लोग वहां गए ग्रौर उन्होंने समुद्र के निर्मल जल में डूबे हुए घरों के देखा। जमैका टापू की धरती भूकम्प से सहस्रों स्थान पर फट गई ग्रौर एक ठौर, जहां ग्रागे लोग बसते थे ग्रौर खेती बारी होती थी, एक सरोवर बन गया ग्रौर एक टुकड़ा धरती का ग्रपने स्थान से ग्राध मील की दूरी पर हट गया। ग्रनेक बड़े बड़े पहाड़ धँसके ग्रौर उनसे नदियां निकलीं। ये नदियां ग्राठ पहर तक बहने से रुकी रहीं पर जब बहीं तो उनमें उखड़े हुए पेड़ बहते दिखाई पड़े।

सन् १६९३ ईसवी में सिसली के टापू में कई बार भूकम्प ग्राया। ग्यारहवीं जनवरी के कटेनिया नगर ग्रौर उसके समीप

के उनचास गांव नष्ट हो गए और एक लाख मनुष्य मरे। नोटो नगर में एक सड़क धस गई और उसके एक ओर के भवन झुक गए और तिरछे दिखाई देने लगे। पेरू देश में सन् १७४६ ईसवी में आठ घण्टे के भीतर दो सौ बार भूकम्प हुआ और समुद्र दो बार धरती पर चढ़ आया और फिर हट गया। इसीसे लीमा नगर नष्ट हो गया और समुद्र का तट बन्दरस्थान बन गया और चार बन्दरस्थानों* में बड़ा हलचल पड़ गया। बन्दरस्थान में सब तेईस जहाज़ लगे हुए थे। उनमें से उन्नीस डूब गए और चार जहाज़ जिनमें से एक सामरिक पोत था, लहरों के मारे धरती पर चढ़ आए। भूचाल के पहिले इस नगर में चार सहस्र लोग बसते थे, पर पीछे केवल दो सौ मनुष्य बचे और कोट (गढ़) के एक भाग को छोड़ कर नगर का कुछ भी पता न लगा।

सन् १७५१ ईसवी के मई महीने की चौबीसवीं तिथि को चिली देश का कन्सपशन नाम का प्राचीन नगर भूचाल से नष्ट हो गया और उस स्थान पर समुद्र बहने लगा। वहां के निवासी कहते हैं कि समुद्र के नीचे की धरती भूकम्प से चौबीस फ़ीट ऊंची हो गई। इसी कारण कन्सप्शन बन्दरस्थान से दो मील की दूरी तक जहाज़ नहीं आ सकते। सन् १८२२ ईसवी में उसी देश में फिर भूचाल आया और बारह सौ मील उत्तर से दक्षिण तक उसकी धमक हुई। दूसरे दिन जान पड़ा कि बालवरेज़ो नगर के निकट की धरती ऊंची होगई, क्योंकि लोग

---

* वे स्थान जहां जहाज़ लङ्गर डाल कर ठहरते हैं।

एक डूबे हुए जहाज़ के समीप, जिसके पास पहिले डोंगी बिना नहीं पहुँच सकते थे, अब पांव पांव पहुँचने लगे; पर उस जहाज़ और धरती के बीच की दूरी जितनी आगे थी उतनीही बनी रही। कितने लोग समझते हैं कि आडीज़ पहाड़ से बहुत दूर तक समुद्र के नीचे की धरती ऊंची हो गई थी। सम्पूर्ण धरती जो ऊंची हो गई थी एक लाख मील वर्गात्मक अलग अलग थी। यदि यह बात सच हो तो गणित से जान पड़ता है कि जितनी धरती समुद्र से निकली वह सत्तावन मील घनात्मक के बराबर थी, अथवा उस पहाड़ के बराबर थी जिसकी उँचाई दो मील की और घेरा तेंतीस मील का हो। चिली देश के कन्सप्शन नामक बन्दरस्थान में सन् १८३५ ईसवी में ऐसा भारी भूचाल आया कि जिसकी धमक से कन्सप्शन, टलकहोवानो और चिल्लाने की बस्ती और कई एक गांव नष्ट हो गए। इसके पीछे इस बन्दर स्थान में समुद्र का पानी घट गया, जहाज़ धरती पर टिक गए और उसी समय जवान् फर्नानडेज़ नामक एक टापू में, जो चिली से तीन सैा पैंसठ मील की दूरी पर था, बड़े वेग से भूकम्प हुआ और उसी टापू के निकट एक ज्वालामुखी पर्वत प्रगट हुआ जिससे सम्पूर्ण टापू में प्रकाश हो गया। सन् १८३७ ईसवी के नवम्बर महीने में चिली देश में फिर भूडोल हुआ और उससे बलडोया नगर नष्ट हो गया और उसकी धमक से एक जहाज़ समुद्र में ऐसा हिला कि उसका मस्तूल टूट कर गिर पड़ा। जब दिसम्बर महीने की ग्यारहवीं तिथि को यह जहाज़ उस स्थान

पर पहुँचा जहां दो वर्ष पहिले लङ्गर पर टिका था, तो उसके कप्तान ने इस बात को जाना कि पहिले की अपेक्षा इस स्थान की गहराई आठ फ़ीट कम होगई है, और कितनी चट्टानें जो पहिले समुद्र के नीचे थीं अब ऊपर निकल आई हैं। सड़ी हुई सीपियां और मछलियां जो समुद्र की लहरों से सूखे में आ गई थीं, दिखाई दीं और समुद्र के किनारे पर बहुत दूर तक जड़ से उखड़े हुए पेड़ देख पड़े।

सन १७५५ ईसवी के नवम्बर महीने की पहिली तारीख़ को पुर्तगाल की राजधानी लिसबन नगर में ऐसे वेग का भूडोल हुआ कि जैसा वर्तमान काल में कहीं देखने में नहीं आया। धरती के नीचे से एकाएक गरगराहट का शब्द सुनाई दिया और नगर के एक भाग को छोड़ कर सबका सब नष्ट हो गया। इस दुर्घटना के कारण ६ मिनट में साठ सहस्र मनुष्य मरे। पहिले तो समुद्र पीछे हट गया और बन्दरस्थान सूख गया, और फिर इतना बढ़ा कि नियत स्थान से पचास फ़ीट ऊंचा हो गया। कई एक बड़े बड़े पर्वत ऊपर से नीचे तक हिल उठे। इस भूकम्प की धमक बड़ी दूर तक पहुँची थी। हम्बोल्ट साहब ने अनुमान किया है कि पृथ्वी का वह तल जो योरप से चौगुना है इस भूचाल से हिला। इस भूकम्प की धमक वेस्टइनडीज़ तक पहुँची और समुद्र का हलरा, जो किनारे पर दो फ़ीट से अधिक नहीं चढ़ता था, तीस तीस फ़ीट तक चढ़ गया, तथा समुद्र का जल काला हो गया और कनेडा देश की झील तक उसकी धमक पहुँची—और अफ़्रिक़ा के

उत्तर अलजीयर्स और फ़ेज़ देशों को धरती बड़े वेग से हिली। मोराको से चौबीस मील की दूरी पर एक गांव था जो आठ दस सहस्र मनुष्यों के साथ पृथ्वी में धस गया और फिर भूमि एकसी हो गई, मानो पहिले वहां कोई गाँव था ही नहीं। इस आपत्ति के पहिले लिसबन नगर में समुद्र के तीर पर लोगों के चलने के लिये सङ्गमरमर की एक भीत थी। जब भूचाल से लोगों के घर गिरने लगे तो वहां जाकर लोगों ने शरण ली। इस भीत के निकट मनुष्यों से भरी हुई बहुतेरी नावें भी थीं। अचानचक सब लोग और नावें पानी में डूब गईं और फिर किसीका कुछ भी पता न लगा।

एक जहाज़ लिसबन नगर के पश्चिम ओर वाले समुद्र में था। जब भूचाल आया तो वह ऐसा हिला कि उसके कप्तान ने समझा कि वह धरती पर टिक गया। तथा एक और जहाज़ ऐसे वेग से हिला कि उसपर के मल्लाहों के पांव डेढ़ डेढ़ फ़ीट तक उसपर से उठ गए। इङ्गलिस्तान के पोखरों, नदियों और झीलों में भी अद्भुत रीति की गति हुई। गणित से जान पड़ता है कि यह भूकम्प एक मिनट में बीस मील आगे बढ़ता था। स्पेन देश के तट पर समुद्र का पानी साठ फ़ीट तक ऊपर चढ़ आया और टञ्जीर्स स्थान में समुद्र आठ बार चढ़ा। बड़े आश्चर्य की बात है कि भूकम्प के आरम्भ में तो समुद्र घट गया था, पर पीछे से फिर बड़े वेग से चढ़ आया। एक साहब अनुमान करते हैं कि समुद्र के नीचे की धरती में वाष्प के इकट्ठे होने से धरती खोखली

होकर धस जाती है और ज्वाला प्रगट होने लगती है। दूसरे साहब दूसरी रीति से अनुमान करते हैं कि ऊंचे होने के कारण समुद्र एक ओर हट जाता है और धरती धस जाती है, तब समुद्र का पानी फिर वड़े वेग से बढ़ आता है। तीसरे साहब यों कहते हैं कि जब समुद्र के नीचे की धरती ऊंची हो जाती है तब पानी अपनी स्वाभाविक रीति पर नीचे की ओर बहता है और उसकी लहरें किनारे तक पहुँचती हैं. इसके पीछे पानी अपने स्थान पर आजाता है। डरोन साहब की समझ में यह बात आई कि जैसे धुआंकश जहाज़ के चलने से लहरों पर उसका वेग पहुँचता है और पहिले किनारे से पानी हट जाता और फिर उस ओर बढ़ आता है, वैसे ही भूचाल से पहिले समुद्र का जल हट जाता और पीछे बढ़ आता है।

सन् १७६२ ईसवी में बङ्गाल देश के चटगांव प्रदेश में भूडोल आया, जिससे सारा देश हिल गया और कहीं कहीं धरती से ज्वाला निकलने लगी और उसके साथ पानी तथा कीचड़ फुहारे की नाईं पृथ्वी में से निकले। वर्द्वान में एक नदी सूख गई और बरचरा स्थान की धरती, जो समुद्र के किनारे पर है, धस गई और उसमें दो सौ मनुष्य और बहुत से पशु नष्ट हुए। मग नाम की पर्वत-श्रेणी-वाला ससलोङ्तूम नामक पहाड़ धस गया और एक पहाड़ ऐसा धसा कि उसकी चोटी छोड़कर और कुछ दिखाई नहीं देता था। कई गांव उसके नीचे हो गए। इस कारण उनके

ऊपर से पानी बह चला और दो पहाड़ों से ज्वाला प्रगट हुई। इस भूचाल की धमक कलकत्ते तक पहुँची थी।

सन् १७८३ ई० में कलाब्रिया देश में एक नए प्रकार का भूकम्प हुआ। यह इसी वर्ष के फ़रवरी महीने में आरम्भ हुआ और चार वर्ष अर्थात् सन् १७८६ ईसवी तक इसकी धमक आती रही। नेपल्स देश के राजा के विग्रोपजिओ नामक डाक्टर ने इस भूचाल का वृत्तान्त लिख कर अपने राजा के पास भिजवा दिया था। फिर उसी राजा की आज्ञा से उसके प्रधान मन्त्री ने भी वहां जा कर और भूचाल का सम्पूर्ण वृत्तान्त लिख कर राजा के पास भेजा था। एक और डाक्टर ने भी जो वहीं रहता था, इस भूडोल के प्रतिदिन का वृत्तान्त लिखा है। उसके गणित से जान पड़ता है कि पहिले वर्ष में नौ सौ उनचास बार भूकम्प हुआ, उनमें से पांच सौ एक बार सबसे अधिक वेग का था। दूसरे वर्ष में एक सौ एक बार भूंचाल आया। इन लोगों को छोड़कर और भी बहुत से लोग हैं जिन्होंने इस भूकम्प का वर्णन लिखा है। कितने चित्रकारों ने भी जहां जहां ज्वाला प्रगट हुई उनके चित्र खींचे हैं। यह भूचाल नेपल्स के उत्तर से सिसली टापू तक पहुँचा था, परन्तु जिस स्थान पर बड़े बेग से भूकम्प हुआ, वह धर्ती पांच सौ मील वर्गात्मक अलग अलग थी। पहिला भूकम्प फ़रवरी महीने की पांचवीं तिथि को आया था, जिससे दो मिनट में कई एक घरों को छोड़ कर जितने नगर और गांव थे सबके सब नष्ट हो गए। उसी वर्ष के मार्च महीने की अट्ठाइसवीं तिथि को एक और भूकम्प आया

जो बल में पहिले के बराबर था। भूचाल, पत्थर के अधिक कठोर होने के कारण; ठीक एक सरल रेखा में चलता है, पर जब कठोरता कम होती है तब इधर उधर भी फैलता है। जब इस देश में भूचाल होता था उस समय धरती समुद्र की लहरों के समान लहराती थी, और प्रत्येक भूकम्प के पहिले बादल ठहरे हुए दिखाई देते थे, और वृक्ष इतने झुक गए थे कि डालियां धरती पर लग गई थीं। जान पड़ता है कि कहीं कहीं भूचालकी गति वृत्ताकार थी, क्योंकि दो लाटों पर के पत्थर जो एक घर पर बनी थीं घूम गए, परन्तु डरोन साहब का अनुमान है कि भूचाल की गति वृत्त में नहीं वरन् लहर की नांई होती है। ग्रोमाल्डी साहब कहते हैं कि सिसली के मेसीना नगर के निकट की धरती में, जो समुद्र के तीर पर है, ज्वाला प्रगट हुई और तट की भूमि जो पहिले चौरस थी समुद्र की ओर झुक गई। और एक गांव में के घर कुछ तो ऊंचे हो गए और कुछ जो उन्हींके पास थे धस गए। और कई एक स्थानों में की सड़कें, जिनके दोनों ओर भवन थे, ऊंची हो गईं, पर भवन ज्यों के त्यों अपने स्थान पर बने रहे। एक स्थान पर एक शिखर था, उसका एक भाग झुक गया और दूसरा भाग जैसा था वैसाही बना रहा। एक स्थान पर एक पक्का कुआ था। उसके चारों ओर की धरती धस गई और कुआ इसलिये कि वह पत्थरों से बना हुआ था, अपनी जगह पर शिखर की नाईं खड़ा रहा। धरती के फटने से जो गति होती है वह भूमि के ऊपर देख पड़ती है। बारम्बार ऐसा हुआ है कि जब धरती फट गई है तब

मनुष्य उसकी दरारों में गिर पड़े और फिर जीते हुए पानी के फुहारों के साथ बिना परिश्रम ऊपर निकल आए हैं। ज्वाला निकलने से धरती ऐसी फट जाती है कि जैसे शीशा तोड़ने से चूर चूर हो जाता है। एक पर्वत की तराई में भूकम्प के समय एक बड़ी दरार फट पड़ी जिसमें बहुत मिट्टी और वृक्षादि गिरे, तिसपर भी भूचाल के पीछे वह पांच सौ फ़ीट लम्बी और दो सौ फ़ीट गहरी रह गई। एक स्थान में और एक दरार फटी जिस की लम्बाई एक मील के लगभग और चौड़ाई एक सौ पांच फ़ीट और गहराई तीस फ़ीट थी। इस भूचाल की धमक से एक पहाड़ आध मील तक फट गया था।

समीनारा स्थान पर एकाएक सत्रह सौ पचास फ़ीट लम्बा, नौ सौ सैंतीस फ़ीट चौड़ा और बावन फ़ीट गहरा एक सरोवर बन गया। वहां के निवासी इस सरोवर के पानी को हानिकारक समझ कर चाहते थे कि एक नहर खोद कर उसके जल को बाहर निकाल दें और इसी विचार से उन्होंने बहुत कुछ व्यय करके एक नहर बनवाई भी, पर उसका पानी न निकल सका, क्योंकि जितना जल नहर से बहता था उतनाही उसके सोते से निकल आता था। भूचाल के समय धरती ऊपर को उठ जाती है। इसका एक प्रमाण यह है कि जो जो वस्तुएं धरती के ऊपर रहती हैं वे भी उसके साथ उठतीं और जब गिरतीं तो उलटी गिरती हैं। एक नदी बहुत दिन तक गुप्त रही और पीछे अपने स्थान से हट कर फिर बहने लगी। एक स्थान पर एक बगीचा था जिसमें एक भवन

और बहुतेरे वृक्ष थे। वे सब वृक्ष अपने स्थान से हट कर दो सौ फीट नीचे ज्यों के त्यों जा लगे, पर भवन और उसके रहने वाले अपनी जगह पर जैसे के जैसे बने रहे। उस वर्ष बगीचे में फल अधिकता से लगे। अब तक इस बात का पता लगा है कि सब भूचालों से पचास बड़े बड़े और दो सौ पन्द्रह छोटे छोटे सरोवर बन गए हैं।

इस भूचाल के भय से सिसली देश के राजा ने अपनी प्रजा को यह आज्ञा दी कि छोटी छोटी नावों पर समुद्र में रहा करो। लोगों ने आज्ञा का पालन किया और उसी वर्ष के फ़रवरी महीने की पांचवीं तिथि की सन्ध्या के समय बहुत से लोग तो नावों पर थे और बहुत से समुद्र के तट पर सोते थे। अचानक धरती हिलने लगी और जैसे नामक पहाड़ फट गया और उससे एक बड़ी भारी चट्टान चटक कर तट पर गिरी, तथा समुद्र तुरन्त बीस फ़ीट ऊंचा हो अपने स्थान से तट पर चढ़ आया, जिससे जितने मनुष्य वहां थे सब के सब बह गए। तट पर की कितनी नावें तो डूब गईं और कितनी तट से टकराकर चकनाचूर हो गईं और राजा चौदह सौ मनुष्यों के साथ नष्ट हो गया।

कलाब्रिया और सिसली देश में उस भूचाल की धमक से बहुतेरे लोग घरों के नीचे दब गए, बहुतेरे अपने अपने घरों की अग्नि के प्रचण्ड होने से जल गए और बहुतेरे धरती की दरारों

में गिर कर मर गए। इस दुर्घटना में चालीस सहस्र मनुष्य उन रोगों से मरे जिनको उत्पत्ति उस भूचाल से हुई थी।

सन् १८११ ईसवी में उत्तर अमेरिका के दक्षिणी भाग में करोलिना स्थान के दक्षिण एक ऐसा भूकम्प हुआ कि निउमडरिड गांव से ऊडीओ नदी के एक सिरे से लेकर फ्रांसिस नदी के दूसरी ओर को धरती ऐसी हिली कि बहुतेरे नए नए द्वीप और सरोवर बन गए। यह देखा गया है कि बहुधा ज्वालामुखी पर्वत के निकट के स्थानोंमें भूकम्प होता है, पर इस भूकम्पके निकट कोई भी ज्वालामुखी पर्वत न था। फ़लिण्ट साहब लिखते हैं कि एक स्थान पर बड़ा भारी सरोवर बन गया और जब वह सूख गया तो उसमें बाल दिखाई देने लगा और फिर एक घण्टे के पीछे बीस बीस मील के लम्बे कई एक सरोवर देख पड़े, तथा कई एक बड़े बड़े सरोवर जो पहिले जल से भरे हुए थे सूख गए। निउ-मडरिड का समाधिस्थान अपने स्थान से हट कर मिसीसिपी नदी में जा रहा, और गांव की धरती और नदी का तट पन्द्रह मील तक अठारह फ़ीट नीचे धस गया और जङ्गल के वृक्षादि टूटे हुए देख पड़े। उस स्थान के निवासी कहते हैं कि जब धरती बहुत हिली और समुद्र की नांई लहराने लगी, तब वह फट गई और उसकी दरार से पानी, बालू और कोयले निकले। सन् १८८२ ई० में करकस नगर में भूकम्प हुआ। उस समय धरती खौलते हुए पानी की नाईं हिलने लगी और उसके नीचे से भयानक शब्द सुनने में आया। सारा नगर बात की बात

में नष्ट हो गया और दस सहस्र मनुष्य दब कर मर गए। पहाड़ों से बड़ी बड़ी चट्टाने अलग हो गईं। सिला नाम का एक पहाड़ पहिले की अपेक्षा तीन चार सौ फ़ीट नीचा हो गया और एक स्थान पर धरती फट गई; वहां से बहुत सा पानी निकला।

सन् १८१५ ईसवी में सम्बावा टापू में जो जावा टापू से दो सौ मील पर है, भयानक भूकम्प आया। इसके पहिले वहां एक ज्वालामुखी पर्वत था। यह भूचाल पांचवीं अप्रैल को प्रारम्भ हुआ और जुलाई के महीने तक रहा। उसकी गड़गड़ाहट सुमात्रा टापू तक, जो वहां से नौ सौ सत्तर मील दूर था, पहुँचती थी। इस टापू के टम्बोरो सूबे में पहिले बारह सहस्र मनुष्य रहते थे, पर भूचाल के पीछे केवल २६ मनुष्य वहां शेष रह गए। कई स्थानों पर धरती से लावा* निकला और ज्वालामुखी से राख और मिट्टी निकलकर पहाड़ के एक ओर चालीस मील और दूसरी ओर तीन सौ मील तक गिरी, जिससे आकाश में ऐसा अन्धकार हुआ कि वैसा अन्धेरी रात में भी नहीं होता है। यह राख और मिट्टी जहां कहीं समुद्र में गिरी, वहां जहाज़ का चलना बन्द हो गया। टम्बोरो स्थान में समुद्र बहने लगा और भूकम्प के पीछे भी समुद्र अपने स्थान से अठारह फ़ीट बढ़ा ही रहा।

सन् १८१९ ईसवी में कच्छ देश में ऐसा भूडोल आया कि भुज नाम का प्रधान नगर सम्पूर्ण नष्ट हो गया। उस भूकम्प की

---

* एक प्रकार का द्रव पदार्थ जो ज्वालामुखी पहाड़ से निकलता है।

धमक अहमदाबाद तक पहुँची थी और वहां की एक बड़ी मसजिद, जिसे सुलतान अहमद ने साढ़े चार सौ वर्ष पहिले बनवाई थी, गिर पड़ी। अनजर का कोट शिखर सहित बड़े वेग से बैठ गया। पहिले सिन्धु नदी की सीमा पर जब हलरा वेग से उठता था, तब जल छः फ़ीट तक चढ़ता था, पर भूचाल होने के पीछे अठारह फ़ीट तक जल चढ़ा। सुन्दरी कोट और गावों पर जो लखपतगढ़ से उत्तर थे, समुद्र चढ़ आया। भूडोल के बीत जाने पर भवनों की छतें और भीतों के कङ्गूरे दिखाई पड़ते थे। ऐसा जान पड़ता है कि भूचाल के कारण सिन्धु नदी की पूर्वी सीमा में समुद्र सूखे पर इतना चढ़ आया कि दो सहस्र वर्गात्मक मील धरती डूब गई। यद्यपि यह भूकम्प भयानक हुआ और समुद्र भी चढ़ आया, पर कोट का एक शिखर ज्यों का त्यों बना रहा। कोट के रहनेवाले मनुष्यों ने इसी शिखर पर शरण ली और दूसरे दिन नावों पर चढ़ कर अपने प्राण बचाए। भूकम्प के पीछे सुन्दरी गांव के रहनेवाले लोगों ने साढ़े पांच मील की दूरी पर एक स्थान में जहां पहिले चौरस धरती थी, एक लम्बा सा टीला पाया और उसका नाम अल्लहबन्ध रक्खा। यह टीला सुन्दरी गांव की धसी हुई धरती के सम्मुख पचास मील लम्बा और कहीं कहीं सोलह मील चौड़ा है। सन् १८२८ ईसवी में बर्न्स साहब नाव पर चढ़ कर सुन्दरी गांव के खण्डहर को देखने गए थे; उन्होंने वहां केवल एक शिखर और टूटी हुई भीतों को जो दो तीन फ़ीट पानी के ऊपर

थी, देखा और जब भीत पर खड़े होकर चारों ओर देखा तो अल्लहबन्ध नाम की धरती के टुकड़े को छोड़ कर सब जलमय दिखलाई पड़ा।

राबिनसन क्रूसो का इतिहास

मेरा नाम राबिनसन क्रूसो है। सन् १६३२ ई० में यार्क नगर में मेरा जन्म हुआ। मेरा पिता एक अच्छे कुल का था। पहिले वह हल नगर में रहा। वहां व्यापार से धनवान हुआ। फिर वहां का व्यापार छोड़कर यार्क नगर में आया और वहां उसने राबिनसन नाम की एक कुलवती स्त्री से विवाह किया। उससे तीन पुत्र हुए। बड़ा लड़का अंगरेज़ी सेना का सेनापति हुआ और स्पेन देश के लोगों को लड़ाई में मारा गया। मैं नहीं जानता कि मझला लड़का कहां चला गया और उसने क्या काम किया।

मैं अपने पिता का सबसे छोटा पुत्र हूं। बालकपन मेरा लाड़ में बीता, इसीसे मैंने कोई काम करना न सीखा। पर युवा अवस्था में मुझे विदेश जाने की बड़ी इच्छा हुई। मैं पाठशाला में कभी नहीं गया, पर सामान्य लड़कों की नाईं मेरे पिता ने मुझे घरही पर पढ़ना लिखना सिखाया। पिता की इच्छा थी कि मैं वकालत का काम करूं, पर मेरी अभिलाषा थी कि मैं किसी जहाज़ का मुखिया हो कर विदेश जाऊं। मेरे माता पिता और मित्र आदिकों ने बहुत निषेध किया, परन्तु मेरी विदेश जाने की

इच्छा ऐसी प्रबल हुई कि मैंने किसी की बात न मानी। इसी दुर्भाग्य से मेरे ऊपर बड़ी बड़ी आपदाएं पड़ीं।

मेरा पिता बड़ा गम्भीर और बुद्धिमान था। उसने मेरा अभिप्राय जान बहुत सी शिक्षा की बातें मुझसे कहीं। जब पिता बातरोग से अत्यन्त निर्बल हो गया, तब एक दिन उसने मुझे पास बुला विदेश जाने का प्रसङ्ग चलाकर बड़ी उग्रता से कहा कि तुम माता पिता और अपने देश का सुख छोड़ बिदेश जाने की इच्छा क्यों करते हो, विदेश जाने पर तुम को केवल घूमने के और कुछ फल न मिलेगा। और यदि तुम अपने देश में रहोगे तो यहां के लोग तुम्हारी सहायता करेंगे। जो तुम मन लगा कर परिश्रम करोगे तो तुम यहां ही बहुत सा धन उपार्जन करोगे और उससे स्वतंत्रतापूर्वक सुख से तुम्हारा दिन बीतेगा। सुनो, दो प्रकारके मनुष्य बिदेश जाते हैं। एक दरिद्री जो किसी प्रकार अपने दिन नहीं काट सकते। और दूसरे ऐसे धनवान जो कि साहसी कर्म से लोगों में प्रसिद्ध होने की इच्छा रखते हैं। तुम न तो वैसे दरिद्री ही हो और न धनवान, वरन् मध्यम श्रेणी के हो। मैंने बहुत काल से इस बात की परीक्षा की है और भली भांति बिचार कर देखा है कि पुरुष की मध्यम अवस्था उत्तम होती है, और इसका सुख भी बिलक्षण है। इसमें न तो नीचों की भांति क्लेश और परिश्रम करना पड़ता है, और न धनवानों के समान अहङ्कार, सुख की अभिलाषा और ईर्षा होती है। इसीसे मध्यम वृत्त बहुत उत्तम है और सब जाति के मनुष्य इसकी इच्छा करते हैं। एक राजकुमार

जन्म भर उत्तम उत्तम पदार्थों का भोग करता है, परन्तु जब उसके ऊपर किसी प्रकार का दुःख पड़ता है तो उस समय वह उदास हो यही कहता है कि हाय, यदि मैं मध्यम श्रेणी का पुरुष होता तो बहुत अच्छा होता। एक पण्डित ने भी परमेश्वर से यही प्रार्थना की थी कि हे परमेश्वर! तू मुझे न तो दरिद्री बनाइओ और न धनवान्, वरन् मध्यम दशा में रखिओ।

इतना कह फिर पिता ने मुझसे कहा कि तुम भली भांति विचार कर देखो कि इस संसार में अधिक दुःखके भागी या तो धनवान् हैं या दरिद्री, किन्तु मध्यम श्रेणी का पुरुष अधिक दुःख का भागी नहीं होता। क्योंकि धनी लोग प्रायः थोड़े दिनों में दरिद्री हो जाते हैं और दरिद्री सदा दुखी रहते हैं। धनी लोग अपने बड़े बड़े मनोरथ पूरे करने में अनेक प्रकार के क्लेश सह कर रोगी हो जाते हैं और दरिद्री लोग अपने अत्यन्त परिश्रम द्वारा भी अति आवश्यक पदार्थ और साधारण भोजन न पाकर क्लेश वा रोगादि से पीड़ित होते हैं। पर मध्यम श्रेणी के पुरुष की ऐसी दशा कभी नहीं होती। इसे अच्छे अच्छे गुण, सब प्रकार के सुख और सत्सङ्ग मिल जाते हैं। सुनो, परिमित व्यय, आनन्द, स्वस्थता, सत्सङ्ग और इच्छानुसार सुख मध्यम दशाही में मिलते हैं। मध्यमदशा वाला सहज में काल बिता कर स्वतन्त्र हो इस भवसागर से पार हो जाता है। इसको दरिद्री वा धनवान की भांति शरीर व चित्त के क्लेशादिकों का दुःख नहीं व्यापता, क्योंकि न तो इसे प्रतिदिन उचित आहार के न पाने की आशङ्का से दास

वा नीच की भांति कर्म करना पड़ता है, न नाना प्रकार कठिन मनोरथों के पूर्ण न होने से उदास रहना पड़ता है, और न महत् वस्तु की लोभाग्नि से जलना ही पड़ता है। इसीसे यह अपने चित्त में शांति और बिश्राम के पाता है, तथा इस सांसारिक बन में कडु.ए फलों को त्याग और मधुर फलों का ग्रहण कर इस जीवन रूपी वृक्ष की छाया में निवास पाता है, और स्थिर चित्त से अपने सुख का ध्यान करता हुआ प्रतिदिन अपनी वृद्धि करता है।

इतना कह कर मेरे पिता ने फिर स्नेहपूर्वक यह कहा कि तुम चञ्चलता मत करो। तुम्हारी अवस्था से मुझे तुम्हारा स्वाभाविक गुण जान पड़ता है कि भविष्यत् में तुमको किसी प्रकार का दुःख न होगा। इसलिये तुम जान बूझ कर आप से दुःख सागर में कूद कर मत डूबो। धीरज धरो और देखो, मैं तुम्हारे लिये वही करूंगा जिसमें तुम्हारा कल्याण होगा। जिस मध्यम अवस्था की मैंने तुमसे इतनी प्रशंसा की है, तुम उसी अवस्था के योग्य हो जाओगे। इस पर भी जो तुम सुख से अपना काल न काटो तो तुम्हारा अभाग्य है। सार यह है कि जिस बात से तुमको दुःख होगा उससे मैं तुमको सावधान किए देता हूं। अब मेरा कुछ दोष नहीं है। बस, बहुत कहने से कुछ लाभ नहीं। सुनो, जो तुम यहां रह कर मेरी इच्छा के अनुसार काम करोगे तो सब प्रकार से तुम्हारा कल्याण होगा और जो तुम मेरी बात न मान कर कहीं चले जाओगे तो तुम्हारी

बड़ी हानि होगी। इसीसे मैं तुमको विदेश जाने की सम्मति नहीं देता। पर यदि तुम चले ही जाओगे तो परमेश्वर से तुम्हारे कल्याण के निमित्त प्रार्थना करता रहूंगा। देखो, जैसे तुम विदेश जाने का हठ करते हो, इसी रीति से तुम्हारे बड़े भाई ने भी रणचातुरी सीखने के लिये बड़ा हठ किया था। मैंने उस को भी बहुत समझाया था, पर उसने मेरी बात न मानी और अन्त को उसी काम में वह मारा गया। तुम निश्चय जानो कि जो तुम मेरी बात न मान विदेश जाओगे तो ईश्वर कभी तुम्हारा भला न करेगा और जिस समय तुम्हारे ऊपर कोई आपत्ति आवेगी, उस समय कोई भी तुम्हारा सहायक न होगा। तब तुम्हें मेरी बातों का स्मरण होगा और तुम पछताओगे कि हाय, मैंने अपने पिता की बात क्यों न मानी।

पिता ने ये सब बातें भविष्यवक्ता के समान कहीं, और उन को यह निश्चय नहीं था कि मैं बातही बात में विदेश चला ही जाऊंगा। ऐसी बातें करते करते मेरे पिता की आंखों से आंसू बहने लगे, गद्‌गद वाणी होगई और बड़े स्नेह से उन्होंने कहा कि हाय, मैं अपने चित्त के दुःख का वर्णन नहीं कर सकता, पर यह कहता हूं कि जिस समय तुम पर कोई दुःख पड़ेगा और तुम्हें कोई सहायक न मिलेगा, उस समय तुम्हें बड़ा शोक होगा।

इन बातों को सुन कर मेरी भी छाती भर आई, क्योंकि स्नेह की ऐसी बातों से किसकी छाती नहीं भरती? तब मैंने

भी अपने मन में यही निश्चय किया कि अब जलयात्रा का विचार छोड़ अपने पिता की आज्ञा मान कर स्वदेश ही में रहना उचित है। किन्तु थोड़ेही काल में फिर मेरी दुर्बुद्धि लौटी और मैंने यह विचार किया कि अब पिता से कुछ न कहना और इनसे बिना कहे ही चले जाना ठीक है, जिसमें पिता मुझको रोक न सकें। ऐसा विचार कर मैं पिता के पास तो न गया, पर एक दिन मैंने अपनी माता को प्रसन्न देख कर कहा कि माता ! मुझको नाना प्रकार के देशों के देखने की बड़ी इच्छा है। इस देश में मैं कुछ काम नहीं कर सकता और जो मैं कुछ काम भी करूंगा तो मेरा चित्त भली भांति न लगेगा। जो मैं पिता से आज्ञा लेकर जाऊं तो मेरा कल्याण हो, पर वे मुझे न जाने क्यों नहीं आज्ञा देते ? मेरी अठारह वर्ष की अवस्था हुई। अब मैं व्यापार या वकालत का काम नहीं सीख सकता। यदि वे मुझको सिखावेंगे भी तो मैं उतने काल तक ठहर नहीं सकूंगा। इससे यही उचित है कि वे मुझको विदेश जाने की आज्ञा दें। जो मेरा मन विदेश में न लगेगा तो मैं यहां आकर अपना काम सीखूंगा और जो मेरा समय विदेश जाने में जायगा, उसकी कसर मैं यहां आकर निकाल दूंगा।

यह सुन माता ने क्रोध से कहा कि तुम्हारे पिता से इस बात के कहने की कुछ आवश्यकता नहीं है। क्योंकि वे तुम्हारी हानि के साथी नहीं, वरन् तुम्हारे लाभ के साथी हैं। वे जिसमें तुम्हारी भलाई होगी वही करेंगे, पर तुम्हारी हानि के विषय में कभी आज्ञा न देंगे। अभी इस बात को बहुत

दिन नहीं हुए कि उन्होंने विदेश जाने के विषय में तुमसे क्या क्या बातें कही थीं। क्या तुम उन बातों को अभी भूल गए जो फिर विदेश जाने की इच्छा करते हो? जो तुम आपही अपने को नाश करने की इच्छा करते हो तो इसका उपाय कुछ नहीं है। मैं तुम्हारे बाप से तुम्हारी बात कहती, पर जिस बात में मैं सर्वदा तुम्हारी हानि ही देखती हूं, वह उनसे क्योंकर कहूं। तुम निश्चय जानो कि जिस बात में पिता की सम्मति नहीं है, उसमें माता की सम्मति किस प्रकार हो सकती है? इससे मैं इस बात पर कभी सम्मत न होऊंगी।

यद्यपि उस समय मेरी माता ने पिता से इस बात का कहना स्वीकार न किया, तौभी पीछे से मैंने सुना कि उसने मेरी सब बातें पिता से कहीं, और उन्होंने बहुत उदास और निरास हो सांस भर कर यह उत्तर दिया कि सुनो, जो तुम्हारा लड़का घर में रहेगा तो आनन्द से वह अपना समय काटेगा, और जो विदेश चला जायगा तो अत्यन्त दुखी होगा। इससे मैं तो उसे विदेश जाने की आज्ञा कभी नहीं दूंगा।

इसके पीछे जिस काम के सीखने के लिये पिता मुझसे कहते थे और मेरी विदेश जाने की इच्छा जान कर भी मुझको आज्ञा नहीं देते थे, इसी से मुझसे और उनसे प्रायः झगड़ा होता था। इसी भांति एक वर्ष बीत गया। फिर तो मैं जिस जिस रीति से विदेश चला गया वह कहता हूं।

एक दिन मैं किसी काम के लिये हल नगर में गया था। पर मेरी इच्छा नहीं थी कि मैं वहां से कहीं चला जाऊं। अकस्मात् एक मित्र से मेरी भेंट हुई। यह अपने बाप के जहाज़ पर लण्डन नगर जाने को तैयार था। उसने मल्लाहों की भांति मुझे फुसला कर कहा कि जो तुम हमारे साथ चलो तो तुम्हें कुछ व्यय न करना पड़ेगा और आनन्द से हमारे साथ लण्डन नगर देख आओगे। मेरा मन तो उद्यत होही रहा था; इसलिये उस समय न तो मैंने अपने माता पिता के स्नेह वा सम्मति का विचार किया, न उनको कुछ समाचार भेजा, और न इस बात को सोचा कि जहाज़ पर जाने से मेरी क्या दशा होगी। बस, चट मैं जहाज़ पर जा बैठा और माता पिता की आज्ञा न मानने के कारण जो कुछ आपत्तियां मुझे झेलनी पड़ीं वे अकथनीय हैं।

नीति शिक्षा*

आज्ञापालन

युवा पुरुषों का सबसे पहिला धर्म और कर्म यह है कि वे बड़े लोगों की आज्ञा मानें, अर्थात् जिस काम के करने से वे रोकें उसे न करें और जिसके करने की वे आज्ञा दें उसे मन लागा कर पूरा करें। आज कल स्वतन्त्रता की चर्चा बहुत कुछ सुनाई देती है और निस्सन्देह यह बहुत अच्छी वस्तु है और इसी कारण

---

* ब्लयाकी कृत सेल्फ़ कलचर के आशय पर बाबू श्यामसुन्दर दास, बी॰ ए॰, लिखित।

इसे सब लोग चाहते श्रोर इसका श्रादर करते हैं । परन्तु यह बहुत श्रावश्यक है कि हमलोग यह भली भांति से समझ जावें कि स्वतन्त्रता किसे कहते हैं । स्वतन्त्रता का यह श्रर्थ नहीं है कि बिना बड़ों की बातों पर ध्यान दिए जो मन में श्राया सो कर बैठे । इसका श्रर्थ केवल यही है कि प्रत्येक मनुष्य स्वाभाविक कामों के करने में समाज के घृणित वा हानिकारक बन्धनों से बचा रहे । क्योंकि समाज को लाभ पहुँचाने वाली स्वतन्त्रता निस्सन्देह बहुत श्रच्छी वस्तु है, श्रोर इस से मनुष्य को भी श्रधिक लाभ होता है । यह मनुष्य को काम करने का स्थान दे देती है, श्रोर यह भी कहती है कि क्या काम करना होगा वा कैसे करना होगा । बस, इसके साथ संसार में जितने काम हैं वे सब स्वतन्त्रता के सहित बँधे हुए हैं । नियम के श्रनुसार काम करने से स्वतन्त्रता दूर भागती है श्रोर बन्धन श्रा जकड़ते हैं । यह करना ठीक नहीं क्योंकि नियमों के श्रनुसार कामों का करना ही उनकी स्वतन्त्रतापूर्वक उचित रीति से करना कहा जाता है । ये नियम जिन्हें मानना सबका धर्म है, ऐसे नहीं होते जिन्हें प्रत्येक मनुष्य श्रपनी इच्छा के श्रनुसार मान ले; वरन् ये नियम ऐसे होते हैं जिन्हें दूसरे लोगों ने समाज के हित श्रर्थात् सब लोगों के सुख भलाई श्रोर उपकार के लिये मान लिये हैं । इसलिये यह श्रावश्यक है कि जो मनुष्य किसी समाज की भलाई चाहता है श्रोर जिसको यह इच्छा है कि समाज बना रहे, उसका सबसे पहिला धर्म यह है कि वह बड़ों की श्राज्ञा का मानना

सीखे। जगत् में जितने प्रकार के कार्य हैं सबमें इस धर्म के अनेक उदाहरण मिलेंगे, यहां तक कि कोई मनुष्य चाहे किसी प्रकार से अपना निर्वाह करता और समय काटता हो, उसे भी इस धर्म का अवश्य पालन करना पड़ता है। मनुष्य को अपने विषय में भी केवल उतनी ही स्वतन्त्रता उचित है जिससे समाज को किसी प्रकार की हानि न पहुँचे। ऐसी स्वतन्त्रता को किसी से छीन लेना मानो उसे मनुष्यत्व से हीन बनाना है। कोई मनुष्य जैसा भोजन चाहे करे, जिस प्रकार से चाहे नहाए और जैसे चाहे सोए, परन्तु वह सब लोगों से अपनी इच्छा के अनुसार वर्ताव नहीं कर सकता; अर्थात् वह जिसे चाहे उसे मार नहीं सकता वा जिस किसी की वस्तु चाहे उसे छीन कर ले नहीं सकता है। ऐसी अवस्था में उसे समाज के नियमों को मानना ही पड़ेगा, क्योंकि बिना ऐसा किए समाज बनाही नहीं रह सकता। इसलिये प्रत्येक मनुष्य का धर्म है कि स्वतन्त्रता की सीमा का उल्लंघन न कर उन नियमों और बन्धनों को माने जिनका मानना समाज के सब लोगों के लिये आवश्यक है। जो मनुष्य समाज में सबसे बड़ा माना जाता है और जिसका आदर सब लोग सबसे अधिक करते हैं, उसे समाज के नियमों को भी सबसे अधिक मानना पड़ता है। मनुष्य के शरीर में सिर सबसे श्रेष्ठ वस्तु है, उसको भी शरीर के उन साधारण नियमों को मानना पड़ता है जिन्हें शरीर के दूसरे अङ्ग मानते हैं। जैसे अधिक परिश्रम करने पर नींद का आना मनुष्य के शरीर का साधारण नियम है, और इसे सिर को

भी उतनाही मानना पड़ता है जितना पैर मानता है । नियम के विरुद्ध मनमाना काम कर बैठना एक द्वार की दरार के समान है, जिसको यदि ज्यों की त्यों छोड़ दिया जाय तो काल पाकर वह एक बड़ा सा बिल हो जायगी। ऐसे ही समाज के नियमों के विरुद्ध किसी कार्य को करने देना या करते रहना मानो समाज को नष्ट करना है । बड़े बड़े वीर पुरुषों और सेना के नायकों में इस बातही की बड़ी प्रशंसा की जाती है कि वे आज्ञा का देना और मानना इन दोनों बातों को जानते हैं । इसमें सन्देह नहीं कि आज्ञा मानने और आज्ञा देने में बड़ा भेद है जो किएक दूसरे से विरुद्ध है; पर सच बात तो यह है कि एक के साधने से दूसरा आप आजाता है, क्योंकि वह मनुष्य, जिसे जन्म भर केवल आज्ञाही देने की बान पड़ गई है, और जिसने आज्ञा-पालन करना सीखाही नहीं है, वह यह नहीं जान सकता कि आज्ञा की सीमा कहां तक है । युवा पुरुषों को इस आज्ञा-पालन के गुणों को बड़े ध्यान से सीखना चाहिए, क्योंकि छोटीही अवस्था में इसकी अधिक शोभा रहती है । बालकों को सब कामों को केवल इसी-लिये करना चाहिए कि अपनेसे बड़े लोग उसके करने की आज्ञा देते हैं । स्वामी अपने सेवकों से और किसी बात से इतना प्रसन्न नहीं होता जितना इस बात से कि वे उसकी आज्ञा के अनुसार सब कामों को समय पर ठीक ठीक कर देते हैं, और इसमें कुछ आश्चर्य भी नहीं है, क्योंकि प्रत्येक मनुष्य के अपने कामों को ठीक समय पर सचाई के साथ करने से ही सारा समाज आनन्द और

सुख चैन में बना रहता है। आज्ञा-पालन न करने से जितनी हानियां होती हैं उनकी पूर्ति पण्डिताई वा चतुराई से नहीं हो सकती। घड़ी के ठीक चलने से समय का पता लगता है, यदि वह ठीक न चले तो कोई भी ठीक समय नहीं जान सकता। ऐसे ही जिस मनुष्य के लिये तुम काम करते हो, उसे यदि तुम ठीक समय पर पूरा न करदोगे तो तुम उसे ठीक न चलने वाली घड़ी के समान धोखा देते हो। किसी मनुष्य के लिये इससे बढ़कर दूसरी प्रशंसा नहीं हो सकती कि लोग उसे कहें कि यह मनुष्य सदा उस काम को नियम से करता है जिसके करने का भार वह अपने ऊपर लेता है और जो सदा उसी समय पर पहुँचता है जब कि उसके आने की आशा की जाती है।

आलस्य

युवा पुरुषों के लिये इससे अच्छा कोई दूसरा उपदेश नहीं है कि "कभी आलस्य न करो"। यह एक ऐसा उपदेश है कि जिसके लिये इच्छा को दृढ़ करने की अधिक आवश्यकता होती है। लोगों को इस बात का ध्यान बालकपनही से रखना चाहिए कि समय व्यर्थ न जाय, और यह तभी हो सकता है जब कि सब काम नियम से और उचित समय पर किये जांय। जो युवा पुरुष नित्य किसी काम में कुछ समय लगाता है वह कभी चूक नहीं सकता। रहा इस बातका निर्णय करना कि किस कार्य में कितना समय लगाना चाहिए, यह उस कार्य पर और उसके करने वाले

पर निर्भर है। इसमें आवश्यक केवल इतना ही है कि चाहे कितनाही थोड़ा समय किसी कार्य में क्यों न दिया जाय पर वह बराबर वैसाही हुआ करै, उसमें किसी प्रकार की बाधा न पड़नी चाहिए। यदि मान लिया जाय कि प्रतिदिन एक काम के लिये एक घण्टे का समय लगाया जा सकता है। अब पहिले पहिल तो यह बहुत थोड़ा जान पड़ेगा, परन्तु वर्ष के अन्त में इसका फल अधिक देख पड़ेगा। जैसे एक छोटा सा बीज देखने में कितनी छोटी वस्तु है, पर उसे बो देने से और समय पर पानी देने से वह एक बड़ा सा पेड़ हो जाता है और उसमें फल फूल लग जाते हैं। एक उपाय को मन में स्थिर कर के उसी के अनुसार प्रतिदिन नियम के साथ काम करने ही से केवल वह काम पूरा हो सकता है। किसी काम के करने में एक साथही शीघ्रता करने लगना और फिर उसे छोड़ कर दूसरे काम में लग जाना ऐसाही व्यर्थ और निष्फल है जैसा आलस्य का करना है। एक आलसी मनुष्य उस घरवाले के समान है जो कि अपना घर चोरों के लिये खुला छोड़ देता है। और वह पुरुष बड़ाही भाग्यवान् है जो यों कहता है कि "मुझे व्यर्थ के कामों के लिये छुट्टी नहीं है, क्योंकि मैं, बिना किसी आवश्यक काम के समय को नष्ट नहीं कर सकता; प्रयोजन बिना मुझे कोरी बक बक अच्छी नहीं लगती; काम में लगे रहने से मुझे बड़ी प्रसन्नता होती है, और जब मैं अपना काम पूरा कर लेता हूं तो जानता हूं कि किस रीति से एक काम के अनन्तर विश्राम करके फिर दूसरे काम में लग जाना होता है"। ऐसेही मनुष्य

उन्नति कर सकते हैं। आलस्य के दूर करने का बहुत ही सरल उपाय यह है कि जिससे यह बात भली भांति से समझ ली जाय किं बिना हाथ पैर हिलाए संसार का कोई काम नहीं हो सकता। संसार के विषय में लोग जो चाहें सो कहें, परन्तु यह स्थान समय को व्यर्थ नष्ट करने का नहीं है। ऐसे स्थान में जहां पर कि सब लोग अपने अपने काम काज में लगे हुए हैं, वहां आलस्य करने से केवल नाशही होगा, लाभ कभी नहीं हो सकता। किसी विद्वान् का कथन है कि "जीवन थोड़ा है, गुण अनन्त हैं, अवसर हाथ से निकले जाते हैं, परख पूर्ण रीति से हो नहीं सकती और वस्तुओं के विषय में बुद्धि स्थिर नहीं है"। बस प्रत्येक मनुष्य को इन उपदेशों पर ध्यान रखना चाहिए क्योंकि ऐसा करने से वह सदा सचेत बना रहेगा और अपने अमूल्य समय को आलस्य से वृथा नष्ट न करेगा।

दृढ़ता

किसी काम में दृढ़ता के साथ लगे रहने से ही मनुष्य संसार में यथार्थ गौरव पा सकता और सब कामों को सफलता के साथ कर सकता है। परन्तु वह मनुष्य किसी योग्य नहीं है जो अपने कामों को मन लगा कर दृढ़ता के साथ न करता हो। प्रसिद्ध अँगरेज़ कवि वर्डस्वर्थ अपनी यात्रा के वर्णन में यों लिखता है कि "जब आकाश में मेघ दीखते और मुझे पहाड़ के ऊपर जाना होता तो मैं अपने विचार से कुछ इस कारण न पलटता कि पहाड़ के ऊपर

जाने पर यदि पानी बरसने लगेगा तो मुझे कष्ट होगा, वरन् यह सोच कर कि अपने विचार के अनुसार दृढ़ता के साथ कार्य न करने से मेरे चरित्र में धब्बा लगेगा, बस मैं आंधी पानी की कुछ भी आशंका न करता और पहाड़ पर चला जाता"। यह कैसी बुद्धिमानी का विचार है। हम ऐसे संसार में नहीं रहा चाहते जहां कि मनुष्य थोड़ी थोड़ी सी तुच्छ बातों से डर जांय, क्योंकि संसार में अगणित कठिनाइयां हैं जिनको दूर करके अपने काम के करने ही में बुद्धिमानी है। एक समय कोई मनुष्य एक ऊंचे पहाड़ पर चढ़ने लगा और जब वह उस स्थान के निकट पहुंचा कि जिसे वह उस पहाड़ की चोटी समझे हुए था या जहां तक जाने का उसका विचार था, तो उसे विदित हुआ कि मुख्य चोटी अभी दो मील ऊपर है और आगे मार्ग बड़ा ऊंचा नीचा और बीहड़ है। जिस पर थक जाने के कारण वह कठिनता से चल सकता था; पर यह कोई ऐसी बात न थी जिससे वह पहाड़ की चोटी तक न जा सके। सब से बड़ी कठिनाई यह थी कि पहाड़ की चोटी पर कोहरा गिर रहा था और सूर्य के अस्त होने में केवल एक घण्टा शेष था। यह देखकर वह शीघ्रता से नीचे उतर आया। पर देखो दूसरे दिन वह क्या करता है? सवेरा होते ही वह पहाड़ पर चढ़ने लगा और अन्त में उसकी मुख्य चोटी पर जा बैठा। ऐसे ही मनुष्य जिस काम को अपने हाथ में लेते हैं, उसे पूरा करके छोड़ते हैं। इसलिये कभी किसी कठिनाई को देख कर तुम साहस को न छोड़ो और विशेषकर जब कि तुमने अभी उस काम को प्रारम्भ

ही नहीं किया है। एक लोकोक्ति है कि आरम्भ में सभी काम कठिन होते हैं और फिर जो काम जितना अच्छा होगा उसका करना भी उतना ही कठिन होगा और अच्छे काम ही करने योग्य होते हैं। इस संसार में जहां पर कि परिश्रम प्रधान वस्तु है, दृढ़ और पक्का मन सब कामों को कर सकता है। और वह मनुष्य संसार में कभी नहीं सुखी हो सकता जो कि पासे को इसलिये पटक मारता है कि पहिली बार पासा डालते ही मैं क्यों नहीं जीत गया।

साहस

सब से पहिली बात जोकि युवा पुरुषों को अपने मन में लिख लेनी चाहिए, वह यह है कि साहस ही एक ऐसी वस्तु है कि जिससे मनुष्य की यथार्थ शोभा होती है; और यह गुण मन को स्थिर करने और इच्छा को दृढ़ रखने ही से प्राप्त हो सकता है। यदि तुम यह समझते हो कि इस विषय में तुम्हें अधिक सहायता पुस्तक, प्रमाण, विचार और विवाद से मिलेगी, तो यह तुम्हारी भूल है, क्योंकि पुस्तकें और व्याख्यान तुम्हें केवल उत्साहित और चैतन्य कर सकते और प्रारम्भ में तुम्हें साइनबोर्डों के समान उचित मार्ग बता सकते हैं, परन्तु वे तुम्हें उस मार्ग पर चला नहीं सकते। इसमें तुम्हारे पैर ही तुम्हारे सहायक हो सकते हैं; अर्थात् किसी स्थान पर पहुंचने के लिये साइनबोर्ड कुछ हानि नहीं कर सकते, वे तुम्हें केवल मार्ग बता देंगे; परन्तु जितना शीघ्र तुम

उनकी सहायता के बिना चलना सीख ले उतना ही अच्छा है, क्योंकि बहुत दूर न चलते ही तुम्हें मार्ग में दलदल, जङ्गल और कोहरा मिलैगा। ऐसी अवस्था में सोचो तो सही कि उस मनुष्य की क्या दशा होगी जो केवल साइनबोर्ड ही के सहारे से चलता है। ऐसे ही यात्री के समान वे युवा पुरुष हैं जो दूसरों के सहारे पर अपने सब काम किया चाहते हैं। इसलिये तुम्हें उचित है कि तुम अपने मन की दृढ़ता के सहारे से सब काम करो; नहीं तो भटके हुए पथिक के समान तुम्हें भी दूसरों का आसरा देखना पड़ेगा; और यदि तुम्हारा सहायक तुम्हारेही समान भूला वा भटका हुआ है, तो सोचो तो सही कि तुम्हारी क्या दशा होगी। इसलिये अपनी कमर कसो और इस बात को सिद्ध करके दिखा दो कि जिस भांति चलना चलने से, कूदना कूदने से और पटा खेलना पटा खेलने से आता है, वैसेही सज्जन की भांति रहना, जब जब अवसर पड़े तब तब सज्जनता के साथ काम करनेही से आता है। यदि पहिली बार अवसर पड़ने पर तुम चूक गए, दृढ़ता के साथ तत्पर न रहे, तो दूसरी बार के लिये तुम अधिक निर्बल हो जाओगे, और जो कहीं दूसरी बार भी तुम चूके तो समझो कि अब तुम्हारे किए कभी कुछ नहीं हो सकेगा और तुम दूसरे नीच लोगों के समान हो जाओगे। जैसे जो मनुष्य तैरना सीखता है, वह यदि सदा छिछले पानी में तैरेगा तो अवसर पड़ने पर, या गहरे पानी में ऊंची ऊंची लहरों के उठने पर उसका साहस छूट जायगा और वह अपने प्राण न बचा

सकेगा। ऐसे ही तुम अपने साहस को कभी कम न करो। केवल पाप और पुण्य के उपदेश ही तुम्हारे जीवन को पवित्र नहीं बना सकते किन्तु, हां, उन उपदेशों के अनुसार बर्ताव करने से तुम निस्सन्देह अच्छे हो सकते हो। जैसे यात्रा में एक के पीछे दूसरा मील का पत्थर पीछे छूटता जाता है, उसी भांति अपने जीवन में यदि तुम एक के पीछे दूसरी खोटी बातों को न छोड़ते जाओगे तो अन्त में अवसर निकल जाने पर पछताने और सिर पटकने के अतिरिक्त और कुछ तुम्हारे हाथ न आवेगा।

वंशनगर का व्यापारी*

वंशनगर में शैलाक्ष नामका एक विदेशी व्यापारी रहता था। वह उस नगर के व्यापारियों को काम पड़ने पर अधिक व्याज पर रुपए उधार देने के कारण बड़ा धनवान् हो गया था। परन्तु वह इतना निर्दयी था कि अपने ऋणियों को बड़े बड़े दुःख देता, उन्हें पिटवाता और जैसे होता उनसे अपनी कौड़ी कौड़ी भर लेता था। इसीसे उस नगर के दयावान् सुजन लोग उससे बहुतही अप्रसन्न रहते और सदा उसकी निन्दा किया करते थे। इसी नगर में अनन्त नामक एक दयावान् व्यापारी भी रहता था जो समय समय पर दीन हीन लोगों को उनके दुःख दूर करनें के

---

* लैम्ब्स् टेल्स् के आशय पर पण्डित किशोरीलाल गोस्वामि-लिखित।

लिये झट रुपए उधार दे देता और उनसे एक कौड़ी भी व्याज नहीं लेता था । अनन्त के से दयावान् सुजन को देख कर दुष्ट शैलाक्ष बराबर जला करता और अनन्त भी उस अर्थ-पिशाच से बड़ी ग्लानि रखता था । जब कभी हट्टे में उन दोनों की भेंट होती तो अनन्त शैलाक्ष को उसके निर्दय बर्ताव पर भली भांति कोरी कोरी फिटकार सुनाता, जिसे निर्लज्ज शैलाक्ष चुप चाप सहलेता, और वह मनही मन सोचता कि किसी भांति अनन्त मेरे जाल में फँसे तो इस से अपना भरपूर बदला लूं ।

उसी नगर में अनन्त का अभिन्न-हृदय मित्र बसन्त नामक एक धनी रहता था । उसने अपव्यय के कारण अपना सब धन नष्ट कर दिया था, पर जब कभी उसे कुछ रुपयों की आवश्यकता होती तो वह अनन्त के पास आता था । वह भी निष्कपट मन से बसन्त की बराबर तन मन और धन से सहायता किया करता, और उसे इस रीति से रुपए देता कि दूसरों को अनन्त और बसन्त के धन में कुछ भी भेद नहीं जान पड़ता था ।

एक दिन अनन्त ने अपने मित्र बसन्त को बहुत उदास देख कर उसकी उदासी का कारण पूछा । तब बसन्त ने कहा कि "प्रिय मित्र ! यहां से थोड़ी दूर पर विल्वमठ नामक स्थान में एक बड़ी सुन्दरी कन्या है, उसका पिता बहुत सा धन और भू-सम्पत्ति (ज़िमीदारी) को छोड़ मरा है । मैं चाहता हूं कि उस गुणवती सुन्दरी से विवाह कर फिर पहिले की भांति धनवान् हो जाऊं, किन्तु मेरे पास इस समय इतना धन नहीं है कि मैं रूप

में पार्वती, गुण में सरस्वती और धन में साक्षात् लक्ष्मी सी कन्या से विवाह करने के योग्य अपना रूप या बाहरी तड़क भड़क बना सकूं; इसलिये मैं चाहता हूं कि यदि तुम इस समय तीन सहस्र रुपए मुझे उधार दो तो बेखटके मेरा काम हो जाय। क्योंकि जब मैं उसके पिता के जीते वहां जाता था, तो वह कन्या ऐसी प्रेम भरी चितवन से मेरी ओर निहारती थी कि मुझे निश्चय होता है कि वह अवश्य मुझे अपना पति बनावैगी और फिर मैं बड़ा भारी धनाढ्य हो जाऊंगा"। अनन्त ने उत्तर दिया "मित्र! इस समय तो मेरे पास इतने रुपए नहीं हैं, परन्तु थोड़े ही दिनों में मेरे व्यापार-सम्बन्धी वस्तुओं के अर्णव-पोत आजायंगे। उतने दिनों के लिये किसीसे रुपए उधार मिल जायं तो अच्छी बात है। चलो, शैलाक्ष के पास चलैं; यदि वह लालची थोड़े दिनों के लिये मुझे इतने रुपए उधार दे दे तो तुम्हारा मनोरथ सिद्ध हो जायगा"।

यह सोच दोनों मित्रों ने शैलाक्ष के पास जाकर अपने आने का प्रयोजन कहा। यह सुन कुटिल शैलाक्ष मनही मन बड़ा प्रसन्न हुआ, क्योंकि वह चाहता था कि किसी भांति अनन्त मेरे चंगुल में फँसे तो मैं अपने जी की पुरानी कसक निकालूं। परन्तु प्रकट में वह रुखाई से कहने लगा "क्यों जी अनन्त! तुम आर्य होकर मुझ अनार्य से घृणा करते हो, मेरी जाति को तुच्छ और हीन समझते हो, तुम किसीसे सूद नहीं लेते, इसलिये मुझे बराबर लालची सूदख़ोर कहकर खोटी खरी कहा करते

हो, कई बार तुमने मेरे जातिवालों के सामने मुझे नीचा दिखाया, व्यापारियों में मेरा सिर नीचा कराया, मुझे व्याज खाने पर धिक्कारा और अनेक बार मुझे नास्तिक और कटहा-कुत्ता कह कर कुत्ते की भांति दुर्दुराया; पर मैंने धीरज के साथ तुम्हारे सब अपमान को सिर झुकाकर सह लिया। फिर भी तुम मेरी सहायता चाहते हो और मुझसे तीन सहस्र रुपए उधार लेने आए हो? क्यों महाशय! कहीं कुत्ते के पास भी रुपए रहते हैं कि वह उधार दे? या मैं एक दीन की भांति गिड़गिड़ा कर कहूं कि श्रीयुत माननीय महोदय! बुध के दिन आपने मुझे कुत्ता कह कर पुकारा और मेरे कपड़ों पर थूका था, उस कृपा के बदले में मैं तीन सहस्र रुपए से आपकी सहायता करता हूं"।

अनन्त ने उसकी बातें सुनकर कहा "सुनो शैलाक्ष! मैं फिर भी तुम्हारे खोटे चलन की सहस्र बार निन्दा करूंगा और तुम्हें धिक्कारूंगा। किन्तु अब यदि तुम्हें ऋण देना हो तो मुझे अपना शत्रु समझ कर दो, न कि मित्र जान कर। यदि ठीक मिती पर मैं तुम्हारा ऋण न चुका सकूंगा तो जो दण्ड तुम चाहोगे उसे प्रसन्नता से अपने ऊपर लूंगा"।

शैलाक्ष अपने मन का भाव छिपा कर बोला "अस्तु, जो कुछ तुमने मेरे साथ खोटे बर्त्ताव किए उन सभोंको भूल कर मैं तुम्हें बिना व्याज के तीन सहस्र रुपए दूंगा, जिसमें तुम मुझे अपना मित्र समझो, पर कौतुक के हेतु तुम्हें उस पत्र पर

हस्ताक्षर कर देना होगा जिसपर यह लिखा रहेगा कि अमुक मिती पर मैं सब रुपए न चुका दूं तो ऋणदाता मेरे शरीर में से जहां से चाहै आध सेर मांस काट ले"।

शैलाक्ष की दुष्टता-भरी बातों को सुनकर वसन्त ने ऐसे पत्र पर हस्ताक्षर करने से अनन्त को बहुत रोका और समझाया, पर उसने एक न माना और शैलाक्ष के लिखे हुए स्वीकार-पत्र पर हस्ताक्षर कर, रुपए ले, वसन्त के हाथ दिए। उसने सोच लिया था कि तब तक मेरे तीनों पोत आ जायँगे जिससे मिती पूजने के पहिले इसके सब रुपए चुकते कर दिए जायँगे।

वह धनाढ्य की लड़की जिसका नाम पुरश्री था, वंशनगर के पास विल्वमठ नामक स्थान में रहती थी। उससे विवाह करने के लिये वसन्त अपने मित्र गिरीश को साथ ले बड़े ठाठ बाट से उसके घर जाकर उसका पाहुना हुआ। थोड़े दिनों में दोनों की पटगई और पुरश्री ने वसन्त को अपना पति बनाना स्वीकार कर लिया।

मन मिलने पर एक दिन वसन्त ने अपनी भावी पत्नी पुरश्री से अपनी सारी दशा जतादी और यह भी कहा कि "प्यारी! अब मेरे पास केवल उच्च वंश और पदवी के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं रहा"। पुरश्री जो अपने भावी पति के गुणों पर रीझ कर लट्टू हो रही थी, बड़ी नम्रता और लज्जा से कहने लगी "हे प्यारे! यह आप क्या कहते हैं? यदि मैं जितना रूप और धन अब रखती हूं, इससे सहस्र गुणा अधिक रूप और

धन रखती, तौभी आपके से सज्जन और सब गुन-आगर नागर की पत्नी बनने के योग्य न होती। क्योंकि आपके अतुल और महान् गुणों के आगे मेरा यह तुच्छ रूप और धन किस गिनती में है ? प्राणनाथ ! मैं केवल एक भोली और अल्हड़ लड़की हूं, तौभी निरी बच्ची नहीं हूं कि आप की भली शिक्षाओं के ग्रहण करने और उनके द्वारा सुधरने के योग्य न होऊं। प्रियतम ! मैं आप की आज्ञाकारिणी दासी हूं, केवल मेरा धन और भूमि ही नहीं बरन् यह शरीर भी अब आपका हो चुका। कल तक इन सब ऐश्वर्य, अर्थात् बग्घी, घोड़े, दास, दासी भवन इत्यादि की स्वामिनी मैं थी ; पर आज इस विवाह-मुद्रिका के साथ अपने शरीर सहित इन सब वस्तुओं को आपको अर्पण किए देती हूं"। ऐसे नम्र और मधुर वचन कह कर उसने बड़े चाव से अपने हाथ की अँगूठी उतार कर वसन्त को पहनादी, और बसन्त ने भी उस प्रेमवती के शील स्वभाव की बहुत कुछ प्रशंसा कर उस की अँगूठी ग्रहण की और यह प्रतिज्ञा की कि जीते जी इसे अपनी अँगुली से कभी अलग न करूंगा।

जब उन दोनों में ऐसी स्नेह और प्रीति की बातें हो रही थीं, तब वसन्त के मित्र गिरीश ने कहा कि "मित्र ! लीजिए आपका तो विवाह ठहर गया, अब मुझे अनुमति हो तो मैं भी इसी समय अपना विवाह कर डालूं"। वसन्त ने प्रसन्न हो कर कहा "अच्छी बात है, यदि तुमने कोई दुलहिन ठहराई

हो तो निःसन्देह करलो"। गिरीश ने कहा "मेरे मन में मेरी स्वामिनी की सहेली नरश्री गड़गई है और बड़ी बड़ी नकदर्री करने पर इसने वचन भी दिया है कि यदि मेरी स्वामिनी का गठ-जोड़ा तुम्हारे मित्र के साथ होगा तो मैं भी तुम्हारी घरवाली बनूंगी"। यह बात सुन कर वसन्त और पुरश्री दोनों बड़े प्रसन्न हुए और पुरश्री ने मुसकुरा कर अपनी सहेली से पूछा कि "क्या यह बात सच है"? इस पर उसने लज्जा से अपनी आंखें नीची करके केवल इतना ही कहा कि "हाँ"। यह सुन पुरश्री और वसन्त दोनों ने अपनी पूरी प्रसन्नता प्रकट की जिससे गिरीश और नरश्री का सम्बन्ध भी उसी समय पक्का हो गया।

ये दोनों प्रेमी अपनी अपनी भावी पत्नियों के साथ आनन्द की बातें कर रहे थे कि इतने ही में एक दूत ने आकर अनन्त का पत्र वसन्त के हाथ में दिया। उस पत्र को पढ़ते ही वसन्त की बुरी दशा हो गई, उसके मुख का रंग फीका पड़ गया, उसके वदले में उदासी छागई और कान्ति बिगड़ गई। पुरश्री अपने प्रियतम की ऐसी शोचनीय दशा देखकर बहुत घबराई और बार बार पूछने लगी कि "इस पत्र में क्या लिखा है"? इस पर वसन्त ने अपना और अनन्त का सारा वृत्तान्त कह सुनाया और वह पत्र पुरश्री के हाथ में दिया। उसने भी पढ़ा और उसकी भी वही दशा हुई जो वसन्त की हुई थी। उस पत्र में केवल यही लिखा था—

"प्रिय मित्र वसन्त !

मेरा अर्णवपोत डूब गया और मैंने शैलाक्ष को जो स्वीकार पत्र लिख दिया था उसकी मिती पूज गई। अब मैं पत्र में लिखी हुई प्रतिज्ञा के पूरी करने पर कदापि जीता न बचूंगा, क्योंकि अब वह मेरे शरीर में से जहां से चाहे आध सेर मांस काट सकता है। अस्तु, इसकी मुझे कोई चिन्ता नहीं है, पर मरने के पहिले मैं एकबार तुम्हारा मुख देखा चाहता हूं। यदि मेरे लिये तुम्हारे विवाह के आनन्द में कोई विघ्न न पड़े तो आओ। मेरा पत्र अपनी प्रेयसी को न दिखलाना !

तुम्हारा अभिन्नहृदय मित्र

अनन्त"

पत्र को पढ़कर पुरश्री ने कहा "प्यारे, विवाह की सब रीति अभी समाप्त कर डालिए जिसमें मेरे सब धन पर आपका शास्त्रानुसार भी पूरा अधिकार हो जाय। फिर चाहे उस ऋण को बीस गुने रुपए देकर चुकाइए, किन्तु यह कभी न होगा कि आपके मित्र का एक बाल भी बाँका हो। वसन्त ने यह बात मान ली और झट पुरोहित के सामने पुरश्री का वसन्त के साथ और उसकी सखी नरश्री का गिरीश के साथ विवाह हो गया। फिर वे दोनों मित्र बड़ी घबराहट के साथ शीघ्र वंशनगर पहुँचे, जहाँ अनन्त ऋण के कारण बन्दीगृह में पड़ा हुआ था। वसन्त ने शैलाक्ष को बहुत समझाया और मूलधन से बीस गुने रुपए देने स्वीकार किए, पर स्वीकारपत्र की मिती बीत जाने से दुष्ट

शैलाक्ष ने उसकी एक न सुनी और बराबर वह यही हठ करता रहा कि अब मैं आध सेर मांस के अतिरिक्त और कुछ न लूंगा। वसन्त बड़ी घबराहट और उदासी के साथ उस दिन की बाट जोहने लगा जो वंशनगर के न्यायाध्यक्ष ने इस भयानक विवाद के निपटेरा करने के लिये नियत किया था।

वसन्त के जाने पर पुरश्री ने कुछ सोच समझ कर एक वकील से इस झगड़े के विषय में सम्मति लेकर उसके वस्त्र और वंशनगर के न्यायाधीश के नाम की चिट्ठी मँगाली और फिर वह उसके वस्त्र को पहिनकर वकील का रूप बन गई और उसने अपनी सहेली को भी पुरुष के कपड़े पहना कर उसे अपना लेखक (मुहर्रिर) बना लिया। फिर अपनी सहेली के साथ वह वंशनगर की न्यायशाला में ठीक उस समय पहुँची जब कि अनन्त का झगड़ा उपस्थित किए जाने पर था। न्यायाधीश ने वकील के पत्र को देख कर पुरश्री का बड़ा आदर किया और जिस वकील का अनुरोध पत्र लेकर वह आई थी उसे पढ़ कर पुरश्री को इस झगड़े में विवाद करने की आज्ञा दी।

विचार प्रारम्भ हुआ और निर्दयी शैलाक्ष छुरी लिए हुए वकील (पुरश्री) की ओर निहारने लगा सामने साहस और धीरता के साथ बँधा हुआ अनन्त खड़ा था और उसी के पास घबराहट और उदासी में डूबे हुए वसन्त और गिरीश खड़े थे, पर उन दोनों ने अपनी अपनी स्त्रियों को जिनमें एक वकील के वेश में और दूसरी लेखक के रूप में थी, न पहिचाना। पुरश्री ने

वादी प्रतिवादी (शैलाक्ष और अनन्त) का नाम धाम पूछ स्वीकारपत्र को देखा जिसपर हस्ताक्षर करना अनन्त ने स्वीकार किया। जब पुरश्री ध्यानपूर्वक स्वीकारपत्र देख रही थी, तब वसन्त ने उससे प्रार्थना की कि ऐसा उपाय हो जिसमें मेरे मित्र के प्राण बचें, मैं ऋण से बीस गुने रूपए देने को तत्पर हूं। इसपर पुरश्री ने कहा "मिती बीत गई, अब वंशनगर का न्यायाधीश शैलाक्ष को आध सेर मांस काट लेने से किसी प्रकार नहीं रोक सकता; किन्तु हां, यदि यह व्यक्ति दया करै तो अनन्त का बचना सम्भव है"। इतना कह कर पुरश्री ने फिर कहा "सुनो शैलाक्ष! दया धर्म सबसे बढ़ कर है। दया ऐसी वस्तु है कि जिसमें आग्रह की आवश्यकता नहीं। यह जलधारा की भाँति आकाश से पृथ्वी पर गिर कर दोनों को (जो दया करता है उसको और जिसपर दया की जाती है उसको) लाभ पहुंचाती है। यह महानुभावों की अधिकतर शोभा बढ़ाती और यही मण्डलेश्वरों के मुकुट से भी अधिक शोभायमान है। राज-दण्ड केवल साँसारिक बल प्रकट करता है जो कि आतङ्क और तेज का चिन्ह है, और जिससे लोगों के चित्त पर राजेश्वरों का भय छा जाता है; किन्तु दया का प्रभाव राज-दण्ड की अपेक्षा कहीं बढ़ कर है। यह ईश्वर का साक्षात् स्वरूप है, अतएव पृथ्वी पर राज-मुकुट की उतनी शोभा नहीं है जितनी दया की है। जिस मनुष्य में जितनी अधिक दया है, उसमें उतना ही अधिक ईश्वर का अंश समझना चाहिए। इसलिये हे शैलाक्ष! तू केवल

न्याय ही न्याय पुकार रहा है, पर निश्चय जान कि केवल न्याय ही के भरोसे पर हमलोगों में से कोई भी मरने के पीछे मुक्त होने की आशा नहीं कर सकता, जब तक उसने दूसरे पर दया न की हो। हमलोग ईश्वर से दया के लिये प्रार्थना करते हैं, पर स्मरण रक्खो कि हमपर कदापि उसकी दया न होगी जब तक हम लोग अपने भाइयों पर दया न करें। मैंने इतना तुम्हारे न्याय के आग्रह को हटाने के लिये कहा है, परन्तु यदि तुम न मानोगे तो वंशनगर की विचार-सभा तुम्हें आध सेर मांस काटने की आज्ञा अवश्य देगी"।

वकील की वक्तृता सुन कर सबका हृदय भर आया और सब उसकी प्रशंसा करने लगे; पर निष्ठुर, वज्रहृदय, दुष्ट शैलाक्ष का पत्थर सा हृदय तनिक भी न पसीजा, वह अपने हठ से न हटा और बराबर न्याय ही न्याय पुकारने लगा। वसन्त ने बीस गुने रुपए देने को कहा और लोगों ने भी उसे बहुत कुछ समझाया, पर उसने एक न सुना। तब पुरश्री ने कहा "अब तुम्हें व्यवस्था-पत्र के अनुसार आध सेर मांस काटने से न्यायसभा किसी प्रकार नहीं रोक सकती। कहां है तुम्हारी छुरी और तुला?" शैलाक्ष यह सुन मारे प्रसन्नता के उछल पड़ा, तथा छुरी और तुला ले वकील के सामने जाकर उसकी बड़ी प्रशंसा करने लगा कि वकील क्या हैं माने साक्षात् धर्मराज न्याय करने के लिये स्वर्ग से उतर कर आए हैं। पुरश्री ने शैलाक्ष से कहा "अच्छा एक चिकित्सक को भी बुला लो जो कि घाव को ढांक कर उसके

रुधिर का बहना बन्द कर देगा"। इसपर शैलाक्ष बोला "ऐसा मैं नहीं करने का, क्योंकि यह बात स्वीकारपत्र में नहीं लिखी है" पुरश्री बोली "तो फिर तुम आध सेर मांस काट सकते हो"। आज्ञा सुनते ही राक्षस शैलाक्ष प्रसन्नता के मारे मांस काटने को आगे बढ़ा और न्यायसभा में चारों ओर से हाहाकार मच उठा, सबके मुख पर गहरी उदासी छा गई और सब कोई आंखों में आंसू भर कर कहने लगे कि "हाय! क्षणभर बिचारे अनन्त का जीवन और शेष है!"।

शैलाक्ष ज्योंही अनन्त के हृदय में छुरी चुभाना चाहता था कि उसे रोक कर पुरश्री ने कहा "शैलाक्ष! तनिक ठहर जाओ और सुनो; इस स्वीकारपत्र में लोहू की एक बून्द भी देना नहीं लिखा है, केवल आध सेर मांस (बिना लोहू के) तुम निःसन्देह काट सकते हो, वह रत्ती भर भी अधिक वा न्यून न हो; परन्तु मांस काटने में यदि एक बूंद रुधिर भी इसके शरीर से निकला तो तुम्हारी सब सम्पत्ति छीन ली जायगी और तुम्हें शूली दे दी जायगी"। शैलाक्ष ऐसी विचित्र युक्ति सुन कर घबरा गया और छुरी रख कर बोल उठा कि "अच्छा, मेरे रुपए ही मुझे दिला दिए जाँय, मुझे मांस काटने से कोई प्रयोजन नहीं है"।

इस पर न्याय-सभा के न्यायाधीश और सब छोटे बड़े वकील की प्रशंसा करने और शैलाक्ष को धिक्कारने लगे। वसन्त ने देखा कि मेरे मित्र के प्राण बच गए और शैलाक्ष भी रुपए लेने पर सम्मत हो गया, तो चट उसने शैलाक्ष से, पुकार कर कहा कि "लो ये रुपए

पड़े हैं, गिन लो"। इसपर पुरश्री बोली "ठहरो, अब इसे कुछ भी नहीं मिल सकता; हां यदि यह चाहै तो रक्त की बूंद गिराए बिना केवल आध सेर मांस ले सकता है"। इसपर शैलाक्ष ने घबरा कर मांस काटना अस्वीकार कर केवल अपने रुपए चाहे। वसन्त ने फिर कहा कि "लो ये रुपए हैं"। पुरश्री फिर वसन्त को रोक कर शैलाक्ष से बोली "सुनो जी, तुमने जान बूझ कर एक भलेमानस का प्राण लेना चाहा था, अतएव तुम्हें प्राणदण्ड होना चाहिए। हां यदि विचारपति तुम्हारी प्रार्थना पर तुम्हारा प्राण छोड़ दे तो दूसरी बात है पर तुम्हारा समस्त धन ले लिया जायगा, जिसमें से आधा धन राज-भण्डार में मिला लिया जायगा और आधा अनन्त को दिया जायगा। इसपर अनन्त ने उदारता से कहा कि "मुझे जो कुछ मिला उसे मैं शैलाक्ष को इस प्रण पर लैाटा देता हूं कि यह एक ऐसा प्रतिज्ञापत्र लिख दे कि जिससे इसके मरने पर वह धन इसकी बेटी जसोदा और दामाद लवङ्ग को मिले"। इस बात को शैलाक्ष ने स्वीकार किया और उसकी प्रार्थना पर न्यायाधीश ने उसको प्राणदान देकर यह भी कहा कि "शैलाक्ष! यदि तू कुटिलता छोड़ और अपनी चाल चलन सुधार कर सभ्य मनुष्य बनै तो शेष आधा धन जो राज-भण्डार में मिला लिया गया है तुझे लैाटा दिया जायगा"। इस बात को भी शैलाक्ष ने स्वीकार किया और जसोदावाले स्वीकारपत्र पर हस्ताक्षर कर अनन्त से छुटकारा पाया। न्याय-सभा विसर्जित हुई और सब लोग वकील की प्रशंसा करते करते बिदा हुए।

न्यायाधीश ने बहुत चाहा कि वकील मेरा अतिथि बनै, पर उसने कई कामों की झञ्झट का मिस कर निमन्त्रण अस्वीकार किया। तब न्यायाधीश वसन्त और अनन्त से वकील के आदर सत्कार के लिये बहुत कुछ अनुरोध कर विदा हुआ।

वसन्त ने बहुत आग्रह किया कि वकील (पुरश्री) मेरा अतिथि बनै, पर उसने किसी प्रकार ठहरना स्वीकार न किया। तब वसन्त ने बड़ी नम्रता से कहा "वकील महाशय, आपही की वचन-चातुरी से आज मेरे मित्र के प्राण बचे, इसके बदले में, आजन्म हम लोग आप का गुण गाया करेंगे। यह तीन सहस्र मुद्रा जो शैलाक्ष को नहीं दी गईं आप ग्रहण करें तो बड़ी कृपा हो। यद्यपि आपकी योग्यता के आगे यह तुच्छ है, तो भी हम लोगों पर अनुग्रह करके आप इसे ग्रहण कीजिए। इसी भांति वसन्त और अनन्त ने बहुत कुछ कहा, पर पुरश्री ने कुछ भी लेना स्वीकार न किया। किन्तु जब वसन्त ने बहुत ही आग्रह किया तो वह बोली "अच्छा आप अपने हाथ के अंगुलित्राण (दस्ताने) मुझे दे दें, इन्हें मैं पहिना करुंगा"। यह सुनतेही बड़ी प्रसन्नता से वसन्त ने ज्यों ही अंगुलित्राण उतारे त्योंही पुरश्री ने फिर कहा "और यह अंगूठी भी दीजिए, बस येही दोनों आपके स्नेह-चिन्ह मैं सर्वदा अपने काम में लाया करूंगा।

अंगूठी का नाम सुनते ही वसन्त का मुख सूख गया। वह बड़ी अधीनता से कहने लगा "महाशय, क्षमा कीजिए; यद्यपि यह अंगूठी आपके परिश्रम के आगे तुच्छ है, पर इसे मैं नहीं दे

सकता; हां वंशनगर में सबसे अधिक मूल्य की जो अंगूठी मिलैगी वह आपको अवश्य ले दूंगा" इसपर पुरश्री भौंहें तान कर बोली "बस महाशय! रहने दीजिए, जब मैं कुछ भी नहीं लेता था तब तो आपने बहुत आग्रह करके मुझे भीख मांगने पर बिवस किया परन्तु अब देने के समय बातें बनाते हैं! क्या भले मानसों के ऐसेही बर्त्ताव होते हैं? अस्तु रखिए, मुझे कुछ न चाहिए"। यह कह कर रुष्ट हो पुरश्री नरश्री के साथ चल खड़ी हुई। उसके थोड़ी दूर जाने पर अनन्त ने बहुत कुछ समझा बुझा कर वसन्त से कहा कि "मित्र! ऐसे उपकारी वकील को रुष्ट न करना चाहिए, इस समय अपनी स्त्री से अंगूठी के विषय में तुमने जो प्रतिज्ञा की है उसे भूलकर इसे वकील को दे डालो"। मित्र की बात सुनकर वसन्त ने तुरन्त अंगूठी उतार कर गिरीश के हाथ वकील के पास भेजी, जिसे उसने सहर्ष ले लिया और नरश्री ने गिरीश को बातों में फुसला कर उसकी भी अंगूठी अपने परिश्रम के पलटे में ले ली। जब दोनों अंगूठियाँ दोनों सुन्दरियों के हाथ लग गई तो वह आपस में यह कहती हुई शीघ्र अपने स्थान विल्वमठ में पहुंचीं कि "अब हमलोग अपने अपने पति के साथ भली भांति कौतुक करेंगी कि तुमलोग अवश्य किसी स्त्री को अंगूठी दे आए हो और यहां झूठी बातें बनाते हो" इसके पीछे वसन्त भी अनन्त और गिरीश को लिए हुए विल्वमठ में पहुंचा। कुशल प्रश्न के अनन्तर पुरश्री और नरश्री अपने अपने पति से झगड़ने लगीं कि "तुम मुझे रत्ती भर भी

नहीं चाहते; तभी तो प्रतिज्ञा करके भी प्रेम के चिन्हवाली अंगूठी किसी स्त्री को दे आए हो"। वसन्त और गिरीश शपथ खाते और कहते कि "स्त्री को नहीं दी वरन् वकील और उसके लेखक को"। किन्तु वे दोनों एक न सुनतीं और बराबर यही कहतीं कि "नहीं नहीं, हमलोग भी शपथ खाकर कहती हैं कि तुमने वकील वा लेखक को अंगूठी न देकर स्त्री ही को दी है"। इस झगड़े को सुनकर अनन्त बोला कि "हाय, मैं ही अभागा इस झगड़े का कारण हूं"। इसपर पुरश्री ने हँस कर उससे कहा कि "महाशय! आप न उदास हूजिए" और फिर उसने और उसकी सखी नरश्री ने अपने अपने पति को उनकी अंगूठी देकर सारा भेद खोल दिया, जिसे सुन सब चकित, हर्षित, और मुग्ध हो पुरश्री की अगाध बुद्धि-चातुरी की प्रशंसा करने लगे। फिर पुरश्री ने अनन्त को वह चिट्ठी दी जिसमें लिखा था कि पोत अपने ठिकाने पहुंच गए, डूबे नहीं; उनके डूबने का वृत्तान्त मिथ्या था और फिर जसोदा को जो कि अनन्त की प्रेयसी थी और अपने बाप शैलाक्ष के यहां से भाग कर पुरश्री के पास आरही थी, उसके बाप का लिखा हुआ प्रतिज्ञापत्र दिया जिसमें शैलाक्ष के मरने पर उसकी सारी सम्पत्ति जसोदा को प्राप्त होनी लिखी थी। यह देख दोनों (अनन्त और जसोदा) अपने अपने अचिन्त्य-पूर्व मनोरथ को प्राप्त होकर बड़े प्रसन्न हुए और बार बार पुरश्री के असीम गुणों की प्रशंसा करने लगे।

योंहीं जब कभी आमोद के समय वे लोग इकट्ठे होते तो पुरष को स्त्री के न पहिचानने और अंगूठी के विचित्र कौतुक पर

बहुत ही हँसते थे। इसी प्रकार आनन्द के साथ उन तीनों युगल मूर्त्तियों के काल व्यतीत हुए।

कर्तव्य और सत्यता *

कर्तव्य वह वस्तु है जिसे करना हमलोगों का परम धर्म है और जिसके न करने से हमलोग और लोगों की दृष्टि से गिर जाते और अपने कुचरित्र से नीच बन जाते हैं। प्रारम्भिक अवस्था में कर्त्तव्य का करना बिना बलात्कार के नहीं हो सकता, क्योंकि प्रथम प्रथम मन आपही उसे करना नहीं चाहता। इसका आरम्भ प्रथम घर से ही होता है, क्योंकि यहां पहिले लड़कों का कर्तव्य माता पिता की ओर और माता पिता का कर्त्तव्य लड़कों की ओर देख पड़ता है। इसके अतिरिक्त पति-पत्नी, स्वामी-सेवक, और स्त्री-पुरुष, के भी परस्पर अनेक कर्तव्य हैं। घर के बाहर हम मित्रों, पड़ोसियों और राजा-प्रजाओं के परस्पर कर्तव्य को देखते हैं। इसलिये संसार में मनुष्य का जीवन कर्तव्यों से भरापड़ा है, जिधर देखो उधर कर्तव्य ही कर्तव्य देख पड़ते हैं। बस, इसी कर्तव्य का पूरा पूरा पालन करना हमलोगों का परम धर्म है; और इसीसे हमलोगों के चरित्र की शोभा बढ़ती है। कर्तव्य का करना न्याय पर निर्भर है और वह न्याय ऐसा है जिसे समझने पर हम लोग प्रेम के साथ कर सकते हैं।

---

* स्माइल्स क्यारक्टर के आशय पर बाबू श्यामसुन्दर दास, बी० ए०, लिखित।

हम सब लोगों के मन में एक ऐसी शक्ति है जो हम सभों को बुरे कामों के करने से रोकती और अच्छे कामों की ओर हम सभों की प्रवृत्ति को झुकाती है। यह बहुधा देखा गया है कि जब कोई मनुष्य खोटा काम करता है तो वह बिना किसी के कहे आपही लजाता और अपने मन में दुखी होता है। लड़को, तुमने देखा होगा कि जब कभी कोई लड़का किसी मिठाई को चुरा कर खा लेता है तो वह मन में डरा करता और पीछे से आपही आप पछताता है कि मैंने ऐसा काम क्यों किया, मुझे, अपनी माता से कह कर खाना था। इसी प्रकार एक दूसरा लड़का जो कभी कुछ चुरा कर नहीं खाता, सदा प्रसन्न रहता है और उसके मन में कभी किसी प्रकार का डर और पछतावा नहीं होता। इसका क्या कारण है? यही कि हम लोगों का यह कर्तव्य है कि हम लोग चोरी न करें। परन्तु जब हम चोरी कर बैठते हैं तो हमारी आत्मा हमें कोसने लगती है। इसलिये हमारा यह धर्म है कि हमारी आत्मा जो हमें कहे, उसके अनुसार हम करें। दृढ़ विश्वास रक्खो कि जब तुम्हारा मन किसी काम के करने से हिचकिचाए और दूर भागे तो कभी तुम उस काम को न करो। तुम्हें अपना धर्म पालन करने में बहुधा कष्ट उठाना पड़ेगा, पर इस से तुम अपना साहस न छोड़ो। क्या हुआ जो तुम्हारे पड़ोसी ठग विद्या और असत्यपरता (बेईमानी) से धनाढ्य हो गए और तुम कङ्गाल ही रह गए; क्या हुआ जो दूसरे लोगों ने झूठी चाटुकारी (ख़ुशामद) करके बड़ी बड़ी नौकरियां पा लीं और

तुम्हें कुछ न मिला और क्या हुआ जो दूसरे नीच कर्म करके सुख भोगते हैं और तुम सदा कष्ट में रहते हो। तुम अपने कर्तव्य धर्म को कभी न छोड़ो और देखो इससे बढ़ कर सन्तोष और आदर क्या हो सकता है कि तुम अपने धर्म का पालन कर सकते हो।

हमलोगों का जीवन सदा अनेक कार्यों में व्यग्र रहता है। हमलोगों को सदा काम करते ही बीतता है। इसलिये हमलोगों को इस बात पर पूरा ध्यान रखना चाहिए कि हम लोग सदा अपने धर्म के अनुसार काम करें और कभी उसके पथ पर से न हटें; चाहे उसके करने में हमारे प्राण भी चले जायँ तो कोई चिन्ता नहीं।

धर्म-पालन करने के मार्ग में सबसे अधिक बाधा चित्त की चञ्चलता, उद्देश्य की अस्थिरता और मन की निर्बलता से पड़ती है। मनुष्य के कर्तव्य मार्ग में एक ओर तो आत्मा के भले और बुरे कामों का ज्ञान, और दूसरी ओर आलस्य और स्वार्थपरता रहती है। बस, मनुष्य इन्हीं दोनों के बीच में पड़ा रहता है और अन्त में यदि उसका मन पक्का हुआ तो वह आत्मा की आज्ञा मान कर अपने धर्म का पालन करता है और यदि उसका मन कुछ काल तक द्विविधा में पड़ा रहा तो स्वार्थपरता निश्चय उसे आ घेरेगी और उसका चरित्र घृणा के योग्य हो जायगा। इसलये यह बहुत आवश्यक है कि आत्मा जिस बात के करने की प्रवृत्ति दे उसे बिना अपना स्वार्थ सोचे झटपट कर डालना

चाहिए। ऐसा करते करते जब धर्म करने की बान पड़ जायगी तो फिर किसी बात का ही भय न रहेगा। देखो, इस संसार में जितने बड़े बड़े लोग हो गए हैं, जिन्हों ने कि संसार का उपकार किया है और उसके लिए आदर और सत्कार पाया है, उन सभों ने अपने कर्तव्य को सबसे श्रेष्ठ माना है। क्योंकि जितने कर्म उन्होंने किए उन सभों में अपने कर्तव्य पर ध्यान देकर न्याय का बर्ताव किया। जिन जातियों में यह गुण पाया जाता है वेही संसार में उन्नति करती हैं और संसार में उनका नाम आदर के साथ लिया जाता है। एक समय किसी अंग्रेज़ी जहाज़ में जब कि वह बीच समुद्र में था एक छेद हो गया। उसपर बहुत सी स्त्रियां और पुरुष थे। उसके बचाव का पूरा पूरा उद्योग किया गया, पर जब कोई उपाय सफल न हुआ तो जितनी स्त्रियां इसपर थीं सब नावों पर चढ़ा कर बिदा कर दी गईं, और जितने मनुष्य उस पोत पर बच गए थे, उन्हों ने उसकी छत्त पर इकट्ठे होकर ईश्वर को धन्यवाद दिया कि वे अब तक अपना कर्तव्य पालन कर सके और स्त्रियों को प्राण-रक्षा में सहायक हो सके। निदान इसी प्रकार ईश्वर की प्रार्थना करते करते उस पोत में पानी भर आया और वह डूब गया, पर वे लोग अपने स्थान पर ज्यों के त्यों खड़े रहे और उन्होंने अपने प्राण बचाने का कोई उद्योग न किया। इसका कारण यह था कि यदि वे अपने प्राण बचाने का उद्योग करते तो स्त्रियां और बच्चे न बच सकते। इसलिये उस पोत के लोगों ने अपना धर्म यही समझा

कि अपने प्राण देकर स्त्रियों और बच्चों के प्राण बचाने चाहिएं। इसी के विरुद्ध फ़्रांस देश के रहने वालों ने एक डूबते हुए जहाज़ पर से अपने प्राण तो बचाए, किन्तु उस पोत पर जितनी स्त्रियां और बच्चे थे उन सभों को उसी पर छोड़ दिया। इस नीच कर्म की सारे संसार में निन्दा हुई। इसी प्रकार जो लोग स्वार्थी होकर अपने कर्तव्य पर ध्यान नहीं देते, वे संसार में लज्जित होते हैं और सब लोग उनसे घृणा करते हैं।

कर्तव्य-पालन से और सत्यता से बड़ा घना सम्बन्ध है और जो मनुष्य अपना कर्तव्य-पालन करता है वह अपने कामों और वचनों से सत्यता का बर्ताव भी रखता है। यह ठीक समय पर उचित रीति से अच्छे कामों को करता है। सत्यता ही एक ऐसी वस्तु है जिससे इस संसार में मनुष्य अपने कार्यों में सफलता पा सकता है, क्योंकि संसार में कोई काम झूठ बोलने से नहीं चल सकता। यदि किसी घर के सब लोग झूठ बोलने लगें तो उस घर में कोई काम न हो सकेगा और सब लोग बड़ा दुःख भोगेंगे। इसलिये हमलोगों को अपने कार्यों में झूठ का कभी भी बर्ताव नहीं करना चाहिए। अतएव सत्यता को सबसे ऊंचा स्थान देना उचित है। संसार में जितने पाप हैं झूठ उन सभों से बुरा है। झूठ की उत्पत्ति पाप, कुटिलता और कादरता के कारण होती है। बहुत से लोग सचाई का इतना थोड़ा ध्यान रखते हैं कि अपने सेवकों को स्वयं झूठ बोलना सिखाते हैं। पर उनको इस बात पर

आश्चर्य करना और क्रुद्ध होना न चाहिए जब कि नौकर भी उनसे अपने लिये झूठ बोलें।

बहुत से लोग झूठ की रक्षा नीति और आवश्यकता के बहाने करते हैं। वे कहते हैं कि इस समय इस बात को प्रकाशित न करना और दूसरी बात को बना कर कहना नीति के अनुसार समयानुकूल और परम आवश्यक है। फिर बहुत से लोग किसी बात को सत्य सत्य तो कहते हैं, पर उसे इस प्रकार से घुमा फिरा कर कहते हैं कि जिससे सुननेवाला यही समझे कि यह बात सत्य नहीं है, वरन् इसका उलटा सत्य होगा। इस प्रकार से बातों का कहना झूठ बोलने के पाप से किसी प्रकार भी कम नहीं।

संसार में बहुत से ऐसे भी नीच और कुत्सित लोग होते हैं जो झूठ बोलने में अपनी चतुराई समझते हैं और सत्य को छिपा कर धोखा देने वा झूठ बोल कर अपने को बचा लेने में ही अपना परम गौरव मानते हैं। ऐसे लोगही समाज को नष्ट करके दुःख और सन्ताप के फैलाने में मुख्य कारण होते हैं। इस प्रकार का झूठ बोलना स्पष्ट स्पष्ट झूठ बोलने से अधिक निन्दित और कुत्सित कर्म है।

झूठ बोलना और भी कई रूपों में देख पड़ता है। जैसे चुप रहना, किसी बात को बढ़ा कर कहना, किसी बात को छिपाना, भेष बदलना, झूठ मूठ दूसरों के साथ हाँ में हाँ मिलाना, प्रतिज्ञा करके उसे पूरा न करना और सत्य को न बोलना इत्यादि। जब

कि ऐसा करना धर्म के विरुद्ध है, तो ये सब बातें झूठ बोलने से किसी प्रकार कम नहीं हैं। फिर ऐसे लोग भी होते हैं जो मुंह देखी बातें बनाया करते हैं, परन्तु करते वेही काम हैं जोकि उन्हें रुचते हैं। ऐसे लोग मन में समझते हैं कि कैसा सबको मूर्ख बनाकर हमने अपना काम कर लिया, पर वास्तव में वे अपने को ही मूर्ख बनाते हैं और अन्त में उनकी पोल खुल जाने पर समाज में सब लोग घृणा करते और उनसे बात करना अपना अपमान समझते हैं।

कुछ लोग ऐसे भी होते हैं जो अपने में किसी गुण के न रहने पर भी गुणवान बनना चाहते हैं। जैसे यदि कोई पुरुष कविता करना न जानता हो, पर वह अपना ढङ्ग ऐसा बनाए रहे जिससे लोग समझें कि यह कविता करना जानता है, तो यह कविता का आडम्बर रखने वाला मनुष्य झूठा है, और फिर यह अपने भेष का निर्वाह पूरी रीति से न कर सकने पर दुःख सहता है और अन्त में भेद खुल जाने पर सब लोगों की आंखों में झूठा और नीच गिना जाता है। परन्तु जो मनुष्य सत्य बोलता है वह आडम्बर से दूर भागता है और उसे दिखावा नहीं रुचता। उसे तो इसी में बड़ा सन्तोष और आनन्द होता है कि सत्यता के साथ वह अपना कर्तव्य पालन कर सकता है।

इसलिये हम सब लोगों का यह परम धर्म है कि सत्य बोलने को सब से श्रेष्ठ मानें और कभी झूठ न बोलें, चाहे उससे कितनी ही अधिक हानि क्यों न होती हो। सत्य

बोलने ही से समाज में हमारा सम्मान हो सकेगा और हम आनन्द पूर्वक अपना समय बिता सकेंगे। क्योंकि सच को सब कोई चाहते और झूठे से सभी घृणा करते हैं। यदि हम सदा सत्य बोलना अपना धर्म मानेंगे तो हमें अपने कर्तव्य के पालन करने में कुछ भी कष्ट न होगा और बिना किसी परिश्रम और कष्ट के हम अपने मन में सदा सन्तुष्ट और सुखी बने रहेंगे।

अहिल्याबाई *

महाराष्ट्र देश भारत के दक्षिण भाग में है। इसके उत्तर ओर नर्मदा नदी बहती है, पश्चिम में अरब की खाड़ी, दक्षिण में पुर्तकेलों के देश और पूर्व में तुङ्गभद्रा नदी है। इस देश के रहने वाले महाराष्ट्र या मरट्ठे कहलाते हैं। जिस समय औरंगज़ेब हिन्दू-राज्यों के नाश करने में लगा हुआ था, उस समय इसी महाराष्ट्र कुल के एक मात्र वीर-शिरोमणि महाराज शिवाजी ने इस भारत खण्ड में एक नवीन हिन्दू-राज्य स्थापित किया था। इनके साथही महाराष्ट्र देश में और भी अनेक वीर पुरुष हुए थे और वे भी शिवाजी की नांई अति सामान्य वंश में जन्म लेकर अपने अपने उद्योग से एक एक राज्य और राज्यवंश की प्रतिष्ठा कर गए हैं जिनमें अनेक वंशों में अब तक राज्य वर्तमान हैं। इन्हीं

---

* नागरीप्रचारिणी पत्रिका से संक्षेप करके महामहोपाध्याय पण्डित सुधाकर द्विवेदी लिखित।

सब वीर पुरुषों में मल्हारराव हुल्कर हुए हैं। महारानी अहिल्या बाई इन्हीं मल्हारराव की पुत्र-बधू थी। इसलिये पहिले यहां मल्हारराव का थोड़ा परिचय देना उचित है।

पूना से बीस कोस की दूरी पर नीरा नदी के तीर "होल" नामक एक छोटे से गांव में "धनगर" अर्थात् पशुपालक लोगों की बस्ती थी। उन्हींमें एक मनुष्य का नाम कुन्दजी था। मराठी भाषा में "कर" शब्द का अर्थ अधिवासी अर्थात् रहने वाला है। कुन्दजी के पूर्वज "होल" नामक ग्राम में रहते थे, इसलिये वे "होलकर" वा "हुलकर" कहलाए। कुछ लोगों का यह भी मत है कि "हलकर" अर्थात् "हलकर्षण" का अपभ्रंश "होलकर" है। जो कुछ हो, परन्तु मल्हारराव होलकर-वंशी थे। इनका जन्म ईसवी सन् की सत्रहवीं शताब्दी के अन्त में हुआ था। वे जब चार वर्ष के थे तब उनके पिता कुन्दजी का देहान्त हो गया था। उनके मरतेही उनकी स्त्री की अपने सम्बन्धियों से कुछ ऐसी अनबन हुई कि अन्त में वह अकेली अपने पुत्र को ले उस ग्राम से निकल कर अपने भाई नारायण जी के निकट चली गई। उस समय नारायणजी खानदेश के अन्तर्गत "टालान्दो" नामक ग्राम में रहते थे। वहां उनकी कुछ थोड़ी सी भूमि थी और आप किसी मरट्ठे दलपति* के यहां कुछ अश्वारोही सेना के अधिनायक थे। अपनी जाति के नियमानुसार उन्हों ने अपने बालक भांजे को पशुपालन कर्म में नियुक्त किया। ऐसी लोकोक्ति चली आती है

* दलपति = सरदार।

कि एक दिन बालक मल्हारराव एक वटवृक्ष के नीचे पड़ा सो रहा था और उसके पत्तों की सन्धि से सूर्य की किरणें उसके मुख पर पड़ रही थीं। मुख पर छाया न देख कर एक विषधर सर्प ने उसके मुख पर अपने फण से छाया की। जब मल्हारराव की नींद टूटी तो वह सर्प धीरे से वहां से सरक गया। धीरे धीरे यह बात नारायण जी के कानों तक पहुंची। तब तो उन्होंने बालक को होनहार जान कर उसे पशु चराने से निवृत्त किया और अपने साथ अश्वारोहियों में रख लिया। मामा के साथ रहने से ये युद्ध विद्या में बड़े निपुण हुए और कई एक युद्धों में इन्होंने बड़ी वीरता दिखलाई।

अति दीन और सामान्य अवस्था में जन्म पाने पर भी निज बाहुबल से मल्हारराव भारत के प्रधान वीर पुरुषों में अपना नाम गिना और राज्य का पूरा सुख भोग कर छिहत्तर वर्ष की अवस्था में इस लोक को छोड़ परलोक पधारे। मरने पर वे वार्षिक छिहत्तर लाख के आय की भूसम्पत्ति और छिहत्तर करोड़ रुपए छोड़ गए थे।

उनके एकही पुत्र खण्डेराव नाम का था जिसका विवाह अहिल्याबाई के साथ हुआ था। सन् १७३५ ईसवी में मालवा देश के अन्तर्गत किसी एक सामान्य ग्राम में अहिल्याबाई का जन्म हुआ था। उसके माता पिता सेंधिया वंश के थे।

वह कुछ अधिक सुन्दरी न थी। उसके शरीर का रङ्ग सांवला और डील डैाल मध्यम था, परन्तु उसके मुख पर एक ऐसी दिव्य

ज्योति विराज रही थी कि जो उसके हृदय के उत्तम गुणों को प्रकाशित करती थी। महाराष्ट्र स्त्रियों में उस समय पठन पाठन की रीति प्रचलित न थी, परन्तु अहिल्याबाई पढ़ी लिखी थी। थोड़ी ही अवस्था में उसका विवाह मल्हारराव के एकलौते पुत्र खण्डेराव के साथ हुआ था। जब से वह अपनी ससुराल में आई, तभी से बड़े प्रेम और श्रद्धा भक्ति के साथ वह सास ससुर की सेवा और घर गृहस्थी के सब कामों को बड़ी चतुराई और सुघराई के साथ मन लगा कर करती थी। मल्हारराव का स्वभाव उग्र और हठी था, परन्तु व्यय करने में उनका हाथ खुला हुआ था। उनके इस उग्र स्वभाव से अहिल्याबाई मनही मन में दुखी होती और कुढ़ती थी, परन्तु इसलिये कभी उसने उनपर से अपनी श्रद्धा भक्ति नहीं घटाई। मल्हारराव भी जिस दिन से पुत्र-वधू को अपने घर लाए उसी दिन से उसपर उनका बड़ाही वात्सल्य और स्नेह हो गया था। जब कभी किसी कारण से मल्हारराव क्रुद्ध, दुखी या चिन्तित भी रहते, कि जिस समय अच्छे अच्छे दलपतियों का भी साहस उनके सामने कुछ कहने का नहीं होता था, उस समय भी यदि अहिल्याबाई कुछ कहला भेजती थी तो बिना विचार और विलम्ब के वह उसे तुरन्त पूरा कर देते थे। यहां तक अहिल्याबाई पर उनका वात्सल्य था कि वह जितना जल पिलाती थी उतना ही वे पीते थे। अहिल्या की सास गौतमा बाई का स्वभाव भी उग्र और असहनशील तो था, परन्तु यह भी अपनी पुत्र-वधू के गुणों से बहुत ही वशीभूत हो

गई थी। अहिल्याबाई सारे दिन घर गृहस्थी के काम और सास ससुर की सेवा टहल ही में बिताती थी, और जब पहर रात बीत जाती तब शयन-गृह में जाती, और फिर थोड़ी रात रहते ही शय्या से उठ अपने कार्य्य में लगती थी। जन्म भर उसने योंही अपना दिन बिताया।

बचपन ही से अहिल्याबाई पाप से भय खाती और पुण्य में मन लगाती थी। उसने अम्बादास पौराणिक से मन्त्र ग्रहण किया था। वह गुरुजी की आज्ञानुसार निज इष्टदेव की श्रद्धा भक्ति करती और उसे छिपाए रखती थी। अपने यौवन काल में भी कभी उसने बिलास-सुख में व्यर्थ समय नहीं बिताया। यों तो जाति में वह शूद्रा थी, पर तौभी उसके चरित्र उत्तम ब्राह्मणकुल की स्त्रियों से किसी प्रकार भी घट कर न थे।

थोड़ी ही अवस्था में उसके दो सन्तति हुईं जिनमें एक पुत्र और एक कन्या। पुत्र का नाम मालीराव था और कन्या का मच्छाबाई। पुत्री का विवाह जसवन्तराव फौसिया से हुआ था।

सन् १७५४ ईसवी में अहिल्याबाई के स्वामी खण्डेराव का देहान्त हुआ। वृद्ध अवस्था में पुत्रशोक से मल्हारराव बड़े ही व्यथित हो गए। उस समय अहिल्याबाई की अवस्था केवल अठारह वर्ष की थी। स्वामी की मृत्यु के समाचार को सुनकर अहिल्याबाई ने पति के शोक से सती होना चाहा। इसपर राज-परिवार के लोगों ने उसे बहुत समझाया पर उसने अपना हठ न

छोड़ा। अब अन्त में उसके ससुर मल्हारराव बिकल हो कर बोले "बेटी! क्या तू मुझे इस अथाह संसार-समुद्र में डुबा कर चली जायगी? खण्डू जो तो मुझे इस बुढ़ौती में धोखा देकर छोड़ हो गए। अब केवल तेरा मुख देखकर मैं उसे बिसरा रहा हूं और तुझी को देखकर जीता हूं। किन्तु जो तू भी मुझे त्याग देगी तो मुझे भी अपना प्राण दे देना अच्छा है। बेटी, यह राज-पाट धन धान्य सब तेरा ही है यदि तू चाहेगी तो जो कुछ मेरे जीवन के दिन शेष रह गए हैं वे भी किसी प्रकार बीत जायँगे"। ऐसा कह कर बूढ़े मल्हारराव बिलख बिलख कर रोने और विलाप करने लगे। उनकी इस दीन अवस्था को देखकर लोगों का हृदय फटने लगा और अहिल्याबाई का भी हृदय ऐसा भर आया कि बिवस हो कर उसे अपना संकल्प त्यागना पड़ा।

खण्डेराव की मृत्यु के उपरान्त राजकाज की भीतरी अवस्था के देखने भालने तथा आय व्यय के लेखे का भार अहिल्याबाई ही के ऊपर पड़ा, क्योंकि मल्हारराव तो सदा बाहिरी युद्ध में लगे रहते थे। केवल धन उपार्जन करना ही उनके भाग्य में था, परन्तु उसका सञ्चय करना और उसकी सुव्यवस्था करना अहिल्याबाई की चतुरता और दक्षता पर निर्भर था। राज्य के सभी कर्मचारी अहिल्याबाई की आज्ञा के बिना एक तिनका नहीं हिला सकते थे। मल्हारराव तो अपने कटक के साथ प्रायः "वाफगाओं" नामक स्थान में रहा करते थे और घर में रहकर अहिल्याबाई वार्षिक कर लेती; आय व्यय का लेखा देखती, उसे जांचती, और सैन्य को

वेतन अथवा जो कुछ व्यय की आवश्यकता होती, उतना धन मल्हारराव के पास भेज देती थी। सिर पर इतने बड़े बोझ के रहते भी यह अपना अधिक समय दान, धर्म, तीर्थ, व्रत, आदिही में व्यतीत करती, और इतनी सामर्थ्य होने पर भी क्रोध या अभिमान ने उसके हृदय को स्पर्श तक नहीं किया था।

जब तक मल्हारराव जीते रहे तब तक तो जैसे अन्तःपुर-वासिनी बहू बेटियां रहती हैं, वैसेही अहिल्याबाई भी अपने पुत्र कन्याओं के साथ रही। परन्तु मल्हारराव की मृत्यु के उपरान्त उनका पौत्र अर्थात् अहिल्याबाई का पुत्र मालीराव राज्यसिंहासन पर बैठा। परन्तु न तो उसी के भाग्य में राज्य था और न अहिल्या-बाई ही के भाग्य में सुख था। पुत्र के द्वारा लोग सुखी होते हैं, परन्तु वह अपने पुत्र के चरित्र से बड़ी ही दुखी थी। दिन रात पुत्र के कुचरित्र के कारण उसे रोना और दुखी होना पड़ता था। क्योंकि बचपन ही से मालीराव का चित्त चञ्चल था। अहिल्याबाई ने सोचा था कि अवस्था बढ़ने पर इसके चरित्र भी सुधर जायँगे और बुद्धि भी ठिकाने आ जायगी। परन्तु उसकी आशा व्यर्थ हुई। क्योंकि मल्हारराव की मृत्यु के उपरान्त मालीराव अपने पितामह की गद्दी पर तो बैठा, परन्तु उसका चरित्र न सुधरा। उसकी उन्मत्तता और क्रूरता ने लोगों का अन्तःकरण ऐसा दुःखित किया कि जिसके कारण अहिल्याबाई को बड़ा कष्ट सहना पड़ा।

न जाने किस पाप से अहिल्याबाई सी पुण्यवती के गर्भ में पिशाचरूप यह पुत्र जन्मा था। बस, इसी चिन्ता में दिन रात उसे रोते और कलपते बीतता था। स्नेहवती माता के अन्तःकरण को पीडित करने के कारण मालीराव अधिक दिनों तक राज्य का सुख न भोग सका। वह केवल नौ महीने राज्य कर विक्षिप्त हो परलोक को सिधारा।

मालीराव की मृत्यु के उपरान्त मल्हारराव का कोई भी उत्तराधिकारी नहीं रह गया। और अहिल्याबाई की पुत्री मच्छाबाई के पुत्र को नाना की सम्पति का सत्व इसलिये नहीं पहुंचता था कि उसका पिता जसवन्तराव पौसिया हुलकर वंश का न था। अतएव अहिल्याबाई ही को सन् १७६६ में राज्यशासन का भार अपने हाथ में लेना पड़ा।

मल्हारराव हुलकर को सदा युद्ध विग्रह के कारण कभी पूर्व कभी पश्चिम, कभी उत्तर और कभी दक्षिण के भिन्न भिन्न स्थानों में जाना और अनेक दिनों तक रहना पड़ता था। इसलिये उसने बाजीराव पेशवा के अनुरोध से गङ्गाधर जसवन्त को अपना प्रधान मन्त्री बना कर सब राजकाज का भार उसीको दे रक्खा था। गङ्गाधरराव बड़ाही स्वार्थी और कुटिल स्वभाव का मनुष्य था। उसने विचारा कि यदि अहिल्याबाई ऐसी चतुरा और नीतिनिपुणा स्त्री ने स्वयं राज्यशासन का भार अपने हाथ में रक्खा तो मेरे स्वार्थ की सिद्धि में पूरी बाधा पड़ेगी और इसके सन्मुख मेरी कोई भी कला न लगेगी इसलिये उसने अहिल्याबाई से कहा

कि आप स्त्री हैं, आपसे राज्य का भार न चल सकेगा, इस कारण किसी बालक को आप गोद ले लीजिए।

अहिल्याबाई ने उसकी कुटिलता समझ कर उत्तर दिया कि मैं एक राजा की तो स्त्री हूं और दूसरे की माता, अब तीसरे किसको गद्दी पर बैठाऊँ? इसलिये स्वयं मैं ही गद्दी पर बैठूंगी। उसके ऐसे उत्तर को पाकर गङ्गाधर ने जो कि उस समय मरट्ठों का एक प्रधान दलपति था, राघोबा दादा को, जो कि पेशवा का चाचा था, धन का लोभ दिया और उसे अपने पक्ष में करलेने के लिये पत्र लिखा कि यदि आप इस समय चढ़ आवें तो सहज में यह राज्य आपके हाथ आ जायगा। राघोबा भी बिना सोचे बिचारे धन के लोभ में आकर गङ्गाधर के पक्ष में हो गया। जब अहिल्याबाई को यह सूचना मिली कि लोभी राघोबा गङ्गा-धर के पक्ष में है, तब उसने कहला भेजा कि यह राज्य मेरे ससुर का है, मेरे पति का है, मेरे पुत्र का है और अब मेरा है; यह मेरी इच्छा पर है कि चाहे मैं किसी को पोष्य-पुत्र बनाऊं या न बनाऊं। ऐसी अवस्था में आप लोगों को यह उचित नहीं है कि मुझ अबला पर किसी प्रकार का अन्याय करें या मुझे व्यर्थ दबावें, और यदि आपलोग अन्याय का पक्ष अवलम्बन-करेंगे तो उसके उचित फल को भोगेंगे।

अहिल्याबाई के ऐसे वाक्यों को सुन के राघोबा को बिना बिचारे यह अभिमान हो आया कि मल्हारराव की पुत्र-बधू एक विधवा अबला को इतना अभिमान हुआ है जो हमलोगों के

आग्रह के नहीं मानती; इसलिये उसे अवश्य दबाना चाहिए। ऐसा विचार कर उसने अहिल्याबाई के साथ युद्ध का प्रबन्ध किया। इस समाचार के जानकर अहिल्याबाई ने भी मालवा देश के दूसरे दलपतियों से इन दुष्टों के अभिप्राय के समझा कर उनकी सम्मति पूछी। तब उन लोगों ने भी गङ्गाधरराव तथा राघोबा दादा की कुटिलता के समझ कर अहिल्याबाई का पक्ष लिया और कहा कि युद्ध होगा तो हम सब तुम्हारे साथ हैं। तब अहिल्याबाई ने अपने विश्वासी दलपतियों के बुलाकर एक गुप्तसभा की और उसी समय जानीजी भोंसला, माधोजी सेंधिया और गायकवाड़ आदि राजाओं तथा पेशवा माधोराव के पत्र लिखा कि मेरे ससुर ने अपने हृदय का रुधिर देकर जिस राज्य के स्थापित किया है, आज मुझे असहाय अबला जान कर अन्यायी लोग उसके ग्रसा चाहते हैं, इसलिये मैं अबला-धर्म के पथ से आप लोगों की सहायता चाहती हूं। इसलिये धर्म और न्याय पर विचार कर के आप लोग मेरी सहायता के लिये सेना भेजें।

उधर तो उसने दलपतियों के पास पत्र भेजे, और इधर तुके-जीराव के अपना सेनापति बना और आप स्वयं वीर वेश धारण कर और धनुष, बाण, भाला और खड्ग हाथ में लेकर युद्ध के लिये उद्यत हुई।

इधर तो अहिल्याबाई प्रयाण करना चाहती थी कि उधर से गायकवाड़ की बीस सहस्र सेना भी आ उपस्थित हुई। भोंसला के दूत ने भी आकर कहा कि स्वयं भोंसला सैन्यसहित नर्मदा

तीर पर उपस्थित हैं। और दलपतियों के यहां से भी इसी प्रकार सहायता पहुँची और न्यायपरायण पेशवा माधोराव ने भी उस पत्र के उत्तर में लिखा कि जो कोई तुम्हारे राज्य पर पाप दृष्टि करे, बिना सन्देह के तुम उसके दुष्कर्म का प्रतिफल दो, और अपने प्रतिनिधि स्वरूप अपने दो कार्य-कर्त्ताओं (कारिन्दों) को मेरे यहां भेज दो।

चारों ओर से सहायता और आश्वासन-वाक्य पा कर अहिल्याबाई ने रातोंरात अपनी सेना साजी और इन्दौर से निकल कर "गड़वाखेदो" नामक स्थान में कटक का पड़ाव डाल युद्ध की प्रतीक्षा करने लगी और उसने, जिन जिन रजवाड़ों की सेनाएं सहायता के लिये आई थीं, उनके भोजन और व्यय आदि का पूरा पूरा प्रबन्ध कर दिया, क्योंकि उस समय उसका राज-भण्डार धन धान्य से पूरिपूर्ण था।

उधर गङ्गाधरपन्त और राघोवा दादा भी पचास सहस्र सेनाओं की भीड़भाड़ लेकर सिप्रा नदी के उस पार आ जमे। इस संवाद के पाते ही अहिल्याबाई के सेनापति तुकोजीराव हुल्कर अपनी स्वामिनी (अहिल्याबाई) के चरण की वन्दना करके राघोबा दादा की गति रोकने के लिये सेना के साथ आगे बढ़े और सारी रात चलकर सूर्य्योदय के पहिले सिप्रा नदी के तट पर उज्जयिनी के निकट एक घाटी के पास उन्होंने अपनी सेना का डेरा डाल लिया। दूसरे दिन शत्रुओं की सेना जब नदी-पार होने की चेष्टा करने लगी तब तुकोजी ने दादा साहब से कहला

भेजा कि इधर मैं कटिबद्ध होकर खड़ा हूं; यदि आप आते हैं तो सम्भल कर और अपना आगा पीछा सोच विचार कर आइए। मैं भी खड्ग लिए आप की अगवानी के लिये उपस्थित हूं।

तुकोजी के ऐसे निर्भय समाचार को पाते ही दादा जी का कलेजा दहल गया। क्योंकि उसने अहिल्याबाई को जीत लेना जैसा सहज मान लिया था वैसा न हुआ। उसकी वीरता की सारी उमङ्ग जाती रही और आगा पीछा सूझने लगा। निदान अछता पछता कर उसने तुकोजी से कहला भेजा कि हम तो मालीराव बाबा की मृत्यु के समाचार को सुनकर बाईजी को सान्त्वना देने के लिये आ रहे हैं, परन्तु न जाने किस भ्रम से आप लड़ने के लिये उद्यत हो उठे हैं। इस चतुराई के उत्तर को सुन कर तुकोजी ने फिर उससे कहला भेजा कि यदि आप अनुग्रह और दया करके बाईजी से भेंट के लिये आए हैं तो इतनी भीड़ भाड़ की क्या आवश्यकता है? इसे सुनते ही पालकी पर चढ़कर दस पाँच सेवकों के साथ राघोबा दादा तुकोजी के शिविर में चला आया। इधर उसका आना सुन तुकोजी भी आगे बढ़ कर बड़े आदर के साथ उसे अपने कटक में लिवा लाए।

उसी दिन राघोबा ने अपने कटक को उज्जैन में छोड़ कर कुछ लोगों के साथ अहिल्याबाई की भेंट के लिये इन्दौर की यात्रा की। अहिल्याबाई ने भी बड़े ही आदर सत्कार से उसकी अगवानी और भेंट की और उसे अपने अन्तःपुर के निकट ही डेरा

दिया। एक महीने राघोबा दादा इन्दौर में रहा और बराबर अहिल्याबाई से भेट करता रहा।

दादा साहब की विदाई के पीछे भोंसला, गायकवाड़ आदि की जो सेनाएं सहायता के लिये आई थीं, उन्हें बड़े आदर सत्कार के साथ अहिल्याबाई ने बिदा किया।

अहिल्याबाई ने तुकोजी को राज्य के कठिन कामों को सौंप कर बड़ी ही बुद्धिमानी की थी, क्योंकि एक तो वे हुलकर वंशही के थे दूसरे अहिल्याबाई से वयःक्रम में बड़े होने पर भो माता के समान उस पर श्रद्धा-भक्ति रखते और "मातुः श्री" कह कर उसे पुकारते थे। वे स्थिर-प्रकृति, धर्मभीरु, रणकुशल और राज-नीति-निपुण मनुष्य थे। युद्ध और राज की शान्ति-रक्षा आदि का प्रबन्ध तो तुकोजी करते थे और अहिल्याबाई निश्चिन्तता से अपना धर्म कर्म करती और प्रजा की किसमें भलाई होगी यह बिचारा करती थी। वह नित्य सूर्य्योदय के पहिले शय्या से उठ प्रातःकृत्य करके पूजा करने बैठती और उसी समय ब्राह्मणों से रामायण महाभारत और पुराण आदि की कथा सुनती थी। उस समय उसके द्वार पर मँगतों की भीड़ लगी रहती थी। पूजा से उठके वह अपने हाथ से ब्राह्मणों को दान और कंगलों को भिक्षा देती थी। इसके अनन्तर निमन्त्रित ब्राह्मणों को भोजन कराती और फिर आप भोजन करती थी। भोजन उसका बहुत ही सामान्य था। उसमें राजाओं और रानियों की भांति विशेष आडम्बर नहीं होता था। आहार के अनन्तर थोड़ी देर वह विश्राम

करती और फिर उठकर एक साधारण सादी साड़ी पहिर राज-सभा में जाती और सन्ध्या तक बड़ी सावधानी से राज-काज किया करती थी। इसकी सभा में किसी को रोक टोक न थी; जिसे जो कुछ अपना दुःख सुख निवेदन करना होता, वह स्वयं जाकर निवेदन करता और स्वयं उसे सुनकर अहिल्या-बाई यथोचित आज्ञा देती थी। सन्ध्या होने पर सभा विसर्जित होती, तब प्रायः तीन घण्टे तक फिर वह पूजा में बैठती और तीन घण्टे उसी में बिता कर पीछे मन्त्री और प्रधान राज-कर्म-चारियों को एकत्र कर राज-काज का प्रबन्ध या और जो कुछ मन्त्रणा आदि करनी होती, करती; और राज्य के आय-व्यय की बड़ी सावधानी से जांच करती थी। जब रात के ग्यारह बजते, तब वह सोती थी। राज-काज, प्रजा-पालन, उपवास और धर्मा-चरण आदि कार्यों ही में उसके दिन बीतते थे। ऐसा कोई धर्म-सम्बन्धी त्योहार या उत्सव न था जिसे यह बड़े समारोह से न करती हो। लोगों का ऐसा विश्वास है कि जो सांसारिक कार्यों में फँसा रहता है उससे धर्म कर्म या परमार्थ की चिन्ता नहीं हो सकती और जो परमार्थ में लगा रहता उससे सांसारिक कार्य नहीं हो सकते। परन्तु धन्य अहिल्याबाई थी कि जो एक संग दोनों कार्यों को उचित रीति से भली भांति सम्पादन करती और किसी कार्य में किसी प्रकार का विघ्न नहीं होने देती थी। जिन लोगों को ऐसा भ्रम है कि एक सङ्ग ये दोनों कार्य नहीं निभते, उनके लिये अहिल्याबाई उदाहरण है। भोग सुख

की लालसा छोड़ कर जिस उत्तमता और नियम के साथ इसने अपना राज-काज चलाया था वैसे उदाहरण इतिहासों में बहुत ही थोड़े दिखाई देते हैं।

जिस समय अहिल्याबाई ने सुख और शान्ति के साथ राज किया था, वह समय वर्त्तमान समय के महाप्रतापी अँग्रेज़ों का सा शान्तिमय न था, वरन् घोर युद्ध-विग्रह, उत्पात और लूट-मार का था। उस समय भारतवर्ष एक ओर से कट्टर लड़ाके डाँकू मरहट्टे, और दूसरी ओर से उद्दण्ड जाट, रोहिले, लुटेरे, पिण्डारी और अनेक डांकुओं का रङ्गस्थल हो रहा था। विशेष कर दक्षिण प्रदेश तो पूर्ण अशान्तिमय था। ऐसे भयङ्कर समय में और ऐसे भयानक प्रदेश में भी जो अहिल्याबाई ने सुख, शान्ति और धर्म पूर्वक राज्य किया, क्या यह एक अबला स्त्री के लिये विशेष गौरव का विषय नहीं है? वे ही लुटेरे, वे ही लड़ाके, वे ही उपद्रवी, जो सारे भारतवर्ष में हलचल मचा रहे थे, निकट रहने पर भी प्रतापवती अहिल्याबाई के शासित राज्य की ओर आंख तक नहीं उठा सकते थे। यह केवल उसके पुण्य का प्रत्यक्ष प्रताप था।

उसके शान्तिमय राज्य में एक बार उदयपुर के आलसी राणा से उसका विवाद हुआ था, परन्तु उसके वीर सिपाहियों के सम्मुख राणा की सेना को हार माननी पड़ी और अन्त में राणा ने अहिल्याबाई से सन्धि करके झगड़ा मिटाया। जयपुर के राजा

के यहां हुलकर के कुछ रुपए कर के अटक रहे थे। तुकोजी ने उन रुपयों को उगाही के लिये कड़ी लिखा पढ़ी की। उस समय सेंधिया का बख़शी जिउवा दादा भी अपने रुपयों के लिये यत्न कर रहा था। उस पर उन दोनों के पत्रों के उत्तर में जयपुर राज्य के मन्त्री दैालतराम ने दोनों का लिखा कि हम सेंधिया और हुलकर दोनों के ऋणी हैं; इसलिये इनमें से जो अधिक बल या क्षमता रखता हो वह हम से रुपये ले। इस उत्तर को पाकर तुकोजी जयपुर के मन्त्री के मन की बात समझ कर सेना के साथ जयपुर की ओर चले कि बीच में जिउवा दादा ने उनपर आक्रमण किया। फिर तो दोनों में घोर युद्ध हुआ। इस युद्ध में तुकोजी के कई एक साहसी सेनापति और योधा मारे गए और उनकी हार हुई। तब वह जयपुर से बाईस कोस की दूरी पर ब्राह्मणगांव नामक स्थान में लैाट आए और वहां एक दृढ़ दुर्ग में उन्होंने आश्रय लिया। उस समय अहिल्या बाई महेश्वर-क्षेत्र में थी। तुकोजी का पत्र उसके पास वहीं पहुँचा। उन्होंने अपने पत्र में धन और सेना की सहायता के लिये प्रार्थना की थी। इस समाचार के पाते ही अहिल्याबाई मारे क्रोध के कांपने लगी और बोली कि इस अपमान से मुझे इतना दुःख हुआ है कि जितना तुकोजी के मरने पर भी न होता। इतना कह कर उसी क्षण उस ने पांच लाख रुपए भेजे और साथ ही उसने तुकोजी का एक पत्र लिखा कि तुम किसी प्रकार से विचलित न होना, मैं यहाँ से रुपए और सेना का पुल बांधे देती हूं,

बस जिस प्रकार से हो उस कृतघ्न को दमन करो और यदि तुम साहस गँवा चुके हो तो लिखो, इस बुढ़ापे में भी मैं* स्वयं आकर युद्ध करूंगी। इसके थोड़े ही दिनों के उपरान्त अहिल्याबाई ने तुकोजी की सहायता के लिये अट्ठारह सहस्र सैन्य भेजी कि जिसे पाते ही उन्होंने घोर युद्ध किया। यह युद्ध तीन महीने तक होता रहा, अन्त में तुकोजी ने वैरी पर विजय पाई और जिउवा ने पराजय स्वीकार की।

अहिल्याबाई के भण्डार में जो कुछ धन सञ्चित था, गद्दी पर बैठते समय अहिल्या ने उसपर तुलसीदल रख दिया था। एक समय राघोबा दादा ने लोभवश अहिल्याबाई से कहला भेजा कि इस समय मुझे कुछ धन की आवश्यकता है, इसलिये आप मुझे कुछ रुपए भेज दीजिए। अहिल्याबाई उसकी प्रकृति को भली भांति से जानती थी, इसलिये उसने कहला भेजा कि मैं अपने सञ्चित धन पर तुलसीदल रख चुकी हूं, अब मैं उसमें से कुछ भी नहीं ले सकती, क्योंकि वह कृष्णार्पण हो चुका है। तथापि आप ब्राह्मण हैं; यदि दान लिया चाहें तो प्रसन्नता से मैं तुलसीदल और अक्षत ले सङ्कल्प करके आपको दे सकती हूं। राघोबा ने इस बात से चिढ़ कर अहिल्याबाई को लिखा कि मैं दान लेने वाला प्रतिग्रही ब्रह्मण नहीं हूं; या तो मुझे रुपए भेजो, नहीं तो युद्ध के लिये तत्पर हो। इसके उत्तर में अहिल्याबाई ने कहला भेजा कि युद्ध में प्राण जायँ, तो जायँ परन्तु सङ्कल्पित धन तो

* इस समय अहिल्याबाई की अवस्था ५८ वर्ष की थी।

मैं यों न उठा दूंगी। इस उत्तर को पाते ही राघोबा अहिल्याबाई से युद्ध करने के लिये तत्पर हुआ। इसे सुनते ही वह भी वीर वेष धारण कर अस्त्र शस्त्र ले घोड़े पर चढ़ पांच सौ दासियों के साथ रणक्षेत्र में उपस्थित हुई। उस समय उसने स्त्रियों के अतिरिक्त एक भी पुरुष अपने साथ नहीं लिया था। इसका तात्पर्य यह था कि वीर महाराष्ट्रगण अबलाओं से कदापि युद्ध न करेंगे। बस, जैसा उसने सोचा था वैसा ही हुआ। राघोबा के योद्धागण स्त्रियों से युद्ध करने में सम्मत न हुए। तब बिवस हो उसने अहिल्याबाई से पूछा कि आपकी सेना कहां है? उसने उत्तर दिया कि मेरे पूर्वजगण पेशवा के सेवक थे, इसलिये यह मैं नहीं चाहती कि उन्हीं से युद्ध करूं। हां धर्म नहीं छोड़ सकती और न दान किया हुआ धन यों लूटने दूंगी; इसलिये मैं उपस्थित हूं, अब आप मुझे मारकर भले ही सब धन ले लें, परन्तु प्राण रहते तो मैं एक टका भी न दूंगी। अहिल्याबाई के इस उत्तर से वह बड़ा ही लज्जित हुआ और उसने अहिल्याबाई का सन्तोष कर उसे लौटा दिया।

अहिल्याबाई की सभा में अन्यान्य राजाओं के जो दूत रहा करते थे, वे उसकी बुद्धिमानी और नम्रता से सदा प्रसन्न रहते और उसके दूतगण भी पूना, हैदराबाद, श्रीरङ्गपट्टन, नागपुर, कलकत्ता आदि राजस्थानों में रह कर परस्पर का मेल मिलाप बनाए रहते थे।

अहिल्याबाई केवल दानी या धर्मात्मा ही नहीं थी, वरन्, जितने गुण राजा में होने चाहिएं वे सब उसमें थे। जिस

समय वह राजगद्दी पर बैठी थी, उस समय इन्दौर एक छोटा सा नगर था। उसीके समय में वही इन्दौर एक उत्तम नगर हो गया। उसके शासन और सद्व्यवहार के गुण से देश देशान्तरों से व्यापारी लोग अनेक प्रकार की वस्तुओं को लाते और बेचते थे। अहिल्याबाई की उनपर सदा कृपादृष्टि रहती थी। उसे इस बात का विशेष ध्यान रहता था कि बाहर से यदि कोई अपनी गांठ से धन लगा कर आया है तो उसे उसके व्यय के अनुसार लाभ भी हो न कि केवल हानि। देश की उन्नति और वाणिज्य की वृद्धि का होना ऐसी ही राजनीति पर निर्भर है। उसके शासन काल में कोई किसीको दुःख नहीं दे सकता था। यदि कोई कैसा ही बलवान् किसी निर्बल पर किसी प्रकार का बलात्कार करता और उसकी सूचना अहिल्याबाई को पहुंचती, तो वह अवश्य ही उस दुष्ट को दण्ड देती थी। वह धन-सञ्चय करने से इतनी प्रसन्न नहीं होती थी कि जितनी न्याय करने और प्रजा के पालन करने से सन्तुष्ट होती थी।

एक समय तुकोजीराव का कटक इन्दौर के पास पड़ा हुआ था। वहां उन्होंने सुना कि देवीचन्द नामक कोई साहूकार मर गया है, परन्तु उसके कोई पुत्र नहीं है। उस समय के प्रचलित राज-नियम के अनुसार उन्होंने देवीचन्द की सम्पत्ति ले लेनी चाही। उस समय अहिल्याबाई मिमिर नामक स्थान में थी। तुकोजी के ऐसे अभिप्राय को सुनते ही देवीचन्द की विधवा ने अहिल्याबाई से जाकर अपनी सारी विपत्ति रो सुनाई। उस

विधवा की विकलता और दीनता से अहिल्याबाई का कोमल हृदय ऐसा द्रवीभूत हुआ कि उसने उस विधवा को सम्मानसूचक वस्त्रादि देकर बिदा किया और तुकोजी को लिख भेजा कि ऐसी निर्दयता और कठोरता को मेरे राज्य में स्थान न मिलना चाहिए। इस आज्ञा को पाकर बिवस हो तुकोजी को अपनी लालसा से विरत होना पड़ा। अहिल्याबाई के उदार व्यवहार से सन्तुष्ट होकर इन्दौर की प्रजामात्र उसको धन्य धन्य कहने लगी। योंही और एक समय उसके राज्य में दो अति धनवान महाजन मर गए। दो विधवाओं के अतिरिक्त उनका भी और कोई उत्तराधिकारी न था; और उन विधवाओं ने दत्तकपुत्र भी नहीं लिया था, वरन् अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति अहिल्याबाई को देनी चाही थी। ऐसी सम्पत्ति के लेने में उसे कोई दोष भी न था। परन्तु उसने उसका लेना स्वीकार न कर यह कहा कि मैं तुम्हारा धन न लूंगी, परन्तु तुम्हें उपदेश देती हूं कि तुम स्वयं अपने धन को ऐसे कार्यों में लगाओ कि जिससे तुम्हारा लोक परलोक बने और दोनों लोक में यश हो। उन विधवाओं ने भी अहिल्याबाई की अनुमति के अनुसार अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति को उत्तम कार्य्यों में लगा कर यश को प्राप्त किया।

हुलकर वंशीय दलपतियों के साथ पहिले कोई नियत प्रबन्ध न था। केवल समय समय पर लोगों को यथोचित धन राज-भण्डार से मिला करता था। परन्तु इसमें दोनों (लेने और देने वाले) को बड़ा ही असुबीता होता था। अहिल्याबाई

ने इस झगड़े को मिटा कर सबके साथ ऐसा अच्छा प्रबन्ध कर लिया कि सबके साथ मेल मिलाप भी बना रहा और सब प्रकार की झंझट भी मिट गई, तथा राजकोष का भी उत्तम प्रबन्ध हो गया।

उस समय आस पास के अनेक ऐसे राजे महाराजे थे कि जिनकी उद्दण्डता के कारण प्रजा अपना धन छिपा छिपा कर रखती थी; क्योंकि जो कहीं राजदरबार में यह बात प्रकट हो जायगी कि अमुक प्रजा के पास इतना धन है, तो राजा उसे छीन लेगा। उस समय पालकी पर चढ़ कर निकलना, अथवा उत्तम तिमहले चौमहले घर बनवा लेना, साधारण प्रजा का काम न था, वरन् ऐसा वही कोई भाग्यशाली मनुष्य कर सकता था कि जो राजा का पूर्ण कृपापात्र होता था। परन्तु धन्य श्री पुण्यशीला अहिल्याबाई कि जो प्रजामात्र पर दया रखती और उनके साथ वात्सल्यभाव का बर्त्ताव करती थी। उसके राज्य में यदि कोई धनवान् होता था तो उसे अहिल्याबाई अपने राज्य का गौरव और प्रतिष्ठा समझ अपना कृपापात्र बनाती और उसकी भविष्य उन्नति पर भी पूरा पूरा ध्यान रखती थी।

भारतवर्ष की अनेक जङ्गली जातियों में से भील जाति लुटेरों में बड़ी प्रसिद्ध है, यहां तक कि बृटिश गवर्नमेन्ट के ऐसे शान्तिमय राज्य में भी अब तक अनेक स्थानों में भीलों का उपद्रव वर्त्तमान है। ऐसे निरापद काल में जब पथिकों को भील जाति की लूट मार से भयभीत होना पड़ता है तो उस समय भीलों का

जैसा कुछ उपद्रव रहा होगा यह सहज ही में अनुमान किया जा सकता है। उस समय अनेक ऐसे धन-लोलुप नीति-रहित राज-कुल-कलङ्क राजे थे कि जो भीलों के द्वारा धन उपार्जन करने में अपने को लज्जित और कलङ्कित नहीं समझते थे। अहिल्याबाई के राज्य में तथा उसके आस पास भील बराबर उपद्रव किया करते थे और इनके भय से धन जन लेकर एक स्थान से दूसरे स्थान में जाना प्रजा के लिये बड़ा ही कठिन था। अपने अधीन के बहुत से स्थानों में भीलों ने पथिकों पर कर लगा रक्खा था कि जिसे "भील कौड़ी" कहते थे; जिनमें एक नियम यह भी था कि प्रत्येक लदे बैल पीछे एक अधेला वे लिया करते थे। अहिल्या-बाई ने पहिले तो उन लोगों को अपनी कोमल प्रकृति के अनु-सार बहुत कुछ समझाया; पर जब उन उद्दण्ड मूर्खों ने एक न माना तब उसने उनके साथ कठोर बर्त्ताव करना प्रारम्भ किया। इससे बड़े बड़े भील दलपति अहिल्याबाई की कोपाग्नि में भस्म हुए। उनके अनेक ग्राम भस्म और उच्छिन्न हो गए, यहां तक कि जब उन लोगों ने देखा कि अब तो भील जाति का बीज नाश ही हुआ जाता है, तब बिवस हो उन लोगों ने प्रतापशालिनी अहिल्या-बाई की अधीनता स्वीकार कर ली। तब दयामयी अहिल्या-बाई ने उन्हें अभय दिया और उपदेश तथा सहायता द्वारा उन्हें कृषी और वाणिज्य में लगाया और उनके जीवन का उपाय निर्धारित कर उनकी उद्दण्डता मिटा दी; तथा पूर्व प्रचलित उन-की "भील कौड़ी" भी नियत कर दी। इसके साथ ही उसने

प्रत्येक भील-दलपति के अधीनस्थ स्थानों से होकर आते जाते पथिकों के धन और प्राण की रक्षा का भी पूरा पूरा प्रबन्ध कर दिया, जिससे उसको यह कीर्त्ति जो अब तक वर्त्तमान है, इतनी बढ़ी कि उसकी उत्तम राजनीति का स्मरण कर उसपर सबकी श्रद्धा और भक्ति अधिक हो गई।

जिस समय अहिल्याबाई राज-सिंहासन की शोभा बढ़ा रही थी, उस समय हैदराबाद के निज़ाम, टीपू सुलतान, अवध के नवाब, ग्वालियर के सेंधिया, आदि बड़े बड़े प्रतापी राजे महाराजे भारत के भिन्न भिन्न स्थानों का शासन कर रहे थे। ये राजे लोग बड़े प्रतापशाली और बली थे; परन्तु सुनीति, पुण्य और यश में अहिल्याबाई के समान कोई भी न थे। यद्यपि न तो वह अपने इस प्रताप और यश की रक्षा के लिये अपरिमित धन का व्यय करती थी और न निज-समवर्त्ती राजाओं के समान उसके यहां विशेष सैनिक-व्यय ही था; किन्तु उसे यह दृढ़ विश्वास था कि देहबल की अपेक्षा धर्म्मबल ही प्रधान बल है। अतएव वह पूरी रीति से महाभारत के इस महावाक्य पर दृढ़ थी कि—

"यतः कृष्णस्ततो धर्म्मो यतोधर्म्मस्ततो जयः"।

यही कारण है कि ऐसा कोई भी तीर्थस्थान नहीं है जहां पर अहिल्याबाई की धर्म्मशाला आदि न हो।

अहिल्याबाई का जन्म एक दरिद्र गृह में होने के कारण माता पिता के स्वाभाविक वात्सल्य के अतिरिक्त और अधिक लाड़ चाव

की उसे क्या आशा थी ! किन्तु वह अपने पूर्व सुकृत के बल से मल्हारराव की पुत्र-बधू हुई । परन्तु हा दैव ! उसका यौवन-कुसुम मुकुलित अवस्था ही में कुम्हला गया ! विधवा होने के उपरान्त वह अपने पुत्र और कन्या ही का मुख देख कर अपनी वैधव्य-यातना को भुलाए रहती थी, परन्तु विधाता को वह भी सह्य न हुआ । क्योंकि पुत्र के मरने पर उसने अपनी पुत्री, जामाता और उनकी सन्तति से अपना चित्त बहला कर पुत्रशोक को भी भुला दिया था, परन्तु उसमें भी बाधा पड़ी । अर्थात् अपनी कन्या के पुत्र का उसने पुत्रवत् प्रतिपालन किया था और वह दिन रात उसे अपने निकट रख उसका लाड़ चाव किया करती थी और उसे अपने सांसारिक सुख का आधार माने हुई थी । परन्तु वह यौवनावस्था को पहुँचा ही था कि निर्दयी काल ने उसे भी निज गाल में रख लिया । इस हृदय-विदारक कष्ट को भी अहिल्याबाई के हृदय ने किसी प्रकार सहन कर लिया और तब एक मात्र अपनी कन्या मच्छाबाई ही पर अन्तिम आशा रख कर वह भग्न-हृदय से काल व्यतीत करने लगी । थोड़े ही काल के अनन्तर मच्छाबाई का पति भी काल-कवलित हुआ । उस समय अहिल्याबाई के भग्न-हृदय पर कैसी चोट पहुँची होगी इसका अनुमान पाठकगण स्वयं कर सकते हैं । पति के सुरधाम सिधारते ही मच्छाबाई सती होने के लिये उत्कण्ठित हुई । कन्या को इस सङ्कल्प से निवृत्त करने के लिये अहिल्याबाई ने यथासाध्य प्रयत्न किया । यह बार बार धूल में लोटती, छाती पीटती और

बिलबिलाती थी। उसने बार बार अपनी कन्या से विनय किया कि "पुत्री! अब केवल तू ही मेरे इस बुढ़ापे की आधार है, बिना तेरे क्षण भर भी इस दुःखमय जगत् में मेरा निर्वाह न होगा। हाय! अब मेरा एक भी आधार नहीं है जिसके सहारे यह प्राण पखेरू टिक सके। इसलिये तू अपने इस सङ्कल्प को मेरी दुःखमय दशा देखकर छोड़ दे"। इत्यादि अनेक प्रकार से उसने अपनी पुत्री को सती होने से रोका, परन्तु मच्छाबाई ने एक भी न सुना और बड़ी दृढ़ता और स्नेह भरे वाक्यों से कहा—"मा, अब तुम और कितने दिन जीओगी, दो चार वर्ष में तुम्हारा भी अन्त होना है, इसलिये जो इस समय तुम मुझे सती होने से रोकोगी तो न जाने कितने वर्षों तक मुझे इस घोर दुःखमय जीवन को व्यतीत करना पड़ेगा; सोचो तो, वह समय मेरे लिये कैसा दुःखमय होगा? परन्तु आज यदि मेरा सङ्कल्प ईश्वर ने पूरा कर दिया, तो संसार से यशपूर्वक पति के साथ मैं सत्यलोक को चली जाऊंगी। इसलिये माता! मेरी भलाई, मेरे यश और मेरे कल्याण के लिये तुम मुझे आज्ञा दो और विदा करो। जिसमें मैं तुम्हारे देखते देखते स्त्रीधर्म का पूरा पूरा निर्वाह करती और विजय का डङ्का बजाती हुई सुख और शान्ति के सहित चिरकाल के लिये अपने सत् से सतीलोक में जा बसूं"। जब अहिल्याबाई ने देखा कि मैं किसी प्रकार से अपनी कन्या को सती होने की प्रतिज्ञा से निवृत्त नहीं कर सकती, तब उसने विवस होकर कातर स्वर से मच्छाबाई को सती होने की आज्ञा दी।

आज्ञा के पाते ही सब संस्कार और सती होने का प्रबन्ध होने लगा। वह अहिल्याबाई कि जो जीवमात्र के कष्ट को नहीं देख सकती थी, वरन् उनकी रक्षा का यत्न करती थी, आज वही अपनी एक मात्र जीवनावलम्ब प्रतिमा को विसर्ज्जन करने के लिये स्वयं नर्मदा के तट पर उपस्थित हुई। चन्दन अगर आदि काष्ठों से चिता बनाई गई और मच्छाबाई अपने पति के शव को विधिपूर्वक अपनी गोद में लेकर उसपर जा बैठी। चिता में अग्नि लगाई गई; घृत-कर्पूरादि के स्पर्श से देखते देखते वह चारों ओर से लपलपाती और धकधकाती अग्निशिखाओं से घिर गई और मच्छाबाई के कोमल अङ्ग को भस्मीभूत करने लगी। उस समय चारों ओर शंख घण्टा भेरी नरसिंहा आदि के घोर शब्द को भेद करता हुआ अहिल्याबाई का हृदय-विदारक विलाप दर्शक मण्डली को विकल और विह्वल कर रहा था। वह मोहबश बार बार चिता में कूदने का उद्योग करती थी, परन्तु दोनों ओर से दो ब्राह्मण उसे दृढ़ता से पकड़े हुए थे। जब चिता केवल अङ्गारों की ढेरी सी होगई, उस समय अहिल्याबाई पछाड़ खा धम्म से पृथ्वी पर गिर कर मूर्च्छित हो गई। अनेक प्रयत्न करने पर भी थोड़ी देर तक उसकी मूर्छा न टूटी। अन्त में थोड़े समय के उपरान्त उसे चैतन्य तो हुआ, परन्तु उसकी भ्रान्ति और विकलता ज्यों की त्यौं बनी रही। बड़े कष्ट से लोग उसे राजभवन में ले आए, परन्तु उसके शोक में कुछ भी न्यूनता न हुई। तीन दिन पर्यन्त बिना अन्न जल के वह उसी

प्रकार रोती, बिलबिलाती, छाती पीटती और पछाड़ें खाती रही। असंख्य दास, दासी, राजकर्मचारी और ब्राह्मण, पण्डित आदिक उसे अनेक प्रकार से धैर्य दिलाते और शान्ति करते रहे; परन्तु उसका सन्तप्त-हृदय किसी प्रकार भी शान्त नहीं होता था। कई दिनों के उपरान्त धीरे धीरे उसका हृदय स्वयं कुछ कुछ शान्त होने लगा। तब उसने अपनी पुत्री और जामाता के स्मरणार्थ एक अति रमणीक मन्दिर बनवाया, जिसके शिल्प-नैपुण्य को देख आज दिन भी बड़े बड़े शिल्पकार चकित और विस्मित होते हैं।

एक तो पहिलेही से अहिल्याबाई किसी प्रकार के भोग विलास या राजकीय सुख में लिप्त न थी, वरन् अति सामान्य रूप से अपने जीवन का निर्वाह करती थी; परन्तु अब तो कन्या के शोक से जो कुछ उसके चित्त की शान्ति थी वह भी न रही; वह अब केवल अपनी प्राण रक्षा भर किसी प्रकार से कर लेती थी। परन्तु उसके धर्मनिष्ठा, दृढ़ता, सहिष्णुता, न्यायपरता आदि गुणों में किसी प्रकार की त्रुटि या न्यूनता अन्तकाल पर्यन्त कभी भी न हुई।

योंही कन्या के मरने पर तीन वर्ष पर्यन्त रामराज्य करके साठ वर्ष की अवस्था में (सन् १७८५ ई० में) इस नश्वर देह को त्याग अपने विमल यश की पताका उड़ाती हुई अहिल्याबाई नित्यलोक को पधार गई।

सर ऐज़क न्यूटन *

भारतवर्ष में जिस समय कमलाकर भट्ट † ने अपने ग्रन्थ सिद्धान्ततत्वविवेक ‡ को रचा था, उस समय योरप में न्यूटन की अवस्था केवल सोलह वर्ष की थी। उसका पिता उसकी बाल्यावस्था ही में मर गया था, परन्तु बुद्धिमती माता की कृपा से बाल्यावस्था ही में उसके हृदय में अनेक गुणों के अंकुर उत्पन्न हो गए थे। बारह वर्ष की अवस्था में अर्थात् सन् १६५४ ई० में, उसकी माता ने उसे कोलर्सवर्थ नगर में ग्रैन्थम के विद्यालय में जहां कि उसका जन्मस्थान है, भेजा। वहां पर वह यन्त्रकला में ऐसा निपुण हुआ कि लोगों को उसकी बुद्धि पर आश्चर्य होने लगा। और विद्यार्थी तो अवकाश पाने पर खेल कूद कर अपने समय को नष्ट करते थे, परन्तु न्यूटन उस समय जलयन्त्र, वायुयन्त्र इत्यादि की रचना में नियुक्त रहता था। वह यन्त्ररचना में ऐसा उत्साही था कि लोहारों की भांति बसुला, रेती इत्यादि यन्त्रों को भी सदा अपने पास रखता था। उसके परोस में एक पवन की चक्की थी। उसे देखकर उस ने अपने हाथ से वैसी ही एक छोटी सी बहुत ही सुन्दर चक्की बना ली। वह अपनी चक्की को कभी

---

* महामहोपाध्याय पण्डित सुधाकर द्विवदी लिखित।

† भारतवर्ष में यह प्रख्यात गणितज्ञ हो गया है। इसके पिता का नाम नृसिंह शास्त्री था। इसने अपने बड़े भाई दिवाकर दैवज्ञ से ज्योतिष शास्त्र पढ़ा था।

‡ यह ग्रन्थ जो कि अनेक नई नई उपपत्तियों और युक्तियों से विभूषित है काशी जी में शाके १८५० में रचना किया गया था।

कभी छप्पर के ऊपर रख देता था और जब वह वायु के वेग से चलने लगती तो अपनी रचना पर मन ही मन आनन्द में मग्न हो जाता था। किसी मित्र ने न्यूटन को एक पुराना संदूक दिया था, उसको उसने काट छांट कर एक घटी यन्त्र बनाया। इसका मुख तो प्रचलित घड़ी ही के सदृश था, परन्तु सूई एक लकड़ी में जकड़ी थी। यन्त्र के पीछे वाली लकड़ी पर जब जल की धारा का आघात लगता, तब लकड़ी के संग मुख पर चारों ओर सूई चला करती। भास्कराचार्य ने भी इसी प्रकार के एक "स्वयंवह" नाम के यन्त्र को अपने गोलाध्याय में जल के बल से चलनेवाला बनाया है।

न्यूटन समय पर पत्र (कागज़) न रहने से घर की भीतों ही के ऊपर रेखागणित इत्यादि के क्षेत्रों को लिख कर उनके सिद्धान्तों को अपने मन में बैठा लिया करता था, इस कारण से उसके घर की भीत एक प्रकार की पुस्तक ही हो गई थी। अठारह वर्ष की अवस्था में वह ग्रेन्थम से केम्ब्रिज के ट्रिनिटी कालेज में पढ़ने के लिये गया। वहां पर उसने मोटे कांच के टुकड़े के एक छेद में से प्रकाश बाहर होकर आवे तो उसका कैसा रूप होता है और प्रकाशमान पदार्थ की प्रत्येक किरण में सात रङ्ग के अवयव वैसे ही रहते हैं जैसे कि इन्द्रधनुष में होते हैं, इन सिद्धान्तों को बड़े विस्तार से वर्णन किया।

सन् १६६५ ई० में केम्ब्रिज में महामारी का बड़ा भारी उपद्रव फैला। इसलिये न्यूटन भाग कर अपने घर चला गया।

वहां पर एक दिन वह अपनी वाटिका में टहलता था, दैवात् उसके सामने एक वृक्ष का फल टपक पड़ा; इसपर उसने अनुमान किया कि अवश्य इस पृथ्वी में आकर्षण शक्ति है। फिर इस आकर्षण की ओर उसका मन इतना बढ़ा कि इसपर उसने अनेक नई नई बातों का पता लगा डाला और यह भी सिद्ध किया कि आकाश में जितने ग्रह पिण्ड और तारे हैं वे सब परस्पर के आकर्षण ही के बल से निराधार घूमा करते हैं। न्यूटन के पहिले योरप में कोई विद्वान् इस बात को नहीं जानता था कि पृथ्वी में आकर्षणशक्ति है। भारतवर्ष के विद्वान् चिरकाल से इस बात को जानते थे कि पृथ्वी में आकर्षणशक्ति है, परन्तु इस आकर्षण का कैसा धर्म है इस बात पर किसी का मन न गया, केवल लोग घर बैठे कविता लिख लिख कर ग्रन्थ रचा किए; परन्तु यह किसी से न बन पड़ा कि परीक्षा के द्वारा इस आकर्षण के धर्म्म का पता लगावें।

सन् १६६७ ई० में न्यूटन फिर केम्ब्रिज में आया। वहां पर उसकी योग्यता देख कर लोगों ने उसे विद्या-सम्बन्धिनी एक सर्वोच्च पदवी दी। दो वर्ष के अनन्तर वह केम्ब्रिज ही में गणित-शास्त्र का प्रधान अध्यापक हुआ।

सन् १६८३ ई० में उस ने ल्याटिन भाषा में एक "प्रिन्सिपिया मेथेमेटिक" नाम के अपूर्व गणित के ग्रन्थ की रचना की, जिस-पर आज तक अनेक टीकाएं और टिप्पणियां बनती चली आती हैं।

सन् १६९५ ई० में वहां की गवर्नमेण्ट ने उसे अपनी टकसाल का अधिकारी बनाया था।

यद्यपि वह इतना भारी विद्वान् था तथापि उसके शरीर में अहङ्कार वा अभिमान का लेश भी नहीं था। इसी कारण वह इतना सर्वप्रिय होगया था कि जहां जाता वहीं दस बीस विद्वान् उसे घेर लेते थे। सच पूछिए तो उसे ऋषि कहना चाहिए। एक दिन रात्रि के समय वह कहीं बाहर चला गया था; चौकी पर उसके लिखे हुए अनेक पत्र पड़े थे और मोमबत्ती जलती थी। उसका कुत्ता, जिसे वह बहुत चाहता था और जिसका नाम हीरा था, न जाने क्या समझा कि एकाएक चौकी पर कूद पड़ा; इससे बत्ती गिर पड़ी और सब पत्र भस्म हो गए। आने पर न्यूटन ने उस कुत्ते से केवल इतना ही कहा कि तुझे क्या ज्ञान है कि मैंने कितने परिश्रम से कई वर्षों में लिखकर इनको पूरा किया था।

सन् १७११ ई० में गणित के एक नियम के ऊपर लेब्निज़ से जो कि जर्म्मन देश का एक ही प्रसिद्ध गणितशास्त्र का विद्वान् था, न्यूटन से विवाद हो गया। अनेक विद्वान् कहते थे कि यह नियम न्यूटन का आविष्कृत है और अनेक विज्ञ कहते थे कि यह लेब्निज़ का आविष्कृत है। निदान इसका विचार लण्डन की रायल सोसाइटी में किया गया। उस समय पूरा पूरा विचार न होने से उसका आविष्कर्त्ता न्यूटन ही ठहराया गया और महा-सभा की ओर से चारों ओर विज्ञापन पत्र भेजे गए कि आज से सबको विदित हो कि यह नियम न्यूटन का आविष्कृत है।

इसके अनन्तर जर्म्मनदेश के महाराज ने लण्डन में सूचना दी कि इस विषय पर उत्तम रीति से पुनः विचार करना चाहिए। अन्त में दोनों ओर के सभ्यों ने एक मध्यस्थ द्वारा (जिसके यहां न्यूटन और लेब्निज़ दोनों प्रायः अपने अपने सिद्धान्तों को पत्र द्वारा लिख कर भेजा करते थे) दोनों के पत्रों को देखकर सिद्ध किया कि दोनों ने दूसरे के सिद्धान्त वा नियम को बिना देखे ही अपनी अपनी बुद्धि से इस नियम का आविष्कार किया है, इस-लिये दोनों को इसका स्वतन्त्र कर्ता कहना चाहिए। परन्तु बड़े खेद की बात है कि इस, अन्तिम विचार (फ़ैसले) के प्रचलित होने के पूर्व ही महावैरी काल ने लेब्निज़ को अपना ग्रास बना लिया था। जो हो, परन्तु आज तक तो सभी विद्वानों के मत से उस नियम का कर्ता लेब्निज़ ही माना जाता है और उसके आदर के लिये उस नियम को लोग Leibnitz's Theorem कहते हैं।

न्यूटन सन् १७२७ ई० में पचासी वर्ष की अवस्था में इस असार संसार को तुच्छ समझकर परलोक को सिधारा। मरने के पहिले बीस दिन पर्यन्त वह पीडित था। मरते समय उसका यह अन्तिम वाक्य था कि "लोग मुझे चाहे जैसा विज्ञ समझते हों, परन्तु मेरी तो दशा ऐसी थी कि जैसी कोई बालक समुद्र के तट पर खड़ा हो और दैवयोग से तरङ्गों के द्वारा कभी उसके हाथ चिकना कङ्कड़ और कभी सीपी आजाय; उस प्रकार मैं भी मुग्ध बालक सा अपार महा ज्ञानसमुद्र के तट पर खड़ा था जिसका मुझे कुछ भी वारापार नहीं सूझता था, केवल दैवयोग से थोड़ा-सा ज्ञानरत्न मेरे हाथ लग गया"।

नीति विषयक इतिहास * ॥

—:००:—

दोहा ।

मूरख कैसेऊ बली, पण्डित अबल सरीर ।
सदा प्रबल पण्डित तहां, अबुध अबल कुरुबीर ॥ १ ॥

रह्यो एक पञ्चानन[1] बन में ।
सो नित प्रलय करत मृगगन में ॥
तब सबही मिलि कियो बिचार ।
नितप्रति एक मृग देहिं अहार ॥ १ ॥
मृगन जाय मृगपति[2] सोँ भाख्यो ।
प्रभु हम एक नियम अभिलाख्यो ॥
नित प्रति लेहु एक मृग आप ।
देहु न और मृगन कहँ ताप ॥ २ ॥
एवमस्तु केहरि कहि दीनों ।
ता दिन सों नित यह ब्रत लीनों ॥
एक दिन रही ससा[3] की पारी ।
ताने मन यह बात बिचारी ॥ ३ ॥
ऐसी जुगत करैं चित लाय ।
जथा जनम को कंटक जाय ॥

---

* बाबू गोपालचन्द लिखित ।

१ सिंह । २ सिंह । ३ खरहा, ख़रगोश ।

समै टारिकै धीरे धीरे ।
कांपत गयो सिंह के नीरे ॥ ४ ॥
बोल्यो बाघ कोप सों पुष्ट ।
इतो अबेर करी क्यों दुष्ट ॥
ससा भयो तब बचन सुनावत ।
प्रभु मैं रह्यौ आप ढिग आवत ॥ ५ ॥
तुम सों अपर मिल्यौ हरि[1] राह ।
तिन पकरयो मोहि भोजन चाह ॥
तब हम कह्यौ हाल सब बन को ।
नाथ कृपा मृगगन के पन को ॥ ६ ॥
जान देहु मोहि स्वामी पास ।
ऐहैां तिनसों कहि इतिहास ॥
सुनि सो बहु गरज्यो भय छावन ।
सपथ करी तब दीनो आवन ॥ ७ ॥
इतनी बात सुनत सो नाहर ।
कहत सचोप[2] कोप करि जाहर ॥
रे खरमति खरगोश अयाने[3] ।
मो सम अपर कहत बिन जाने ॥ ८ ॥
तिहि दिखाउ ता सठ सँग लरिहैां ।
ताहि भच्छि तोहि भच्छन करिहैां ॥
सुनि सो ससक सिंह के सङ्ग ।
चल्यो बिपिनमग पूरि उमङ्ग ॥ ९ ॥

---

१ सिंह । २ ताव के साथ । ३ मूर्ख, नादान ।

कहा कूप लखि बोलत भयो ।
प्रभु वह नाहर या महँ गयो ।
सुनि सो जाय लखी निज छाया ।
अपर जानि मधि कूद नसाया ॥ १० ॥

दोहा ।

इमि मूरख केहरि हन्यों, सस पण्डित बन माहिं ।
यासों जग में बुद्धिबल, सब बल अधिक सदाहिं ॥ २ ॥
बुद्धिमान बिवसहु परे, अनुपम युक्ति बिचारि ।
समय काज साधत सुघर, डारत अबुध बिगारि ॥ ३ ॥

चैापाई ॥

रह्यो महा बन में इक बारन[1] ।
ताके सङ्ग मतङ्ग[2] हजारन ॥
सो ग्रीसम जल बिन दुख पाय ।
भ्रमत लख्यो बन महा तलाय ॥ १ ॥
तहां रोज जल क्रीड़न आवै ॥
जाति वृन्द[3] सों धूम मचावै ॥
ता सर-तट बहु ससक निवास ।
होन लगे ते पद सों नास ॥ २ ॥
बन्धु वर्ग कों लखिके छीन ॥
भए तहां के सस दुखपीन ॥
तब इक वृद्ध रह्यौ तिन माहीं ॥
सो बिचारिके चल्यो तहांही ॥ ३ ॥

---

१ हाथी । २ हाथी । ३ समुदाय, झुण्ड ।

ता सर तट इक परबत सान ।
तहां जाय बैठ्यो मतिमान ॥
जब आयो गज के। समुदाय ।
बोल्यो सब सों सोर मचाय ॥ ४ ॥
अहो मदन्ध मूढ़ गजराज ।
बानी सुन मम सहित समाज ॥
ससक कहैं हम ससि के दूत ।
पठयो हमैं अत्रि के पूत ॥ ५ ॥
सुर अनुसासन कें। सुनि लेव ।
पुनि जो चहौ करौ सो एव ॥
ससक ससी के प्यारे खास ।
नित प्रति करत हृदय में बास ॥ ६ ॥
तिनहिं बधत तुम चरन प्रहार ।
बिनसहिं नितप्रति कैक हजार ॥
सो यह करत महा अघ काम ।
तासों सब जैहैा जम धाम ॥ ७ ॥
जो निज भली चहैा तैा बारन ।
करहु न या सर ढिक पग धारन ॥
ऐसो कह्यो कोपि कै चन्द ।
याके। उत्तर देहु गयन्द[1] ॥ ८ ॥
सुनि गजराज सडर कहि दीन ।
बिन जाने हम यह अघ कौन ॥

---

१ हाथी ।

ससि कों कहहु छमैं अपराधू ॥
हम अति कीनो कर्म्म असाधू ॥ ९ ॥
अब कबहूं नहिं या मग ऐहों ॥
अनत कहूं जल पीवन जैहों ॥
कहत ससा गज हौ अति ज्ञानी ॥
देव देव की आज्ञा मानी ॥ १० ॥
चलहु करावहुं प्रभु को दरसन ॥
जासों होय सकल अघ मरसन[1] ॥
इमि कहि तेहि सर ढिग लै आयो ॥
जल कम्पत बिधु[2] बिम्ब[3] दिखायो ॥ ११ ॥
लखहु कोप कै काँपत ऐसे ।
अबै करत हम सांत बिनैं से ॥
हे ससांक[4] देवन के देव ॥
गज अघ किय जाने बिन भेव ॥ १२ ॥
सो प्रभु क्षमा करहु अपराधु ॥
अब न करैगो करम असाधु ॥
इमि कहि गजहिं फेर लै आयो ॥
बुधि प्रताप गुरुकाल बचायो ॥ १३ ॥

दोहा ।

मानिक मोती हीर अरु , जिते रतन जग माहिं ॥
सब वस्तुन को मोल जग , मोल बुद्धि को नाहिं ॥ ४ ॥

---

१ संशोधन । २ चन्द्रमा । ३ छाया, परिछांई । ४ चन्द्रमा ।

प्रबल सत्रु बहु देखिकै , बुद्धिमान जो होय ।
आपस में झगराय कै , आपु रहै दुख खोय ॥ ५ ॥

चौपाई ॥

मूसक एक रह्यो बन माहीं ।
महासाल को बिटप[1] तहाहीं ॥
इक दिन व्याध पसारयो जाल ।
फँस्यो जाय तहँ बड़ो बिड़ाल[2] ॥ १ ॥
सत्रु बंध्यो लखि प्रमुदित मूसक ।
आय लग्यो तहँ कूदन दूसक ॥
ता छन तहां नकुल[3] इक आयो ।
बैठ्यो चहत आखु[4] कहँ खायो ॥ २ ॥
तरु ऊपर बैठ्यो इक कौसिक[5] ।
मूसहि ग्रसन करन हित औसिक[6] ॥
तिनहिं देखि सो मूस सकानो[7] ।
तीन काल[8] पासहि पहिचानो ॥ ३ ॥
लग्यो बिचारन मन में सोई ।
कैसे अब मम जीवन होई ॥
भूमि रहत तो नकुल चबात ।
खात उलूक तरुहिं जो जात ॥ ४ ॥
छिपत जाल तौ खात बिड़ाल ।
हे बिधि करहु कृपा या काल[9]

---

१ वृक्ष । २ बिलाव । ३ नेवला, न्योर । ४ चूहा । ५ उल्लू । ६ अवश्य । ७ घबराया । ८ मृत्यु, मौत । ९ समय ।

तब विचार सो मूसक ज्ञानी ।
मारजार[1] सों बोल्यो बानी ॥ ५ ॥
तुम सरवज्ञ अहैा मतिमान ।
हम बरनत सो सुनहु सुजान ॥
लखि तुव वचन मोहि दुख दाहत ।
तासों तुमहिं निकारन चाहत ॥ ६ ॥
पै यह शत्रु उभै[2] मम ओर ।
लहैं लखहु तरु अरु बन ठैार ॥
तासों आप अभै जैा देहु ।
तैा हम काज करैं सह नेहु ॥ ७ ॥
बंधन काटि छुटावैं आसु[3] ।
मोहि तजि इनहिं करहु तुम नासु ॥
तब बिलार निज जीवन जानि ।
बोल्यो बानी तिहि सनमानि ॥ ८ ॥
बन्धु कहे तुम नीके बैन ।
मोहि छुड़ावहु तोहि भय है न ॥
मूसक मारजार ढिग गयो ।
जालहिं धीरे काटत भयो ॥ ९ ॥
मूसहि लखि बिलार की गोद ।
गए उलूक नकुल तजि मोद ॥
कहत आखु-अरि जलदी करहु ।
बन्धन काटहु नेकु न डरहु ॥ १० ॥

---

१ बिलाव । २ दोनों । ३ शीघ्र ।

गनपति बाहन कहै सुलच्छन ।
तुम्हिं बिसासै को कुल भच्छन ॥
तासें समय पाय हम तात ।
करब तेहारो बन्धन घात ॥ ११ ॥
इहि बिधि कहत जोति बुधि ठाटत ।
लखत समय कहँ बन्धन काटत ॥
जब आयो व्याधा लै दण्ड ।
काल सरिस कालो बपु चण्ड[1] ॥ १२ ॥
लखि बिलार डरि बोल्यो बैन ।
काटु मित्र नतु प्रान रहै न ।
तबहि काटि दुत[2] बिल में भागो ।
तिमि बिड़ाल भागो भय पागो ॥ १३ ॥

दोहा ।

मूसक बुद्धि प्रताप सों , राख्यो अपनो प्रान ।
तासें पण्डित राखिये , साधन काज महान ॥ ६ ॥
धन्य दूरदरसी मनुज , धन्य प्राप्त कालज्ञ ।
ते अधन्य संसार जे , दीरघ सूत्री[3] अज्ञ ॥ ७ ॥

चैापाई ।

रह्यो गांव में सर इक भारो ।
बरसाकाल अगम तहँ बारो[4] ॥
जेठ मास होवै जल छीन ।
धीवर आय फसावहिं मीन ॥ १ ॥

---

१ भयानक । २ जल्दी । ३ आलसी, शिथिल । ४ जल ।

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जहँ झख[१] बसहिं अनेक प्रकार ।
विज्ञ अज्ञ जिमि जन संसार ॥
तहँ बरखा रितु बीतत जानी ।
कहो दूरदरसी यह बानी ॥ २ ॥
अब इत रहन उचित नहिं भाई ।
चलहु अनत जहं जल अधिकाई ॥
बरखा काल जात सुख पुष्ट ।
आय फंसैहैं धीवर दुष्ट ॥ ३ ॥
तबहि प्राप्तकालज्ञ कहैं इमि ।
अबही सों अकुलात अहो किमि ॥
जबै सबै वह या थल ऐहै ।
तब करिहैं जो उचित दिखैहै ॥ ४ ॥
कहत दीर्घसूत्री यह ऐसे ।
वृथा विचार करत सब कैसे ॥
इति रहिहै तजि करतब धर्म्म ।
जहँ जैहैं तहँ जैहै कर्म्म ॥ ५ ॥
कर्म्म लिखी सब ह्वै यह बात ।
तातें करतब अनुचित तात ॥
बचन दुहन के सुनि ता ठैार ।
गयो दूरदरसी जल ग्रैार ॥ ६ ॥
लघुजल धीवर जाल पसारी ।
फँसे मीन जो रहे दुखारी ॥

---

१ मगर, मच्छ ।

प्राप्त कालवित मति दृढ़ धरिकै ।
रह्यौ जाल को कोन पकरिकै ॥ ७ ॥
जब धीवर सो जाल निकारी ।
तजि कै कोन गयो मधि बारी ॥
मत्स्य दीर्घसूत्री मधि जाल ।
इमि मूरख बिनसहिं ततकाल ॥ ८ ॥

दोहा ॥

ताके दुख सुख आगमहि, देखि कीजिये काम ।
नातरु अति दुख होत है, सोंस धुनत परिनाम ॥ ८ ॥
सठ नर बहुत प्रसंसि कै, मूरख को जग माहिं ।
ताको सरबस हरत हैं, यामें संसै नाहिं ॥ ९ ॥

कुण्डलिया ॥

लै अमृतफल काक इक, बैठा तरु पैं जाय ।
अज्ञ मुदित तेहि देखि तहँ, आयो शिव[1] इक धाय ॥
शिव आयो इक धाय, बैठ तरु तर यह बोलो ।
धन्य काम तुम कामरूप, तव सुकृत अमोलो ॥
मोहि प्यारी तुव गिरा, सुनत फूलों सो मोद गहि ।
बोल्यो तब फल गिरयो, मुदित शिव भाग्यो तेहि लहि ॥

दोहा ॥

इमि मूरख नर बुद्धि बिन, सुनि दुरजन की बात ।
निज हित अनहित भूलिकै, होय नष्ट धन तात ॥ १० ॥

---

१ सियार, गीदड़ ।

मूरख कोउ कारज करै, पूरो एकु न होय।
बुध साधै सब काज कों, बिना प्रयासहिं[1] सोय ॥ ११ ॥

कुण्डलिया ॥

हरि लोहा पञ्जर[2] परयो, तेहि देख्यो इक विप्र।
टेरि करी बिनती घनी, द्विज तेहि काढ़्यो छिप्र[3] ॥
द्विज तेहि काढ़्यो छिप्र, तबै सो चाह्यो भच्छन।
डरि वह बोल्यो अज्ञ, सिंह तुम नीति विचच्छन ॥
हम कीनो उपकार, खान चाहत तुम बनि अरि।
यह कोउ बिधि नहिं उचित, अहै चित में समझहु हरि ॥१॥
मूरख ते दोउ तहँ तबै, करन चहे मध्यस्थ।
चले हरिन पण्डित लख्यो, सो लखि भय्यो अस्वस्थ ॥
सो लखि भय्यो अस्वस्थ, टेरि हरि अभै दई तब।
इमि बोल्यो मृग बिहँसि, बिप्र सो सुनि हवाल सब ॥
मोहि दिखाउ जिमि बँध्यो, रहौ तब कहहु देखि चख।
दुज तिमि किय जब भय्यो, हरिन कहि भागहु मूरख ॥२॥

दोहा ॥

इमि मृग पण्डित ने रख्यो, निज अरु द्विज को प्रान।
खुल कै पुनि बन्धन परयो, नाहर मूर्ख प्रधान ॥ १२ ॥

नासे खल उपकार कहँ, वस्तुहि पाय विचार।
उपकारी अनहित करत, खण्ड खण्ड निरधार ॥ १३ ॥

---

१ श्रम। २ पिंजरा। ३ जल्दी।

दुष्ट साधु रूपहु धरै, करिय नहीं विश्वास ।
तेहि विश्वासं होत दुख, वरनत गिरधरदास ॥ १४ ॥

चौपाई ।

रह्यो वृद्ध बनपति[1] इक बन में ।
कृसतन चलन ताब नहिं तन में ॥
असन हेत वह करि चतुराई ।
बैठो नदी निकट सठ जाई ॥ १ ॥
कुस समेत मनिकङ्कन लै कर ।
निकट पङ्क[2] अति जहँ न कढ़ै नर ॥
इक दुज आवत लखि इमि बोलो ।
लेहु बिप्र यह दान अमोलो ॥ २ ॥
दुज बरनत तुम नर कहँ भच्छत ।
मोहि न प्रतीति होत ढिग गच्छत ॥
बोलो बाघ सांच यह भाई ।
नर नाहर को किमि पतिआई ॥ ३ ॥
हम तो हैं स्वभाव अघकारी ।
जनमहिं सों मृग मनुज अहारी ॥
पै बहु काल गए मोहि बन में ।
मिले वसिष्ठ कृपा करि गन में ॥ ४ ॥
तिन मोहि ज्ञान दियो बर भेव ।
तब सों तजो सकल अघटेव ॥

---

१ सिंह । २ कीच ।

अनसन[1] व्रत करि अब हम बैठे।
तपबल परम जाेति महँ पैठे ॥ ५ ॥
है इक कङ्कन पास हमारे।
देत तुमहिं लखि अधन दुखारे ॥
सुनि दुज अज्ञ लोभ हित धायो।
परयो पङ्क तव केहरि खायो ॥ ६ ॥

दोहा ॥

सिंह छली विश्वास तें, विप्र परयौ ता मुक्ख।
यासों दुष्ट विश्वास कों, करहिं लहहिं ते दुक्ख ॥ १५ ॥
बंधुन में अरु नृपन में, जैसे होय बिरोध।
सो इनकी उनकी करै, दुष्टहि नित यह सोध ॥ १६ ॥

चैापाई ॥

एक दीप के खग को पालक।
रह्यो हंसबर अरिकुल घालक ॥
सो इक दिवस सभा आसीन।
सोभ्यो पच्छिन सह बल पीन ॥ १ ॥
तहँ बक एक आसु चलि आयो।
हंसराज पग सीस नवायो ॥
बैठो नृप की आज्ञा पाय।
तब तासों बोलो खगराय ॥ २ ॥
कहु बक नई देस की बात।
बाेल्यो तब वह वपु अवदात[2] ॥

---

१ अनाहार। २ श्वेत, सफ़ेद।

अहै अपूर्व बारता एक ।
सुनहु करहु पुनि धरि नृप टेक ॥ ३ ॥
मैं देसाटन करत महीप ।
गयो लखन हित जम्बूदीप ॥
फिरत मिले तहँ के खग मोहि ।
ते इमि बोले मो कहँ जोहि ॥ ४ ॥
को तूं बक है कहँ सो आयो ।
तब हम अपनो हाल सुनायो ॥
महाराज को नाम बखानो ।
तिनके देस बसत मोहि जानो ॥ ५ ॥
तब तिन कह्यो मोहि गुन भैान ।
दोउ दीपन में सुन्दर कैान ॥
तब हम कह्यो दीप मम जोई ।
ता सम यह कि छुद्र महि होई ॥ ६ ॥
स्वर्ग अधिक मम देस रसाल ।
इन्द्र अधिक भूपाल मराल ॥
सुनि ते परम कोपि बल छाए ।
नाथ मोहिं मारन हित धाए ॥ ७ ॥
स्वामी मोर मोर महराज ।
तेहि निन्दत पापी सिरताज ॥
कहँ को अहै हंस वह भूप ।
कौन दीप वह स्वर्ग.स्वरूप ॥ ८ ॥

इमि कहि कै बहु विधि दै त्रास।
मोहि लै गए मोर के पास॥
तहं देखे खग वृन्द सुभेख।
सेवहिं प्रभुहिं हरहि जिमि लेख॥ ९॥
गृद्ध वृद्ध इक मन्त्री तासु।
मोहि देखि सो बाेल्यो आसु॥
रे बक हंस भूप तुव जैान।
मन्त्री मुख्य तासु है कैान॥ १०॥
तब हम कह्यो सुनहु खगराज।
चक्रवाक मन्त्री सिरताज॥
सुनि सो कहै ताहि हम जाना।
है मम देसी कोक[1] सयाना॥ ११॥
इतने में सुन बोल्यो ऐसे।
हंसहि खगपति पदवी कैसे॥
केकीपति[2] तुम सनमुख केकी।
समरथ अपर भूप कहिवे की॥ १२॥
तब हम कहा कहा जग माहीं।
एकहि होत और नृप नाहीं॥
जैां मन में घमण्ड अधिकाई।
तैा मम प्रभु सो करहु लराई॥ १३॥
हँसि बोल्यो तब सो खगराज।
कहु निज नृपहि सजै रनसाज॥

---

१ चकवा। २ मोर।

तब हम कह्यो कहत हम जाय ।
तुमहु देहु निज दूत पठाय ॥ १४ ॥
सुनि सो कहत मोर मति भैान ।
दूत होय तित जैहै कैान ॥
गृद्ध कह्यो हैं दूत अनेक ।
विप्र उचित पठवन सविवेक ॥ १५ ॥
तब सिखि[1] सुकहि[2] कह्यो बक संग ।
जाय कहहु नृप चाहत जंग ॥
इमि सुनिकै मयूर की बानी ।
बोल्यो कीर[3] सुनहु विज्ञानी ॥ १६ ॥
हम जैहैं बनि दूत सुढंग ।
पै नहिं यह बक खल के संग ।
खल के संग करै जो साधु ।
बिनसै अवस बिना अपराधु ॥ १७ ॥

दोहा ॥

सज्जन पावत दुःख हैं, पाप करत खल छुद्र ।
रावन ने सीता हरी, बांध्यो गयो समुद्र ॥ १७ ॥

चैापाई ॥

हंस काक इक पादप ऊपर ।
रहत रहे कोउ काक न भू पर ॥
तहां बीर कोउ धनु सर धरे ।
सोइ रहे सोई तरु तरे ॥ १८ ॥

---

१ मोर । २ तोता, सुग्गा । ३ तोता ।

ता मुख धूप परी बिन छाय ।
निरखि हंस उर उपजी दाय ॥
पच्छ पसारि धूप दुख लोपो ।
सो लखि कै खल बायस[1] कोपो ॥ १९ ॥
खुल्यो पथिक मुख लखि बिट[2] करि कै ।
भाग्यो दुष्ट महा डर धरि कै ॥
सो सकोप उठि लख्यो मराल ।
सर हनि हत्यो न जानत हाल ॥ २० ॥
तासों नहिं जैहैां बक संग ।
तब हम तेहि इमि कह्यो सुढंग ॥
सुक तुम मित्र कहत हैा कैसे ।
तब वह हमसों बोल्यो ऐसे ॥ २१ ॥

दोहा ॥

तुमरी दुर्जनता सबै, जाहिर बचन प्रताप ।
जो दोउ नृपवर बैरतरु, बीज रूप हैं आप ॥ १८ ॥

चैापाई ॥

तब मोहि बिदा किये बिधि आछे ।
सुकहू आवत ह्वैहै पाछे ॥
यह सब बात हृदय मह आनिय ।
करिय उचित चित में जो जानिय ॥ २२ ॥
सुनि बक बचन गृद्ध यह बोलो ।
यह खल विग्रह[3] हित महि डोलो ॥

---

१ कौवा । २ विष्ठा, बींट, । ३ लड़ाई ।

वृथा बात मैं कहा लराई ।
पै यह खल सुभाव प्रभुताई ॥ २३ ॥

दोहा ॥

गुरु सिच्छा मानै नहीं, नहीं कोउ सों नेहु ।
कलह करै बिनु बातहीं, मूरख लच्छन एहु ॥ १९ ॥

चौपाई ॥

इतने में सो मोर पठायो ।
कीर मराल द्वार पैं आयो ।
द्वारपाल नै नृप सों भाख्यो ।
हंसन तेहि देखन अभिलाख्यो ॥ २४ ॥
बास करायो दूजे भौन ।
मन्त्री सँग इकान्त किय गौन ॥
तहँ लाग्यो करतव्य बिचारन ।
चक्रवाक तहँ कहत मुदित मन ॥ २५ ॥
प्रथम दुर्ग[1] सजि सब रनसाज ॥
तब दूतहि बोलहु नरराज ॥
सुनि खगेस सारसन बुलाय ।
सजहु दुर्ग यह कह्यो बुझाय ॥ २६ ॥
तब तिन सज्यो दुर्ग को साज ।
कह्यो तयार सबै महराज ॥
इतने में मराल के द्वार ।
आयो वायस को सरदार ॥ २७ ॥

---

१ क़िला, कोट ।

कोटिन काक संग में लिये ।
खगपति मिलनमनोरथ किये ॥
द्वारपाल बरन्यो नृप पास ।
चहो बुलावन हँस अत्रास ॥ २८ ॥
कोक कहै वह थलचर पच्छो ।
नहीं विस्वास जोग परपच्छो ॥
राजा कहै दूर सों आयो ।
समुझि राखिहैं चहिय बुलायो ॥ २९ ॥
तब मन्त्री बोल्यो मन भायो ।
सुकहु बुलावहु दुर्ग सजायो ॥
तब नृप कह्यो भृत्य[1] सों तत्र ।
काक कीर दोउ लावहु अत्र ॥ ३० ॥
तब तो गए हंस के पास ।
बोलो सुक तहँ इमि गत त्रास ॥
हे हे राजहँस कुल दीप ।
हुकुम करत तोहि मोर महीप ॥ ३१ ॥
जो जीवन की इच्छा होय ।
आय चरण मम बन्दहु दोय ॥
जौ जमलोक जान की चाह ।
तौ सजि सैन लरहु खगनाह ॥ ३२ ॥
सुनत हंस वह महा रिसायो ।
काक सुकहि तब मारन धायो ॥

---

१ सेवक ।

मन्त्री कोक धरम गुनि बरज्यो ।
फिरयो दूत सुक हंस बिसरज्यो ॥ ३३ ॥
भूपहि जाय कथा सब बरनी ।
लग्यो मयूर विचारन करनी ॥
तबै सभा महँ मन्त्री गिद्ध ।
बहुत हंस से जय नहिं सिद्ध ॥ ३४ ॥
प्रथम बलाबल सोँचि समस्त ।
तब रन करै होई अरि अस्थ ॥
भूप कहै मम रन उच्छाह ।
भङ्ग करहु जिन पण्डित नाह ॥ ३५ ॥
इमि कहि सोधि लगन दल संग ।
चल्यो लरन हित पूर उमंग ॥
लग्यो हंस का पुर नियराय ।
देर करयो अरि आगम धाय ॥ ३६ ॥
हंस लग्यो तब करन विचार ।
बोल्यो कोक सुनहु सरदार ॥
दूर करहु काकहि मतिमान ।
यह रहि करिहै घात महान ॥ ३७ ॥
सो मराल नहिं मानी बात ।
राख्यो काकहि गुनी न घात ॥
कहत कहहु अब चलि अरि आयो ।
कीजे कहा होय मन भायो ॥ ३८ ॥

कोक कहै जब लौं वह आय।
नहिं घेरै मम दुर्गहि धाय॥
तब लौं वीरन देहु निदेश[1]।
बढ़ि मारैं दल रहैं न सेस॥ ३९॥
बोलि सारिसादिक सैनेस।
बधहु परहिं दिय हंस निदेस॥
ते तब बढ़ि मयूर दल भारी।
कियो खिन्न बहु भट बलधारी॥ ४०॥
दुखित मयूर गिद्ध सों बोलो।
मन्त्री को कर्त्तव्य अमोलो॥
गिद्ध कहै हम प्रथम बखानी।
तब तुम साहस बस नहिं मानी॥ ४१॥
ताको फल यह है महराज।
अब का पूछत करतब काज॥
तब बहु विनय मोर नै करी।
गिद्ध बिहंसि बोल्यो तिहि घरी॥ ४२॥
करहु न भै अरि आलसवन्त।
जै दैहैं तोहि मारि तुरन्त॥
तासों सिघ्र साजि बर सैन।
रोधहु दुर्ग लरहु जगजैन॥ ४३॥
इमि ते दोऊ हंस मयूर।
लरे समर बर रिस धर सूर।

---

१ आज्ञा।

ता छन काग दुष्टता छाय ।
हंस दुर्ग दिय आग लगाय ॥ ४४ ॥
तब सब डरि मराल सैनेस ।
कूद कूद किय बारि प्रवेस ॥
हंस सुभाव मन्दगति आप ।
चलि न सक्यो जो पावै आप[1] ॥ ४५ ॥
सारस सैनापाल सुढङ्ग ।
सोउ रह्यो राजा के संग ॥
हंस कहै तुम प्रविसहु जीवन[2] ।
सारस अपनो राखहु जीवन ॥ ४६ ॥
सैनप कहै जात जहं नाथ ।
जन तन मन धन ताके साथ ॥
तुमहिं त्यागि जैहौं किमि स्वामी ।
हौं[3] सदाहि को हौं अनुगामी ॥ ४७ ॥
इतने में मयूर सैनेस ।
आयो कुक्कुट बली बिसेस ॥
लग्यो हंस को करन प्रहार ।
सारस तेहि आयो बहु बार ॥ ४८ ॥
बहुरि बिकल लखिकै खगराई ।
सैनापति कीनी चतुराई ॥
निज पच्छन अन्तर करि हंस ।
डार्यो सागर खग अवतंस ॥ ४९ ॥

---

१ जल । २ पानी । ३ मैं ।

पुनि लरि ते सेनापति दोऊ।
महि पै परे न जीवत कोऊ॥
स्वामी हित निज त्यागी देह।
धन्य धन्य सारस बुधिगेह॥ ५०॥

दोहा॥

इमि बक कीनी दुष्टता, वृथा कलह अज्ञान।
गयो हंस के राज सब, परपच्छी सनमान॥ २०॥
जो परपच्छी पुरुष को, मनुज करत बिस्वास।
सो पावत द्रुत नास है, जानहु गिरिधरदास॥ २१॥

नीचहिं देइ न उच्च पद, ताको समुझि अजोग।
नीच बढ़ावहिं जे जगत, दुख पावहिं ते लोग॥ २२॥

चौपाई॥

इक मूसक लै निज मुख मीच।
उड़ो काक कोउ अंबर[1] बीच॥
ताके मुख सों मूसक गिरयो।
लखि मुनि हियो दयापन थिरयौ॥ १॥
आखुहि पालि कियो अति पुष्ट।
इक दिन लख्यो बिड़ालहि दुष्ट॥
भागि सभै मुनि के ढिग आयो।
तब तिन ताहि बिडाल बनायो॥ २॥

---

१ आकाश।

इक दिन स्वान देख से डरयो ।
तब मुनि ताकहं कूकुर करयो ॥
सो लखि सिंह भग्यो भय पाय ।
तब दीनो तेहि बाघ बनाय ॥ ३ ॥
ताहि देख मुनि ढिग सब जगजन ।
इहिविधिबिहसिकरहिंसबबरनन ॥
यह मूसक मुनि सिंह बनायो ।
सो सुनि कै वह आखु रिसायो ॥ ४ ॥
इहि विघात चिंत्यो मन माहीं ।
जबलैां यह मुनि मरिहैं नाहीं ॥
तबलों जाय न यह अपवाद ।
तासों चाखहुं मुनितन स्वाद ॥ ५ ॥
यह बिचारि मुनि भच्छन धायो ।
तब तिन पुनि तेहि आखु बनायो ॥
यासों नीचहि बर पद दान ।
उचितनहिंचितगुनहुसुजान ॥ ६ ॥

दोहा ॥

बहुत लोभ करिये नहीं, कीने होत बिनास ।
लालच सों दुखमूल है, बरतन गिरिधरदास ॥ २३ ॥

कुण्डलिया ॥

दुरमति लोभी ऊंट इक, तपि बिधि सों बर लीन ।
ग्रीवा भोजन चार की, हरख्यो बुद्धि बिहीन ॥

हरख्यो बुद्धिविहीन, बैठि बन के फल चाखै ।
सैन करहि जब तबहि, ग्रीव कन्दर महं नाखै ॥
इक दिन तामधि स्यार, लग्यो गर काटन द्रुतगति ।
जबलौं काढ़ै कंठ, मर्यौ तबलों वह दुरमति ॥ २४ ॥

दोहा ॥

यासों लोभ करियै नहीं, जामें विपति अपार ।
लोभी को बिस्वास नहीं, करै कोउ संसार ॥ २४ ॥

बन्धु बन्धु जहां परस्पर, मूरख करहिं विरोध ।
तहां छली परि मध्य में, हरहिं धनहिं अघसोध ॥ २५ ॥

कुण्डलिया ॥

मग पूआ की पोट इक, परी रही बन माहिँ ।
द्वै सिंहन नै सो लही, झगरे अबुध तहांहिं ॥
झगरे अबुध तहांहिं, जौन जीतै सो पावै ।
दोऊ घायल लरि परे, ताब नहिं कौन उठावै ॥
तिनकी लखि यह दसा, आय तिन मध्य स्वानठग ।
लै भागो सो पोट, परे रहि गए दोऊ मग ॥ १ ॥

दोहा ॥

सात दीप अरु सिंधु सब, मन्दर मेरु पहार ।
सेसहिं इतो न भार है, जितो कृतघ्नी भार ॥ २६ ॥
नहीं कृतघ्नी को कबहुं, मनुज करै बिस्वास ।
दुख पावत बिस्वासि कै, व्याल पालि जिमि पास ॥ २७ ॥

चैापाई ॥

रह्यो कृतघ्नी इक द्विज दुष्ट ।
हिंसक पाप करम रत पुष्ट ॥
सो इक दिन मारत बहु जीव ।
निकरि गयो बन में अघसींव ॥ १ ॥
तहं इक राजहंस गुनगैन ।
दुजहि देखि यह बोल्यो बैन ॥
आपु बिप्र मम धाम पधारे ।
आज अहैं धन भाग हमारे ॥ २ ॥
तातें रहहु कछुक दिन पास ।
तब ता नै नित कियो निवास ॥
हंस दुजहि भोजन करवायो ।
सब बिधि मोद दियो मन भायो ॥ ३ ॥
बहु दिन रहि द्विज चाह्यो जान ।
हंस देखि तब कह्यो सुजान ॥
जो इच्छा होवै सो लेहु ।
तब तुम जावु आपुने गेहु ॥ ४ ॥
दुज बोल्यो मो कहँ धन दीजै ।
हंस कहै मन इच्छित लीजै ॥
मेरा मित्र निसाचर अहै ।
इत सो वह जोजन पर रहै ॥ ५ ॥
ता ढिग जाय महा धन लेहु ।
सुनि द्विज तहां गयो सह नेहु ॥

जाय लई मनि अपुने भार।
आयो बहुरि हंस आगार॥ ६ ॥
कह्यौ आजु निसि रहि तुव भैान।
भोर मित्र मैं करिहैां गैान॥
तब तेहि सादर राख्यो हंस।
सोयो रैन अघोअवतंस॥ ७ ॥
मन में बिप्र बिचारयो ऐसे।
असन बिना मग कढिहैां कैसे॥
है यह खग सुमांस अरु पुष्ट।
इमि बिचार तेहि मारयो दुष्ट॥ ८ ॥
चल्यो प्रात लै धन की मोट।
मृतक हंस सह ब्राह्मण खोट॥
तहां मराल लख्यो निजिचारी।
आय मित्र की दशा निहारी॥ ९ ॥
जानि मित्र पापी को करम।
मग तेहि जाय हन्यो गुन धरम॥
कियो बिलाप मित्र हित भारी।
तबहि तहाँ आए पविधारी[१]॥ १० ॥

दोहा॥

मरा मराल धरा[२] परा, ब्राह्मण दुष्ट समेत।
रोवत देख्यो राक्षसहि, मित्र धरम धुर हेत॥ २८॥

---

१ राजा इन्द्र। २ पृथ्वी।

चौपाई ॥

अमृत डारिकै अंस जिवायो ।
उठि निसिचर को कंठ लगायो ॥
मृतक विप्र लखि बोल्यो ऐसे ।
दुज मम सखा मर्यो यह कैसे ॥ ११ ॥
बहु प्रकार वासव[1] सों कही ।
तब तिन दुजहि जिवायो सही ॥
उठ्यो विप्र लखि हंस सुजान ।
अङ्क लाय किय रुदन महान ॥ १२ ॥
कीनो बिदा पूजि बहु सोय ।
आयो गृह दुज लज्जित होय ॥
तब सक्रादि सबै सुरवृन्द ।
कहो हंस की जै सानन्द ॥ १३ ॥

दोहा ॥

हंस इतो नेकी करी, तऊ बिप्र अघ कोन ।
याही सो न कृतघ्नि को, बिस्वासहिं मतिपीन ॥ २९ ॥
दुज दुरजन अनहित कर्यो, मस्तक छेदन जोग ।
खग सज्जन हितही कर्यो, धन धन सज्जन लोग ॥ ३० ॥

मूरख सिच्छा ना करिय, कबहुं सुबुध मन सोध ।
हित बातहिं मानै नहीं, उलटी करहि बिरोध ॥ ३१ ॥

---

१ राजा इन्द्र ।

चौपाई ।

रह्यो महा बट तरु बन माहीं ।
निवसहिं खग रचि नोड[1] तहाहीं ॥
एक समय बरषा के काल ।
भई बिपिन में वृष्टि बिसाल ॥ १ ॥
ता तरु पै कपोत[2] बहु ताते ।
रहे मुदित खोते महँ सोते ॥
बानर वृन्द अबुध बिन धाम ।
इत उत फिरत न सुखमय ठाम ॥ २ ॥
खड़े भए तहँ तरु ढिग आय ।
कम्पित गात दुखी समुदाय ॥
सो लखि दया पच्छियन लागी ।
बोले बचन कपिन अनुरागी ॥ ३ ॥
बानर तुम मृग मण्डन सुच्छ ।
नर सम विग्रह अधिकी पुच्छ ॥
किमि ऐसे बन फिरत बिहाल ।
नहिं घर बिरचत सुख सब काल ॥ ४ ॥
देखहु हम खग सब विधि हीन ।
चोंचन तृन बटोरि घर कीन ॥
तासों कोउ बिधि धाम बनाय ।
सुख सों निवसहु दुख सब जाय ॥ ५ ॥

---

१ घोंसला, खोता । २ कबूतर ।

सुनि मूरख कपि हित नहिं माने ।
हँसी करत समुझे रिसियाने ॥
बरसा काल बिगत सठ धाए ।
तोरि खगन के नीड गिराए ॥ ६ ॥

दोहा ॥

तासों मूर्ख न सिच्छियै, उलटो करत बिगार ।
नास्तिक हित उपदेश सों, खण्डन हेत तयार ॥ ३१ ॥

विदुरनीति * ॥

कर्म लिखो सो होय है, यह सम्मति निर्धार[१] ।
पै अपने भरिसक करिय, कुल रच्छन व्यवहार ॥ १ ॥
तासों चित दे सुनहु नृप, राजनीति सह प्रीति ।
पुनि मन इच्छत कोजियो, जिमि न होय अरिभीति[२] ॥ २ ॥
जो नृप बूझि बलाबलहि, करत समर[३] अरु साम[४] ।
सो पावत सुख जगत में, नातरु दुख परिनाम ॥ ३ ॥
कोउ काज आरम्भिए, करिये प्रथम विचार ।
सब प्रकार दृढ़ समुझि तब, तेहि करिये निर्धार ॥ ४ ॥
राजा सोहत राज सों, सोहत नृप सों राज ।
वन वनपति[५] सों सोहतो, वन सों वनपति भ्राज ॥ ५ ॥

---

* बाबू गोपालचन्द्र लिखित ।

१ निर्धारण, निश्चय, निर्णय । २ शत्रु का भय । ३ संग्राम । ४ संधि, मेल मिलाप । ५ वनस्पति ।

कुत्सित नृप को सङ्ग लहि, पावत प्रजा बिनास ।
गोहूं सँग घुन पिसत जिमि, बरनत गिरिधरदास ॥ ६ ॥
नरपति नसत कुमन्त्र[1] सों, साधु कुसंगहि पाय ।
विनसत सुत अति प्यार सों, द्विज बिन पढ़े नसाय ॥ ७ ॥
बारनारि[2] लज्जा सहित, लाज रहित कुलनारि ।
दुज असुष्ट संतुष्ट नृप, ए सब नष्ट बिचारि ॥ ८ ॥
मन्त्रवान विख एक कोँ, नासत किए प्रयोग ।
नसत देस सब आसुही[3] नृप कुमन्त्र के जोग ॥ ९ ॥
सोखत पोखत जलहि जिमि, समय पाय कै सूर[4] ।
तिमि प्रजान बरतै नृपति, दोउ दिसि सुख भरपूर ॥ १० ॥
करै न बंधुबिरोध कों, बिपति जान परिनाम ।
बंधुबैर रावन मरयो, सो नृप होय न छाम ॥ ११ ॥
आमद सों कमती खरच, राखै समुझि नृपाल ।
सो अति सुख पावै सुमति, बाढ़ै, कोस बिसाल ॥ १२ ॥
जो अरि[5] प्रबल निहारियै, मिलि जैयै हित होय ।
समय पाय तिहि नासियै, बलि बासव[6] गति जोय[7] ॥ १३ ॥
अरि अरि कों लरवाय कै, लखिय तमासो आप ।
तिनके बिनसे जाय दुख, जिमि बिन प्राच्छित पाप ॥ १४ ॥
पावक बैरी रोग रिन, सेसहु राखिय नाहिं ।
ए थोड़े हू बढ़हिं पुनि, महा जतन सों जांहि ॥ १५ ॥

---

१ खोटी सम्मति । २ वेश्या, गणिका । ३ शीघ्रही । ४ सूर्य्य । ५ शत्रु । ६ राजा इन्द्र । ७ देखकर ।

कुल राखिय तजि एक कों, कुल तजि राखिय ग्राम ।
देश हेत ग्रामहि तजिय, आतम हित सब ठाम ॥ १६ ॥
अब बरनत नृप आदि के, लच्छन कुरुकुलदीप ।
भलो बुरो जाने जतन, जाहि जतन अवनीप[1] ॥ १७ ॥

राजा लक्षण ॥

सावधान निज राज में, हित अनहित पहिचान ।
पर छिद्रहि जो लखत सो, नृप सत्तम[2] बुधिवान ॥ १८ ॥
अलस[3] प्रमादी[4] राग गति, नीत न देखत जौन ।
डर सद[5] असद[6] बिबेक नहिं, अधम अवनिपति तौन ॥ १९ ॥

मन्त्री लक्षण ॥

स्वामीहित इच्छासहित, सावधान सब कार ।
राखै प्रजा समोद सो, मंत्रिन को सरदार ॥ २० ॥
जो लालचमय भीरु सठ, स्वामी हितहि न चाह ।
सो मन्त्रिन में अधम तेहि, नहिं राखै नरनाह ॥ २१ ॥

सेनापति लक्षण ॥

शस्त्रशास्त्र जानै सबै, व्यूहादिक[7] में दच्छ[8] ।
स्वामी हित इच्छत सोई, सेनपाल है स्वच्छ ॥ २२ ॥
हृदय भीरु जानै नहीं, आयुध[9] को व्यवहार ।
सो सेनापति अधम तेहि, नहिं राखै सरदार ॥ २३ ॥

---

१ राजा । २ अति उत्तम, श्रेष्ठतम । ३ आलसी । ४ असावधान । ५ भला ६ बुरा । ७ सेना का क्रम से सजाना इत्यादि । ८ दक्ष, चतुर । ९ शस्त्र ।

शूर लक्षण ॥

बीर बली दुस्समन समन; मुरै न शत्रु हजूर।
तृनसम असु[1] जसु[2] रतन सम, जौ समुझै सो सूर ॥ २४ ॥

कादर लक्षण ॥

समरसस्त्र सन्मुख निरखि, तकै भीत[3] भरि नैन।
सो कादर संसार में, आदर जोग अहै न ॥ २५ ॥

कामदार लक्षण ॥

जतन करत नित उदय को, स्वामी सुखद अनन्त।
जलधन धरन बढ़ावतो; कामदार बुधिवन्त ॥ २६ ॥
निज हित चाहत पापमति, आलस स्वामी काम।
नासै बित्त[4] बिचार बिन, कामदार अघधाम ॥ २७ ॥

दानाध्यक्ष लक्षण ॥

धर्मवन्त लालच रहित, पण्डित मूर्ख बिबेक।
दानाध्यक्ष प्रधान सो, चहै भूप को नेक ॥ २८ ॥
अबिबेकी कलही कुटिल, मूरख लालचवंत।
ऐसो दानाध्यक्ष नहिं, करहिं चतुर छितिकन्त[5] ॥ २९ ॥

उपरोहित लक्षण ॥

वेदविज्ञ पण्डित सुघर, धर्मशास्त्र संपन्न।
नृपहित चतुर विवेकमय, सो उपरोहित[6] धन्न ॥ ३० ॥
मूरख धर्म विवेक नहिं, निज पूजा सें काम।
सो उपरोहित अधम है, वंचक[7] ताको नाम ॥ ३१ ॥

---

१ प्राण। २ यश, कीर्ति। ३ भय, डर। ४ धन। ५ राजा।
६ पुरोहित। ७ ठग।

दूत लक्षण ॥

बाकचतुर बुधिमान बर, कहै यथारथ जौन ।
गिरिधरदास बखानिये, दूत सिरोमनि तौन ॥ ३२ ॥
भय सों स्वामि सँदेश, जो कहि न सकै पर पास ।
अपटु[1] लालची दूत सो, तजिये गिरिधरदास ॥ ३३ ॥

सेवक लक्षण ॥

चेष्टा[2] में मन को गुनै, करै अचल ह्वै काज ।
ऐसो सेवक चाहियै, सुखी होय नर राज ॥ ३४ ॥
प्रभु इच्छा बूझै नहीं, करै और को और ।
सो सेवक में अधम है, धूर्तन को सिरमौर ॥ ३५ ॥

सारथी लक्षण ॥

परसर[3] वारै[4] चालि रथ, शत्रु दाहिने होय ।
आपुहि रथिहि बचावई, श्रेष्ठ सारथी सोय ॥ ३६ ॥
जो रनभीरु अबूझ गति, करि न सकत बस मीच ।
बारि सकत परघात[5] नहिं, तौन सारथी नीच ॥ ३७ ॥

वैद्य लक्षण ॥

वृद्ध होय सुन्दर सदय, आयुरवेद निधान ।
देस काल आकृति गुनै, सो है वैद प्रधान ॥ ३८ ॥
नहि निदान[6] जाने कछू, नहिं जानै उपचार[7] ।
वृथा तर्क करि असु हरै, अधम वैद्य निर्धार ॥ ३९ ॥

गवैया लक्षण ॥

जानै राग विभेद अरु, सुरतालादिक ज्ञान ।
सचमन मोहत बिधि धरे, गायक सोइ सुजान ॥ ४० ॥

---

१ मूर्ख । २ प्रयत्न, उद्योग, काम । ३ शत्रुओं के बाण । ४ निवारै, दूर करै । ५ शत्रुओं का आघात । ६ रोग का मूल कारण । ७ चिकित्सा, इलाज ।

राग रूप जानै नहीं, नहिं सुरताल मिलाप ।
सो गायक महँ अधम है, निज इच्छा आलाप ॥ ४१ ॥

कवि लक्षण ॥

अलंकार रस नायका, छन्द लक्षणा व्यंग ।
जो जानै प्रस्तार सब, सो कवि गुनिय सुढंग ॥ ४२ ॥
छन्द रीति ना जानई, नहिं साहित को ज्ञान ।
निज इच्छित कविता रचै, सो कवि अधम प्रमान ॥ ४३ ॥

ज्योतिषी लक्षण ॥

ज्योतिष विद्या में निपुन, प्रश्न बखानै सत्त ।
गणित किये हस्तामलक, जो जोतिषी महत्त ॥ ४४ ॥
नहीं गणित सिद्धान्त नहिं, जानै प्रश्न विधान ।
है नक्षत्र सूची सोई, अधम ज्योतिषी जान ॥ ४५ ॥

पण्डित लक्षण ॥

सास्त्र विसारद चलन जग, सास्त्र उक्त व्यवहार ।
जानत आगम निगम सब, सो पण्डित निरधार ॥ ४६ ॥

मूर्ख लक्षण ॥

हित अनहित बूझै नहीं, पढ़यों न सास्त्र कुचाल ।
करत काज आतुर अपटु, सो है मूर्ख बिसाल ॥ ४७ ॥

लेखक लक्षण ॥

प्रकृत[1] कहै सारथ गुनै, दिव्य पंक्ति पर लेख ।
सो उत्तम लेखक अहै, सास्त्र निपुन सुचि भेख ॥ ४८ ॥
अर्थ न जानै शब्द को, लिखै प्रमादी होय ।
अच्छर सुन्दरता नहीं, लेखक निन्दित सोय ॥ ४९ ॥

---

१ यथार्थ, ठीक, स्पष्ट, ज्यों का त्यों ।

गुरु लक्षण ॥

सकल सास्त्र सारहि गुनै, लोभ रहित व्यौहार ।
सिष्य हितहि चाहै सदय, सदगुर सो निरधार ॥ ५० ॥
सिष्य धनहि चाहै हरन, नहिं विवेक नहिं ज्ञान ।
बूड़ै चेला सङ्ग लै, सो गुरु अधम प्रमान ॥ ५१ ॥

शिष्य लक्षण ॥

गुरु बानी विश्वास दृढ़, बिसन रहित मतिमान ।
गुरु सेवा निसि दिन करै, सिष्य सोइ सज्ञान ॥ ५२ ॥
नहिं गुरु वचनहिं आदरै, श्रद्धा गुरु मैं नाहिं ।
नहिं जानै करतव्य सो, सिष्य अधम जग माहिं ॥ ५३ ॥

आस्तिक लक्षण ॥

वेद शास्त्र विश्वास अरु, गुरु के बचन प्रमान ।
चले रहनि लै साधु की, सो आस्तीक प्रधान ॥ ५४ ॥

नास्तिक लक्षण ॥

श्रुति शास्त्रन खण्डन करै, करि कुतर्क बहु मूढ़ ।
निज इच्छित पथ चलत सो, नास्तिक अघ आरूढ़ ॥ ५५ ॥

बन्धु लक्षण ॥

नरपति हित चाहै सदा, देत सबै थल संग ।
नहिं लालच नहिं छल सोई, उत्तम बन्धु सुढंग ॥ ५६ ॥
मिल्यो रहत निज प्राप्ति हित, दगा समय पै देत ।
बन्धु अधम तेहि कहत हैं, जा के सुख पर हेत ॥ ५७ ॥

स्त्री लक्षण ॥

रूपवती लज्जावती सीलवती मृदु बैन ।
तिय कुलीन उत्तम सोई, गरिमाधर[1] गुन ऐन ॥ ५८ ॥

---

१ बड़ाई रखने वाली ।

अतिचञ्चल नित कलह रुचि, पति सों नाहिं मिलाप।
सो अधमा तिय जानियै, पाइय पूरन पाप॥ ५९॥

पुत्र लक्षण॥

पितु अज्ञा तत्पर सदा, चलत आप कुल चाल।
पण्डित विज्ञ[1] बिनीत[2] सो, उत्तम सुत नरपाल॥ ६०॥
जनक बचन निदरत निडर, बसत कुसंगति माहिं।
मूरख सो सुत अधम है, तेहि जनमें सुख नाहिं॥ ६१॥

मित्र लक्षण॥

सुख दुख अति विग्रह विपति, यामें तजै न संग।
गिरिधरदास बखानिये, मित्र सोई बरढंग[3]॥ ६२॥
सुख में सँग मिलि सुख करै, दुख में पाछो होय।
निज स्वारथ की मित्रता, मित्र अधम है सोय॥ ६३॥

सुहृद लक्षण॥

आपु करै उपकार अति, प्रति उपकार न चाह।
हियरो कोमल सन्त सम, सुहृद सोइ नरनाह॥ ६४॥

सज्जन लक्षण॥

मनसों जग को भल चहै, हिय छल रहै न नेक।
सों सज्जन संसार में, जाको बिमल विवेक॥ ६५॥

दुरजन लक्षण॥

बिन कारन संसार सों, वैर करै अघपुष्ट।
सुख मानै परहानि में, सो है दुरजन दुष्ट॥ ६६॥

---

१ प्रवीण। २ नम्र, सुशील। ३ अच्छे ढंगवाला।

ब्राह्मण लक्षण ॥

सम[1] दम[2] त्याग[3] बिराग तप[4], सीलवन्त श्रुतिवन्त[5] ।
ज्ञान जुक्ति सों जुक्त जो, सो दुज दुजकुलकन्त ॥ ६७ ॥
दम्भजुक्त पाखाण्डमय, संध्या कर्म बिहीन ।
बिप्र अधम सो जानियै, मारन आदि प्रवीन ॥ ६८ ॥

क्षत्री लक्षण ॥

दानधीर रनधीर पुनि, आतिक वर धरमिष्ट[6] ।
तेज सूरता जस सहित, सो छत्रिन में सिष्ट[7] ॥ ६९ ॥
रनकायर मिथ्याबचन, मिथ्याहिंसक जौन ।
नीतिअपटु छत्रीन में, अधम जानिये तौन ॥ ७० ॥

वैश्य लक्षण ॥

धनी चतुर व्यवहार में, शास्त्रनिपुन मतिवन्त ।
सत आदर कर्त्ता सुरुचि , वैश्य सोइ बुधवन्त ॥ ७१ ॥
नहिं जानत व्यवहार जो , नहीं शास्त्र में नेहु ।
छल कर परधनहरन रत , वैश्य अधम गुनि लेहु ॥ ७२ ॥

शूद्र लक्षण ॥

सेवा तीनहुं बरन की , करै अछलचित होय ।
जथा लाभ प्रिय लोभहत , सूद्र श्रेष्ठ है सोय ॥ ७३ ॥
अपनो धरमहिं त्यागि सठ, वृथा विडम्बन और ।
नहीं देव द्विज भक्ति सो , शूद्र अधम सिरमौर ॥ ७४ ॥

---

१ मन का शमन । २ इन्द्रियों का दमन । ३ धन को अच्छे काम में व्यय करना । ४ मानसिक और शारीरिक परिश्रम । ५ वेदपाठी । ६ धर्म्म में श्रद्धा रखने वाला । ७ उत्तम, श्रेष्ठ ।

ब्रह्मचारी लक्षण ॥

गुरु अज्ञा ततपर सदा, विद्या बर अभ्यास ।
श्रेष्ठ ब्रह्मचारी सोई, , बरनत गिरिधरदास ॥ ७५ ॥
नहिं गुरु की अज्ञा करै, नहिं विद्या अभ्यास ।
ब्रह्मचारि सो अधम है, चहै सुभोजन बास ॥ ७६ ॥

गृहस्थ लक्षण ॥

देव पितर ऋषि अतिथि द्विज, पूजै सहित बिबेक ।
उत्तम सोइ गृहस्थ है, गृह लम्पट नहिं नेक ॥ ७७ ॥
नहिं पूजत सुर पितर अरु, द्विज अतिथिहि नहिं देय ।
सदा रक्त[1] तिय सुतन में, अधम गृही है सेय ॥ ७८ ॥

वानप्रस्थ लक्षण ॥

बन निवास आचरन सह, फलमूलादि अहारु ।
नहीं करै फल बासना, बानप्रस्थ सो चारु ॥ ७९ ॥
रहत बिपिन गृह चित रम्यो, नहिं बस जोभ उपस्थ ।
बानप्रस्थ सो नष्ट है, जासु नहीं मन स्वस्थ ॥ ८० ॥

संन्यासी लक्षण ॥

ब्रह्म रूप ब्रह्महि जपत, ममता मोह बिहीन ।
सो संन्यासी श्रेष्ठ है, उदासीन मतिपीन ॥ ८१ ॥
इच्छा डोलत बहु फलहिं, नहिं उर आनत ज्ञान ।
सो संन्यासी नष्ट है, ता हित नरक महान ॥ ८२ ॥
इमि सुनि छत्ता[2] के वचन, बोल्यो प्रज्ञानैन[3] ।
और नोति बरनहु बिदुर, चारि बरन सुख दैन ॥ ८३ ॥

---

१ अनुरक्त, आसक्त । २ विदुर । ३ धृतराष्ट्र ।

तबहिं बिदुर निर्नीत चित[1] सब बिधि धर्म सरूप।
बिहंसि बचन बोलत भये, सुनिये कुरुकुलभूप ॥ ८४ ॥

उद्यम कीजै जगत में, मिलै भाग्य अनुसार।
मोती मिलै कि संख कर[2], सागर गोता मार ॥ ८५ ॥

बिन उद्यम नहिं पाइये, कर्म लिख्योहू जौन।
बिन जलपान न जायहै, प्यास गंगतट भौन ॥ ८६ ॥

उद्यम हित आलस्य करि, बसै संग तब ग्राम।
हितसें हितकरि सुख लहै, अरिसें हित मतिबाम ॥ ८७ ॥

उद्यम में निद्रा नहीं, नहिं सुख दारिद माहिं।
लोभी उर सन्तोष नहिं धीर अबुध में नाहिं ॥ ८८ ॥

संन्यासी उद्यम सहित, उद्यम रहित महीप।
ए तीनों हैं नष्ट जग, पवन सेंह को दीप ॥ ८९ ॥

धन उपारजन कीजिये, बिनसहिं दोष अनेक।
विद्यावन्त कुलीन सब, भजहिं धनहिं करि टेक ॥ ९० ॥

सून सदन सन्तान बिन, दिसा वन्धु बिन सून।
जीवन सूनो बिन पढ़े, सरब सून धन ऊन ॥ ९१ ॥

सुमति धर्म आचार गुन, मान लाज व्यवहार।
ए सब जात दरिद्र सें, समुझहु नृपति उदार ॥ ९२ ॥

सुख दरिद्र सें दूर है, जस दुरजन सें दूर।
पथ्यचलन सें दूर रुज, दूर सीतलहि सूर ॥ ९३ ॥

धनहिं राखियै बिपतिहित, तिय राखिय धन त्यागि।
तजियै गिरिधरदास दोउ, आतम के हित लागि ॥ ९४ ॥

---

१ निश्चित है चित्त जिनका अर्थात् जिनके चित्त ने समस्त शास्त्रों के सिद्धान्त का निर्णय कर लिया है। २ हाथ।

सधन होय कै अधन पै, सुबुध तजै नहिं धीर ।
चिन्ता कोउ बिधि ना करै, उर राखै बलबीर ॥ ९५ ॥

चिता अधिक चिन्ता अहै, दहै देह सब काल ।
यासों चिन्ता ना करिय, धरिय धीर हर हाल ॥ ९६ ॥

चिन्ता जर है नरन कों, पट जर रवि नभ सोय ।
जर गृहस्थ कों बांझपन, तिय जर कन्त अछोह ॥ ९७ ॥

करत क्रोध जो बूझ बिन, पाछे पावत ताप ।
तासों क्रोध न कीजिये, नीति बिचच्छन[1] आप ॥ ९८ ॥

उचित लोभ अप्रमान नहिं, कोने होत बिनास ।
लालच सब दुख मूल है, बर्णत गिरिधरदास ॥ ९९ ॥

लोभ सरिस अवगुन नहीं, तप नहिं सत्य समान ।
तीरथ नहिं मन सुद्धि सम, विद्या सम धन जान ॥ १०० ॥

लघुपन कृसपन कुटिलपन, कहुं कहुं नीको जान ।
दंत कमर कच[2] में जथा, जाहिर चारु जहान ॥ १०१ ॥

जामें गुन अवलोकियै, करिय ताहि स्वीकार ।
बाल बचन हूं करिय जो, होय नीति अनुसार ॥ १०२ ॥

सब जीवन के गुनन को, देखि करिय स्वीकार ।
अवगुन त्यागिय करहिं बुध, तरु तजि फल आहार ॥ १०३ ॥

वर सम्बन्ध कुलीन सों, रूपवंत कहँ त्यागि ।
तजि नृप द्विज पुत्रहिं बरै, द्विज कन्या अनुरागि ॥ १०४ ॥

करिय बरोबर मनुज सों, वैर व्याह व्यवहार ।
घट बढ़ में रस ना रहै, समुझहु नर भरतार ॥ १०५ ॥

---

१ विचक्षण, निपुण, चतुर । २ केश ।

जेते जग में मनुज हैं, राखै सब सों हेत ।
को जानै केहि काल में, बिधि काको सँग देत ॥ १०६ ॥

सकल वस्तु संग्रह करै, आवै कोउ दिन काम ।
बखत परे पै ना मिलै, माटी खरचे दाम ॥ १०७ ॥

जे बिचार बिन करत हैं, ते पाछे पछितात ।
तासों काज बिचारि कै, तबहिं कीजिये तात ॥ १०८ ॥

कारज करिय बिचारि कै, कर्म लिखी सोइ होय ।
पाछे उपजै ताप नहिं, निन्दा करै न कोय ॥ १०९ ॥

महा बिटप कों सेइयै, सुख उपजत अवनीस ।
जो न दैवबस फल मिलै, छांह रहै तो सीस ॥ ११० ॥

पुन्य करिय सो नहिं कहिय, पाप करिय परकास ।
कहिबे ते दोउ घटत हैं, बरनत गिरिधरदास ॥ १११ ॥

असनं उचित सत[1] काज तजि, सहस त्यागि असनान ।
लाख काज तजि दान दै, कोटि त्यागि हरिध्यान ॥ ११२ ॥

सुन्दर दान सुपात्र को, बढ़ै सुक्क ससि तूल ।
आछे खेतहि बीज जिमि, उपजत आनँद मूल ॥ ११३ ॥

दीनो दान कुपात्र कों, विद्या धूर्तहि दीन ।
राखी में होम्यों चरुहि[2], फलीभूत नहिं तीन ॥ ११४ ॥

श्राद्ध हीन बिन मंत्र के, यज्ञ हीन बिन दान ।
हीन सुरार्चन भाव बिन, दान हीन बिन मान ॥ ११५ ॥

कंकन नूपुर पान सों, नहिं कर पद मुख सोह ।
दान तीर्थ हरिभजन सों, सोहत सुख अन्दोह ॥ ११६ ॥

---

१ सौ, १०० । २ होम करने की सामग्री ।

सद् कविता सद् पुत्र अरु, कूपादिक निरमान।
इनसें नर को रहत है, जाहिर नाम जहान ॥ ११७ ॥

धन दै लोभी करिय बस, छलकरि सठ हठ ऐन।
कूर बिनय सों करिय बस, सूरहिं कहि सत[1] बैन ॥ ११८ ॥

कुल गुनियै आचार लखि, गुनिय बचन सों देस।
भोजन लखिकै बल गुनिय, पटुता लखि कै बेस ॥ ११९ ॥

भय लज्जा गुन चतुरता, धर्म सील नहिं जत्र।
पंडित पुरुष बिचारकै, बास करै नहिं तत्र ॥ १२० ॥

नृप सज्जन पंडित धनी, नदी वैद निज जात।
ए जा पुर में होहिं नहिं, तहां न बसिये रात ॥ १२१ ॥

राजा सँग बहु बोलिबो, पन्नग को खिलवार।
सरि[2] तरिबो नित प्रति वृथा, दिन दिन विपत अपार ॥१२२॥

सत्य सुमति धीरज धरम, बंधु मित्र सुत नारि।
आपत में परखय इनहिं, गिरिधरदास बिचारि ॥ १२३ ॥

तिय सुत सेवक सिष्य गुन, जदपि प्रसंसा योग।
तदपि प्रसंसहि ताहि नहिं, ता सन्मुख बुध लोग ॥ १२४ ॥

गिरिधरदास बिचार उर, तीनहि बोरिय नीर।
धनी सूम निर्धन अतप[3], विद्यावंत अधीर ॥ १२५ ॥

तरवर फूल्यो बिपिन में, मित्र उदय परदेस।
ए दोउ काम न आवहीं, समझहु सत्य नरेस ॥ १२६ ॥

सुहृद बंधु परदेस में, धन ताला के माहिं।
विद्या पुस्तक मध्य ए, समय सम्हारै नाहिं ॥ १२७ ॥

---

१ उत्तम। २ नदी। ३ अतपस्वी, अपरिश्रमी, अनुद्योगी।

मित्र सोई जहँ कपट बिन, बन्धु सोइ हित होय ।
देश सोई जहँ जीविका, मन रुचिकर तिय सोय ॥ १२८ ॥

द्वै पावक तन दहन गुनि, तजै सुबुध करि सोध ।
निर्धन को बहु कामना, निरबल को बहु क्रोध ॥ १२९ ॥

यज्ञ असत सों नास है, राज कुमति सों नास ।
नास कहे सो दान फल, पूजन बिन बिस्वास ॥ १३० ॥

जासु राज सो नृप जियत, गृही जियत तियवन्त ।
जेहि विद्या सो नर जियत, सदा जियत जसवन्त ॥ १३१ ॥

नृपति मृतक बिन राज को. विप्र मृतक बिन कर्म ।
धन बिन मृतक गृहस्थ है, जती मृतक बिन धर्म ॥ १३२ ॥

खेती जल बिन नष्ट है, जियन नष्ट तन कष्ट ।
प्रजा नष्ट राजा बिना, नृप मन्त्री बिन नष्ट ॥ १३३ ॥

सैन नष्ट बिन बीर के, बीर नष्ट बिन धीर ।
धीर नष्ट उत्तालपन, ताल नष्ट बिन नीर ॥ १३४ ॥

नगर नष्ट सरिता बिना, धाम नष्ट बिन कूप ।
पुरुष नष्ट बिन सील के, नष्ट नारि बिन रूप ॥ १३५ ॥

नष्ट रूप बर बसन बिन, नष्ट असन बिन लौन ।
नष्ट सुमति बिन राजगृह, नष्ट वास बिन भौन ॥ १३६ ॥

राज मन्त्र अरु मन्त्र जपु, नींद एकाकी होय ।
मिष्ट खान में गान में, पथहि उचित नर दोय ॥ १३७ ॥

प्रजा मूल राजा अहै, जनम मूल है कर्म ।
प्रकृति मूल संसार है, छमा मूल है धर्म ॥ १३८ ॥

छमापतिहि भूषन छमा, नर भूषन सतसंग।
कुल भूषन मिलि के रहन, मद भूषन मातंग ॥ १३९ ॥
सूर काम सूरहि करै, करै न कूर घमण्डि।
स्यार हजारहु सिंह बिन, गज सिर सकै न खण्डि ॥ १४० ॥
नाहर भूखो रोग बस, वृद्ध जदपि तनछीन।
तदपि दुरद[1] मरदन चहत, सूर होहि नहिं दीन ॥ १४१ ॥

कवित्त ॥

मनुज की सोभा पंडिताई ते रहित है न,
सोभा पंडिताई की सभा बिना न पाई है।
गिरिधर दास भूप बिना सोभा है न,
भूप की न सोभा बिन बुद्ध के सदाई है।
बुद्ध की न सोभा दया रहित जगत बीच,
दया की न सोभा जहां तुमुल[2] लराई है।
सोभा न लराई की है सूर भरपूर बिन,
सोभा नहिं सूर की गरूर बिन गाई है ॥ १४२ ॥

दोहा ॥

लाख मूर्ख तजि राखिये, इक पण्डित बुधि धाम।
सोभा इक है हंस सों, लाख काक किहि काम ॥ १४३ ॥
राजा पण्डित तुल्य नहिं जानहु नर सिरताज।
पण्डित पूज्य जहान में नृपति पूज्य निज राज ॥ १४४ ॥
तब लौं मूरख बोलहीं, जबलौं पण्डित नाहिं।
जबलों रवि नभ नहिं उदय, तबलौं नखत[3] देखाहिं ॥ १४५ ॥

---

१ हाथी। २ गहरी, बड़ी भारी। ३ नक्षत्र, तारे।

बारन[1] को भूषन वृथा, सिंहहि भूषन व्यर्थ ।
तिमि पण्डित अरु मूरखहिं, भूषन व्यर्थ समर्थ ॥ १४६ ॥
हंस न बक में सोहई, तुरग न रासभ[2] माहिं ।
सिंह न सोहै स्यार में, विज्ञ मूर्ख में नाहिं ॥ १४७ ॥
दर दर होत न गज तुरग, हंस न सर सर माहिं ।
नर नर होत सुरूप नहिं, घर घर पण्डित नाहिं ॥ १४८ ॥
पण्डित गति विद्या जगत, रवि गति सैल[3] अलोक ।
तियगतिपतिसरिगतिउदधि, सबगतिहरि गतिओक[4] ॥ १४९ ॥
जोबन रूप अनूप सब, विद्या बिनु सोहै न ।
जथा अनारू फल लखिय, सुन्दर पै रस है न ॥ १५० ॥
विद्या भूषन मनुज कहँ, तिय भूषन अनुभाव ।
संन्यासी भूषन छमा, पुर भूषन उमराव ॥ १५१ ॥
धन तें विद्याधन बड़ो, रहत पास सब काल ।
देइ जितो बाढ़ै तितो, चोर न लेइ नृपाल ॥ १५२ ॥
शत्रु नहीं कोउ रोग सम, सुत सम नहिं कोउ प्रीति ।
भाग सरिस कोउ बल नहीं, विद्या सम नहिं मीत ॥ १५३ ॥
विद्या होवै नीच पै, लीजै बिना विचारु ।
धन कठोर सों लीजिये, घटकुल सों तिय चारु ॥ १५४ ॥
द्विज बिन विद्या के वृथा, घृत बिन असन वृथाहिं ।
वृथा अभूषन बसन बिनु, तिय बिन गृह जग माहिं ॥ १५५ ॥
विद्या बिना विवेक के, बहु उद्यम बिनुअर्थ ।
धर्म बिना वैराग्य के, मनुज बुद्धि बिन व्यर्थ ॥ १५६ ॥

---

१ हाथी । २ गदहा । ३ पहाड़ । ४ गति का स्थान ।

बुद्धि सरिस कोउ बल नहीं, सुमति सरिस नहिं मित्र।
विद्या नहिं अध्यात्म सम, ज्ञान सरिस नहिं मित्र[1] ॥ १५७ ॥
विद्यावन्तहि चाहिये, पहिले धर्म विचार।
तासों दोऊ लोक को, सधत सुद्ध व्यवहार ॥ १५८ ॥
विद्यावन्त सुसील जो, धर्मवन्त मति धीर।
सोइ पण्डित संसार में, सुजन रत्न बलबीर ॥ १५९ ॥
सज्जन को सन्तोष धन, नृप धन सैन महान।
तिय को धन पिय जगत में, धन धन वैश्य प्रमान ॥ १६० ॥
आवत अतिहित आदरत, बोलत वचन विनीत।
जिय पर उपकारहि चहत, सज्जन की यह रीति ॥ १६१ ॥
सज्जन माहिं दयालुता, चंचलता तिय माहिं।
सठहि क्रूरता दुजहि तप, सहजधरम[2] ए आहिं ॥ १६२ ॥
सज्जन तजै न साधुता, करै कोउ विपरीत।
पग डारतहूं गङ्गजल, विमल करै यह रीति ॥ १६३ ॥
सज्जन सँग अनहित करै, ते हित करैं निदान।
जैसे भृगु मारयौ चरन, उर धारयौ भगवान ॥ १६४ ॥
तन अनित्य संगी धरम, प्रभु जग कर्त्ता सोय।
तीन बात जो जानई, तासों खोट न होय ॥ १६५ ॥
सब परतिय जिहि मातु सम, सब परधन जिहि धूर।
सब जीवन निज सम लखै, सो पण्डित भरपूर ॥ १६६ ॥
सुद्ध नीर है तक्र[3] में, सुद्ध पाट में नील।
सुद्ध चर्म है बाघ को, नर में सन्त सुसील ॥ १६७ ॥

---

१ नेत्र, नयन। २ स्वाभाविक धर्म। ३ छांछ, मठा ॥

धनी सुपच[1] पर से असुचि, पूजिय निरधन सन्त ।
खर न पूज्य मनि भूषितहु, पूज्य गऊ मलवन्त ॥ १६८ ॥
छोटे में अघ लगत है, बड़े अनघ अविरुद्ध ।
असुचि छुए घट जल असुचि, भरि प्रवाह में सुद्ध ॥१६९॥
बड़े होय अघ जुक्तहू, लखियै अनघ सदैव ।
अपनी सुधरै धर्म बल, उन की जानै दैव ॥ १७० ॥
जिनको निजसों उच्च पद, जिमि पितु गुर सुर पर्व ।
सदा आदरहिं तिनहिं बुध, गुनि तामें सुख सर्व ॥ १७१ ॥
भयत्राता पतिनीपिता, विद्याप्रद गुरु जौन ।
मंत्रदान अरु असनप्रद, पंच पिता छितिरौन ॥ १७२ ॥
तीन वरन को विप्र गुरु, द्विज गुरु अग्नि प्रमान ।
कामिन को गुरु कन्त है, जग गुरु अतिथि सुजान ॥ १७३ ॥
तियहि कन्त पुत्रहि पिता, सिष्यहि गुरू उदार ।
स्वामि सेवकहिं देवता, यह श्रुतिमत निर्धार ॥ १७४ ॥
चलै रहनि लै धर्म को, सोई विद्यावन्त ।
जेहि हित अहित विवेक है, सो सुन्दर महिकन्त ॥ १७५ ॥
करियै विद्यावंत को, सेवन अरु सहबास ।
तासों आवहिं अमित गुन, अवगुन होहिं विनास ॥ १७६ ॥
सतसंगतमें बास सों अवगुनहू छिपि जात ।
अहिर धाम मदिरा पिवै, दूध जानियै तात ॥ १७७ ॥
असत संग में बास सों, गुन अवगुन ह्वै जाय ।
दूध पिबै कलवार घर, मदिरा सबहिं बुझाय ॥ १७८ ॥

---

१ चण्डाल, डोम, मेहतर ।

दुष्ट संग दुख सों गुनै, सुजन संग सुख इष्ट।
पियै सिंधु जल जब तबहि, गुनै गङ्गजल मिष्ट[1] ॥ १७९ ॥
वृथा होत कोउ काल नहिं, विद्या सेवन तात।
पर पाए जग दुख तजत, नतरु चतुर जग ख्यात ॥ १८० ॥
देस काल गुनिकै चलै, चतुर सोई जग स्वच्छ।
जुक्ति जुक्त रचना रचै, सो कवि मण्डन[2] अच्छ ॥ १८१ ॥
काव्य शास्त्र अभ्यास में, काल सुबुध को जात।
व्यसन लराई नींद में, मूरख दिवस बितात ॥ १८२ ॥

कुण्डलिया ॥

बिधिसों कवि सब बिधि बड़े, यामें संसै नाहिं।
षट रस बिधि की सृष्टि में, नव रस कविता माहिं ॥
नव रस कविता माहिं, एक सों एक सुलच्छन।
गिरिधरदास विचार लेहु, मन माहिं विचच्छन ॥
काल कर्म अनुसार, रचत बिधि क्रम गहि सिधि सों।
कवि इच्छा अनुसार, सृष्टि बिरचत बर बिधि सों ॥ १८३ ॥

दोहा ॥

सुकवि भए पण्डित भए, कहन न जानी बात।
तौ सब पढ़िबो व्यर्थ है, ज्यों फागुन बरसात ॥ १८४ ॥
बात समय की बरनियै, प्रकटत चित्त हुलास।
जैसे रुचत मलार अति, पावस[3] गिरधर दास ॥ १८५ ॥
बिना समय की बात सो, सोहति नेकहु नाहिं।
फागुन मास मलार जिमि, नहिं भावै मन माहिं ॥ १८६ ॥

---

१ मीठा। २. भूषण। ३ वर्षा ऋतु, बरसात ॥

बात निकामहुं लहि समय, सोहत लखहु बिचारि ।
द्यूत दिवारी मध्य जिमि, जिमि होरी मधि गारि ॥ १८७ ॥

भली बातहू बिन समय, नहिं सोहत निरधार ।
जिमि विवाह में बरनियै, ज्ञान कथा परकार ॥ १८८ ॥

बनी बात बिगरै तुरत, बिगरी बनै न तात ।
कांच कलस फोरिय पटकि, पुनि न जुरै कोउ भांति ॥ १८९ ॥

पण्डित पासहु रहत पै, मूरख समुझत नाहिं ।
जिमि प्रभाव जानै नहीं, मीन गङ्ग जल माहिं ॥ १९० ॥

महि में ऊसर व्यर्थ जिमि, तरु में रेंड़ प्रमान ।
पशु में व्यर्थ सियार जिमि, नर में मूर्ख अजान ॥ १९१ ॥

कबहुं नमै नहिं मूर्खजन, नमत सुबुध अवतंस[१] ।
आम डार फल सह नमत, नमत न निष्फल बंस ॥ १९२ ॥

बालू गृह सरितट बिटप[२], मूर्ख मित्रता जौन ।
ए इक दिन नाहीं अहैं, सांच सुनहु छितिरौन ॥ १९३ ॥

मूरख जानै नेकु नहिं, अच्छर विनु अविवेक ।
जिमि षटरस के स्वाद कों, कीस[३] न जानै नेक ॥ १९४ ॥

बाद न कीजै मूर्ख सों, किये होत दुख भूरि[४] ।
नहीं होय सिद्धान्त कछु, जाय प्रतिष्ठा दूरि ॥ १९५ ॥

जो मूरख निन्दा करै, पण्डित की नहिं हानि ।
रवि पै धूर उड़ाय है, परै अपुन सिर आनि ॥ १९६ ॥

भली बुरी समुझै नहीं, मूरख मनुज जहान ।
ते नहिं बोलन जोग हैं, बोले सों कलकान[५] ॥ १९७ ॥

---

१ भूषण। २ वृक्ष। ३ बन्दर। ४ बहुत। ५ दुखी।

दुर्लभ है चोरहि दया, दुर्लभ अर्थिहि मान।
दुर्लभ बेस्यहि सील है, दुर्लभ मुर्खहि ज्ञान ॥ १९८ ॥

मूरख को सँग ना करै, करै सधै जो अर्थ।
पै सठ को सँग ना करै, वरु जावै असु व्यर्थ ॥ १९९ ॥

दुष्ट साधु सों होत है, साधु दुष्ट सों होत।
कस्यप सुत कंचनकसिपु, तेहि प्रहलादउ होत ॥ २०० ॥

दुज हरखत मधुरहि निरखि, मोर मुदित घन पेखि।
सज्जन परसुख लखि मुदित, दुर्जन परदुख देखि ॥ २०१ ॥

जासु प्रकृति बिधि जिमि रची, तिमि पावै सुख सोय।
गीत मृतक तन खात है, नहिं पाप दुख होय ॥ २२२ ॥

विद्या सम्पति जुक्तहू, तजै दुष्ट सहवास।
अहि[1] मनि जुक्तहु प्रानहर, नहिं करिये विस्वास ॥ २०३ ॥

तजै दुष्ट नहिं दुष्टता, करो कितो उपकार।
हवन करत कर दहत ज्यों, दहन[2] भूमिभरतार ॥ २०४ ॥

प्रान जाय तो जाय पै, नहीं दुष्ट हठ जाय।
जरी परी रसरी तदपि, पैंठन प्रकट लखाय ॥ २०५ ॥

कढ़ै तेल पाखान सों, फूल बैत के माहिं।
ऊसर में अंकुर कढ़े, पै खल में बुध नाहिं ॥ २०६ ॥

धन फल कृपिनहिं होय नहिं, सुमन न अम्बर[3] माहिं।
अहि विष मन्त्र उतारिए, खल विष उतरै नाहिं ॥ २०७ ॥

सब की औषध जगत में, खल की औषध नाहिं।
चूर होहिं सब औषधी, परि कै खल के माहिं ॥ २०८ ॥

---

१ साँप। २ अग्नि। ३ आकाश।

दूजे को उतकर्ष नहिं, देखि सकत जग बीच।
पर निन्दा सुनिकै मुदित, सो पापी अति नीच ॥ २०९ ॥

करिय नीच सहवास नहिं, जे अघकाय[1] मलीन।
मति बिगरति आदर घटत, होत धरमरति छीन ॥ २१० ॥

सदा छलिय सों डरिय जिय, करिय नहीं विश्वास।
ए सरबस मोचन करत, समय पाइ रहि पास ॥ २११ ॥

गरुओ[2] गिरि तातें धरनि, ताहू तें अघवन्त।
अघवन्तहु तें पिसुन[3] जेहिं, धारत धरनि धसन्त ॥ २१२ ॥

भागिनेय[4] जामात[5] अरु, व्याल[6] बिडाल[7] कुरूप।
नारि सुवन सह भिन्न गृह, नहिं विश्वासिय भूप ॥ २१३ ॥

कवित्त ॥

होय जो लजीलो ताहि मूरख बतावत हैं,
धर्म धरै ताहि कहैं दम्भ को बढ़ाव है।
चले जो पवित्रता सों कपटी कहत तैसे,
सूर कों कहत यामें दया को अभाव है।
गिरिधरदास साधुताई देखि कहैं धूरत है,
उदर के हेत कियो भेख को बनाव है।
जे जे अहैं गुनी तिन्हैं औगुनी बखानैं यह,
जगत में पापिन को सहज सुभाव है ॥ २१४ ॥

---

१ पापी । २ भारी । ३ निन्दक । ४ भानजा, भगना । ५ जमाई, दामाद
६ साँप । ७ बिलाव ।

श्रीरामचन्द्र जी का वनवास को चलना *

चौपाई ॥

रघुकुल तिलक जोरि दोउ हाथा ।
मुदित मातुपद नायउ माथा ॥
दीन्ह असीस लाय उर लीन्हें ।
भूषन वसन निछावरि कीन्हें ॥
बार बार मुख चूमति माता ।
नयन नेह जल पुलकित[1] गाता ॥
गोद राखि पुनि हृदय लगाये ।
स्रवत प्रेमरस पयद[2] सुहाये ॥
प्रेम प्रमोद न कछु कहि जाई ।
रङ्क धनद[3] पदवी जनु पाई ॥
सादर सुन्दर बदन निहारी ।
बोली मधुर बचन महतारी ॥
कहहु तात जननी बलिहारी ।
कबहिं लगन मुदमङ्गल कारी ॥
सुकृति सील सुख सींव सुहाई ।
जन्म लाभ लहि अवध अघाई ॥

दोहा ॥

जेहि चाहत नर नारि सब, अति आरत इहि भांति ।
जिमि चातकि चातक तृषित, वृष्टि सरदऋतु स्वांति ॥ १ ॥

चौपाई ॥

तात जाउं बलि बेगि अन्हाहू ।
जो मन भाव मधुर कछु खाहू ॥

---

* तुलसीकृत रामायण से उद्धृत ।

१ रोमांचित । २ स्तन । ३ कुबेर ।

पितु समीप तब जायहु भैया ।
भइ बड़ि बेर जाइ बलि मैया ॥
मातु बचन सुनि अति अनुकूला ।
जनु सनेहसुरतरु[१] के फूला ॥
सुखमकरन्द[२] भरे श्रियमूला ।
निरखि राममन भँवर न भूला ॥
धर्म्मधुरीन[३] धर्म्मगति जानी ।
कहेउ मातु सन अति मृदुबानी ॥
पिता दीन्ह मोहिं काननराजू ।
जहँ सब भांति मोर बड़ काजू ॥
आयसु[४] देहु मुदितमन माता ।
जेहि मुद मङ्गल कानन जाता ॥
जनि सनेहबस डरपसि भोरे ।
आनँद मातु अनुग्रह तोरे ॥

दोहा ॥

वरष चारिदस विपिन बसि, करि पितु बचन प्रमान ।
आय पाय पुनि देखिहौं, मन जन करसि मलान[५] ॥ २ ॥

चौपाई ॥

बचन बिनीत मधुर रघुबर के ।
सर सम लगे मातु उर करके ॥

---

१ स्नेह रूपी कल्पवृक्ष । २ आनन्दरूपी रस । ३ धर्म्म का भार उठाने वाले । ४ आज्ञा । ५ उदास ।

सहमि सूखि सुनि सीतल बानी ।
जिमि जवास[1] पर पावस पानी ॥
कहि न जाय कछु हृदय विषादू ।
मनहुं मृगी सुनि केहरि[2] नादू ॥
नयन सजल तनु थर थर कांपी ।
माँजा[3] मनहुं मीन कहँ व्यापी ॥
धरि धीरज सुत बदन निहारी ।
गदगद बचन कहति महतारी ॥
तात पितुहिं तुम प्रानपियारे ।
देखि मुदित नित चरित तुम्हारे ॥
राज देन कहँ सुभ दिन साधा ।
कहेउ जान बन केहि अपराधा ॥
तात सुनावहु मोहिं निदानू ।
को दिनकरकुल[4] भयउ कृसानू ॥

दोहा ॥

निरखि राम रुख सचिवसुत, कारन कहेउ बुझाय ।
सुनि प्रसङ्ग रहि मूक गति, दसा वरनि नहिं जाय ॥ ३ ॥

चौपाई ॥

राखि न सकहि न कहि सक जाहू ।
दुहूभांति उर दारुन दाहू ॥

---

१ जवासा । २ सिंह । ३ वर्षा के नये जल का फेन जिसके विकार से मछली को मांजा नाम रोग उत्पन्न होता है । ४ सूर्य्यवंश ।

लिखत सुधाकर[1] लिखगा राहू ।
बिधि गति बाम सदा सब काहू ॥
धर्म्म सनेह उभय मति घेरी ।
भइ गति साँप छछूंदरि केरी ॥
राखौं सुतहिं करौं अनुरोधू ।
धर्म्म जाइ अरु बंधु बिरोधू ॥
कहौं जान बन तौ बड़ि हानी ।
संकट सोच बिकल भई रानी ॥
बहुरि समुझि तियधरम सयानी ।
राम भरत दोउ सुत सम जानी ॥
सरल सुभाव राम महतारी ।
बोली बचन धीर धरि भारी ॥
तात जाउँ बलि कीन्हेउ नीका ।
पितु आयसु सब धर्म्मक टीका ॥

दोहा ॥

राज देन कह दीन्ह बन, मोहिं न दुख लवलेस ।
तुम बिनु भरतहिं भूपतहि, प्रजहि प्रचण्ड कलेस ॥ ४ ॥

चौपाई ॥

जौ केवल पितु आयसु ताता ।
तौ जनि जाहु जाइ बलि माता ॥
जौ पितु मातु कहेउ बन जाना ।
तौ कानन सत अवध समाना ॥

---

१ चन्द्रमा ।

पितु बनदेव मातु बनदेवी ।
खग मृग चरण सरोरुह[1] सेवी ॥
अन्तहु उचित नृपहिं बनवासू ।
वय[2] विलोकि हिय होत हरासू ॥
बड़भागी बन अवध अभागी ।
जो रघुवंश तिलक तुम त्यागी ॥
जौ सुत कहौं संग मोहिं लेहू ॥
तुम्हरे हृदय होहि संदेहू ॥
पूत परम प्रिय तुम सब ही के ।
प्रान प्रान के जीवन[3] जी के ॥
ते तुम कहहु मातु बन जाऊं ।
मैं सुनि बचन बैठि पछिताऊं ॥

दोहा ॥

यह बिचारि नहिं करउँ हठ, झूठ सनेह बढ़ाइ ।
मानि मातु के नात बलि, सुरति बिसरि जनि जाइ ॥ ५॥

चौपाई ॥

देव पितर सब तुमहिं गुसाईं ।
राखहु पलक नयन की नाईं ॥
अवधि अम्बु[4] प्रिय परिजन मीना ।
तुम करुनाकर धरमधुरीना ॥
अस बिचारि सोइ करहु उपाई ।
सबहिं जियत जेहि भेंटहु आई ॥

---

१ कमल । २ अवस्था । ३ जल । ४ जल ।

जाहु सुखेन बनहिं बलि जाऊं ।
करि अनाथ जन परिजन गाऊं ॥
सब करि आज सुकृतफल बीता ।
भयउ कराल[1] काल बिपरीता ॥
बहुबिधि बिलपि चरन लपटानी ।
परम अभागिनी आपुहिं जानी ॥
दारुन दुसह दाह उर व्यापा ।
बरनि न जाइ बिलाप कलापा ॥
राम उठाइ मातु उर लाई ।
कहि मृदुबचन बहुरि समुझाई ॥

दोहा ॥

समाचार तेहि समय सुनि, सीय उठी अकुलाइ ।
जाइ सासु पद कमल युग, बन्दि बैठि सिर नाइ ॥ ६ ॥

चौपाई ॥

दीन्ह असीस सासु मृदुबानी ।
अति सुकुमारि देखि अकुलानी ॥
बैठि नमितमुख सोचति सीता ।
रूपरासि पति प्रेम पुनीता ॥
चलन चहत बन जीवन नाथा ।
कवन सुकृत सन होइहिं साथा ॥
की तनु प्रान कि केवल प्राना ।
बिधि करतब कछु जाइ न जाना ॥

---

१ भयानक ।

चारु चरननख लेखति धरनी[1] ।
नूपुर[2] मुखर[3] मधुर कवि बरनी ॥
मनहुं प्रेम बस बिनती करहीं ।
हमहिं सीय पद जनि परिहरहीं ॥
मंजु[4] बिलोचन मोचति बारी[5] ।
बोली देखि राम महतारी ॥
तात सुनहु सिय अति सुकुमारी ।
सासु ससुर परिजनहिं पियारी ॥

दोहा ॥

पिता जनक भूपाल मनि, ससुर भानुकुल भानु ।
पति रविकुल कैरव[6] विपिन, विधु[7] गुनरूप निधानु ॥७॥

चौपाई ॥

मैं पुनि पुत्रवधू प्रिय पाई ।
रूपरासि गुन सील सुहाई ॥
नयन पुतरि इव प्रीति बढ़ाई ।
राखेउं प्रान जानकिहिं लाई ॥
कलपवेलि[8] जिमि बहु बिधि लाली ।
सींच सनेह सलिल प्रतिपाली ॥
फूलत फलत भयउ बिधि बामा ।
जानि न जाइ काह परिनामा ॥
पलँग पीठ तजि गोद हिँडोरा ।
सिय न दीन्ह पगु अवनि कठोरा ॥

---

१ पृथ्वी । २ पाज़ेब । ३ शब्द । ४ सुन्दर । ५ जल । ६ कमलिनी ।
७ चन्द्रमा । ८ कल्प वृक्ष की लता ।

जिवनमूरि जिमि जुगवति रहेऊं ।
दीप बाति नहिं टारन कहेऊं ॥
सो सिय चलन चहति बन साथा ।
आयसु कहा होइ रघुनाथा ॥
चन्द्किरन रस रसिक चकोरी ।
रवि रुख नयन सकै किमि जोरी ॥

दोहा ॥

करि केहरि निसिचर चरहिं, दुष्ट जन्तु बन भूरि ।
बिष बाटिका कि सोह सुत, सुभग सजीवनमूरि ॥ ८ ॥

चौपाई ॥

बनहित कोल[1] किरात[2] किसोरी ।
रची बिरञ्चि विषय सुख भोरी ॥
पाहन कृमि जिमि कठिन सुभाऊ ।
तिनहिं कलेस न कानन काऊ ॥
कै तापस तिय कानन योगू ।
जिन तपहेतु तजा सब भोगू ॥
सिय वन बसिहि तात केहि भांती ।
चित्र लिखित कपि देखि डराती ॥
सुरसरि सुभग बनज बनचारी ।
डाबर[3] जोग कि हंसकुमारी ॥

---

१ भील लोगों की एक विषेष जाति। २ जङ्गली मनुष्यों की एक विशेष जाति। ३ मैले पानी से भरा हुआ गड़हा।

अस विचारि जस आयसु होई ।
मैं सिख देउँ जानकिहिं सोई ॥
जौ सिय भवन रहैं कह अम्बा ।
मो कहँ होइ बहुत अवलम्बा ॥
सुनि रघुबीर मातु प्रियबानी ।
सील सनेह सुधा जनु सानी ॥

दोहा ॥

कहि प्रियवचन विवेकमय, कीन्ह मातु परितोष ।
लगे प्रबोधन जानकिहिं, प्रगट बिपिन गुण दोष ॥ ९ ॥

चौपाई ॥

मातु समीप कहत सकुचाहीं ।
बोले समय समुझि मन माहीं ॥
राजकुमारि सिखावन सुनहू ।
आन भांति जिय जनि कछु गुनहू ॥
आपुन मोर नीक जौ चहहू ।
वचन हमार मानि घर रहहू ॥
आयसु मोर सासु सेवकाई ।
सब बिधि भामिनि भवन भलाई ॥
इहितें अधिक धरम नहिं दूजा ।
सादर सासु ससुर पद पूजा ॥
जब जब मातु करहिं सुधि मोरी ।
होइहि प्रेमविकल मतिभोरी ॥

तब तब तुम कहि कथा पुरानी ।
सुन्दरि समुझायहु मृदुबानी ॥
कहौं सुभाय सपथ सत मोहीं ।
सुमुखि मातुहित राखौं तोहीं ॥

दोहा ॥

गुरुश्रुतिसम्मति धर्म्मफल, पाइय बिनहिं कलेस ।
हठवस सब संकट सहे, गालव[१] नहुष[२] नरेस ॥ १० ॥

चौपाई ॥

मैं करि पुनि प्रमान पितु बानी ।
बेगि फिरब सुनि सुमुखि सयानी ॥
दिवस जात नहिं लागहि बारा ।
सुन्दरि सिखवन सुनहु हमारा ॥
जौ हठ करहु प्रेमबस बामा ।
तौ तुम दुख पाउब परिनामा ॥
कानन कठिन भयङ्कर भारी ।
घोर घाम हिम[३] बारि बयारी ॥
कुस कण्टक मगु[४] कङ्कर नाना ।
चलब पयादे बिनु पदत्राना ॥
चरण कमल मृदु मंजु तुम्हारे ।
मारग अगम भूमिधर[५] भारे ॥

---

१ एक ऋषि का नाम । २ एक राजा का नाम । ३ पाला, बर्फ, शीत । ४ रास्ता । ५ पहाड़ ।

कन्दर खोह नदी नद नारे ।
अगम अगाध न जाहिं निहारे ॥
भालु बाघ वृक[1] केहरि नागा[2] ।
करहिं नाद सुनि धीरज भागा ॥

दोहा ॥

भूमि सयन बलकल[3] बसन, असन कन्द फल मूल ।
ते कि सदा सब दिन मिलहिं, समय समय अनुकूल ॥ ११ ॥

चौपाई ॥

नर अहार रजनीचर करहीं ।
कपट वेष बन कोटिन फिरहीं ॥
लागै अति पहाड़ कर पानी ।
विपिन विपति नहिं जाइ बखानी ॥
व्याल[4] कराल बिहग[5] बन घोरा ।
निसिचरनिकर[6] नारि नर चोरा ॥
डरपहिं धीर गहन[7] सुधि आये ।
मृगलोचनि तुम भीरु सुभाये ॥
हंसगमनि तुम नहिं बन जोगू ।
सुनि अपजस मोहिं देइहि लोगू ॥
मानस[8] सलिल सुधा प्रतिपाली ।
जियइ कि लवनपयोधि[9] मराली[10] ॥
नव रसाल[11] वन विहरन सीला ।
सोह कि कोकिल विपिन करीला ॥

---

१ भेड़िया । २ हाथी । ३ वृक्ष की छाल । ४ सांप । ५ पक्षी । ६ राक्षसों का समूह । ७ वन । ८ मानसरोवर । ९ खारा समुद्र । १० हंसनी । ११ आम ।

रहहु भवन अस हृदय बिचारी ।
चंद्रवदनि दुख कानन भारी ॥

दोहा ।

सहज सुहृद गुरु स्वामि सिख, जो न करै सिर मानि ।
सो पछिताइ अघाइ उर, अवसि होहि हित हानि ॥ १२ ॥

चौपाई ॥

सुनि मृदु वचन मनोहर पिय के ।
लोचन नलिन भरे जल सिय के ॥
सीतल सिख दाहक भइ कैसे ।
चकइहिं सरद चांदनी जैसे ॥
उतर न आव विकल वैदेही ।
तजन चहत मोहि परम सनेही ॥
बरबस रोकि विलोचन बारी ।
धरि धीरज उर अवनि[1] कुमारी ॥
लागि सासु पग कह कर[2] जोरी ।
छमब मातु बड़ि अविनय[3] मोरी ॥
दीन्ह प्रानपति मोहिं सिख सोई ।
जेहि बिधि मोर परम हित होई ॥
मैं पुनि समुझि दीख मन माहीं ।
पिय वियोग सम दुख जग नाहीं ॥
इहि बिधि सिय सासुहिं समुझाई ।
कहति पतिहिं वर विनय सुनाई ॥

१ पृथ्वी । २ हाथ । ३ बेअदबी ।

दोहा ॥

प्राननाथ करुनायतन, सुन्दर सुखद सुजान ।
तुम बिनु रघुकुल कुमुद[1] बिधु, सुरपुर नरक समान ॥ १३ ॥

चौपाई ॥

मातु पिता भगिनी प्रिय भाई ।
प्रिय परिवार सुहृद समुदाई ॥
सासु ससुर गुरु सुजन सहाई ।
सुत सुन्दर सुसील सुखदाई ॥
जहँ लगि नाथ नेह अरु नाते ।
पिय बिनु तियहिं तरनि[2] तें ताते ॥
तनु धन धाम धरनि पुर राजू ।
पति बिहीन सब सोक समाजू ॥
भोग रोग सम भूषन भारू ।
जमजातना[3] सरिस संसारू ॥
प्राननाथ तुम बिनु जग माहीं ।
मो कहँ सुखद कतहुं कछु नाहीं ॥
जिय बिनु देह नदी बिनु बारी ।
तैसहिं नाथ पुरुष बिनु नारी ॥
नाथ सकल सुख साथ तुम्हारे ।
सरद बिमल बिधु बदन निहारे ॥

दोहा ॥

खग मृग परिजन नगर बन, बलकल विमल दुकूल[4] ।
नाथ साथ सुरसदन सम, परनसाल[5] सुखमूल ॥ १४ ॥

---

१ धौला कमल जो रात को खिलता और दिन को मुंद जाता है ।
२ सूर्य्य । ३ यमराज का दण्ड । ४ दुपट्टा, ओढ़नी । ५ पत्तों की कुटी ।

चौपाई ॥

बनदेवी बनदेव उदारा ।
करिहैं सासु ससुर सम प्यारा ॥
कुस किसलय[१] साथरी[२] सुहाई ।
प्रभु संग मंजु मनोज तुराई[३] ॥
कन्दमूल फल अमिय अहारू ।
अवध सहस सुख सरिस पहारू ॥
छिन छिन प्रभु पद कमल विलोकी ।
रहिहौं मुदित दिवस जिमि कोकी[४] ॥
बन दुख नाथ कहेउ बहुतेरे ।
भय विषाद परिताप घनेरे ॥
प्रभु वियोग लवलेस समाना ।
सब मिल होहिं न कृपा निधाना ॥
अस जिय जानि सुजान सिरोमनि ।
लेइय संग मोहिं छाड़िय जनि ॥
बिनती बहुत करौं का स्वामी ।
करुनामय उर अन्तरजामी ॥

दोहा ॥

राखिय अवध जो अवधि लगि, रहत जानिये प्रान ।
दीनबंधु सुन्दर सुखद, सील सनेह निधान ॥ १५ ॥

चौपाई ॥

मोहिं मगु चलत न होइहि हारी ।
छिन छिन चरन सरोज निहारी ॥

---

१ पत्ते । २ आसनी, चटाई । ३ शय्या, तोशक । ४ चकवी ।

सबहिं भाँति पिय सेवा करिहौं ।
मारगजनित सकल श्रम हरिहौं ॥
पाय पखारि बैठ तरु छाहीं ।
करिहौं वायु मुदित मन माहीं ॥
स्रमकन सहित स्याम तनु देखे ।
कहँ दुख समय प्रानपति पेखे ॥
सम महि तृन तरु पल्लव डासी[१] ।
पाय पलोटिहि सब निसि दासी ॥
बार बार मृदु मूरति जोही ।
लागहिं ताप बयारि न मोही ॥
को प्रभु सँग मोहि चितवन हारा ।
सिंह बधुहिं जिमि ससक सियारा ॥
मैं सुकुमारि नाथ बन जोगू ।
तुमहिं उचित तप मो कहँ भोगू ॥

दोहा ॥

ऐसेहु बचन कठोर सुनि, जौ न हृदय बिलगान ।
तौ प्रभु विषम वियोग दुख, सहिहैं पामर[२] प्रान ॥ १६ ॥

चौपाई ॥

अस कहि सीय बिकल भइ भारी ।
बचन वियोग न सकी सँभारी ॥
देखि दसा रघुपति जिय जाना ।
हठि राखे नहिं राखिहि प्राना ॥

---

१ बिछाकर । २ नीच ।

कहेउ कृपाल भानुकुलनाथा ।
परिहरि सोच चलहु बन साथा ॥
नहिं विषाद कर अवसर आजू ।
वेगि करहु बन गमन समाजू ॥
कहि प्रिय वचन प्रिया समुझाई ।
लगे मातु पद आशिष पाई ॥
वेगि प्रजा दुख मेटहु आई ।
जननी निठुर बिसरि जनि जाई ॥
फिरहि दसा बिधि बहुरि कि मोरी ।
देखिहौं नयन मनोहर जोरी ॥
सुदिन सुघरी तात कब होई ।
जननी जियत बदन बिधु जोई[1] ॥

दोहा ॥

बहुरि बच्छ कहि लाल कहि, रघुपति रघुबर तात ।
कबहुं बुलाइ लगाइ उर, हरषि निरखिहौं गात ॥ १७ ॥

चौपाई ॥

लखि सनेह कातरि महतारी ।
वचन न आव विकल भइ भारी ॥
राम प्रबोध कीन्ह बिधि नाना ।
समय सनेह न जाइ बखाना ॥
तब जानकी सासु पग लागी ।
सुनिय मातु मैं परम अभागी ॥

---

१ देखकर ।

सेवा समय दैव बन दीन्हा।
मोर मनोरथ सफल न कीन्हा॥
तजब छोभ[1] जनि छांड़िय छोहू[2]।
करम कठिन कछु दोष न मोहू॥
सुनि सिय वचन सासु अकुलानी।
दसा कवन बिधि कहौं बखानी॥
बारहिं बार लाइ उर लीन्ही।
धरि धीरज सिख आसिष दीन्ही॥
अचल होउ अहिवात[3] तुम्हारा।
जब लगि गङ्ग जमुन जल धारा॥

दोहा॥

सीतहिं सासु असीस सिख, दीन्ह अनेक प्रकार।
चली नाइ पद पदम सिर, अतिहित बारहिं बार॥ १८॥

चौपाई॥

समाचार जब लछिमन पाये।
व्याकुल बदन बिलखि उठि धाये॥
कम्प पुलक तनु नयन सनीरा।
गहे चरन अति प्रेम अधीरा॥
कहि न सकत कछु चितवत ठाढ़े।
मीन दीन जनु जलते काढ़े॥
सोच हृदय विधि काह निहारा।
सब सुख सुकृत सिरान हमारा॥

---

१ मोह। २ स्नेह, प्यार। ३ सुहाग, सौभाग्य।

मो कहँ कहा कहब रघुनाथा ।
रखिहैं भवन कि लैहहिं साथा ॥
राम बिलोकि बन्धु कर जोरे ।
देह गेह सब सन तृन तोरे ॥
बोले बचन राम नयनागर[1] ।
सील सनेह सरल सुखसागर ॥
तात प्रेम बस जनि कदराहू ।
समुझि हृदय परिनाम उछाहू ॥

दोहा ॥

मातु पिता गुरु स्वामि सिख, सिर धरि करहिं सुभाय ।
लहेउ लाभ तिन जन्म कर, नतरु[१] जन्म जग जाय ॥ १९ ॥

चौपाई ॥

अस जिय जानि सुनहु सिख भाई ।
करहु मातु पितु पद सेवकाई ॥
भवन भरत रिपुसूदन नाहीं ।
राउ वृद्ध मम दुख मन माहीं ॥
मैं बन जाउँ तुमहिं लै साथा ।
होइहि सब बिधि अवध अनाथा ॥
गुरु पितु मातु प्रजा परिवारा ।
सब कहँ परै दुसह दुख भारा ॥
रहहु करहु सब कर परितोषू ।
नतरु तात होइहि बड़ दोषू ॥

---

१ नीतिनिपुण । १ नहीं तो ।

जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी ।
सो नृप अवसि नरक अधिकारी ॥
रहहु तात अस नीति बिचारी ।
सुनत लखन भये व्याकुल भारी ॥
सियरे बदन सूखि गये कैसे ।
परसत तुहिन[1] तामरस[2] जैसे ॥

दोहा ॥

उतर न आवत प्रेम बस, गहे चरण अकुलाइ ।
नाथ दास मैं स्वामि तुम, तजहु तो कहा बसाइ ॥ २० ॥

चौपाई ॥

दीन्ह मोहिं सिख नीक गुसाईं ।
लाग अगम अपनी कदराई ॥
नरबर धीर धरम धुरधारी ।
निगम[3] नीति के ते अधिकारी ॥
मैं सिसु प्रभु सनेह प्रतिपाला ।
मन्दर मेरु कि लेइ मराला[4] ॥
गुरु पितु मातु न जानौं काहू ।
कहौं सुभाय नाथ पतियाहू ॥
जहँ लगि जगत सनेह सगाई ।
प्रीति प्रतीति निगम निज गाई ॥
मोरे सबै एक तुम स्वामी ।
दीनबन्धु उर अन्तरजामी ॥

---

१ पाला । २ कमल । ३ वेद, शास्त्र । ४ हंस ।

धरम नीति उपदेसिय ताही।
कीरति भूति[1] सुगति प्रिय जाही॥
मन क्रम बचन चरन रत होई।
कृपासिन्धु परिहरिय कि सोई॥

दोहा॥

करुनासिन्धु सुबन्धु के, सुनि मृदु वचन बिनीत।
समुझाये उर लाइ प्रभु, जानि सनेह सभीत॥ २१॥

चौपाई॥

मांगहु बिदा मातु सन जाई।
आवहु वेगि चलहु बन भाई॥
मुदित भये सुनि रघुबर बानी।
भयेउ लाभ बड़ मिटी गिलानी॥
हर्षित हृदय मातु पहँ आये।
मनहुं अन्ध फिरि लोचन पाये॥
जाइ जननि पग नायेउ माथा।
मन रघुनन्दन जानकि साथा॥
पूछेउ मातु मलिन मन देखी।
लखन कही सब कथा विसेषी॥
गई सहमि सुनि बचन कठोरा।
मृगी देख दव[2] जनु चहुं ओरा॥
लखन लखेउ भा अनरथ आजू।
एहि सनेह बस करब अकाजू॥

---

१ विभूति, सम्पत्ति। २ दावानल।

मांगत बिदा सभय सकुचाहीं ।
जान संग बिधि[1] कहिहि कि नाहीं ॥

दोहा ॥

समुझि सुमित्रा रामसिय, रूप सुसील सुभाव ।
नृप सनेह लखि धुनेउ सिर, पापिन कीन्ह कुदाव ॥ २२ ॥

चौपाई ॥

धीरज धरेउ कुअवसर जानी ।
सहज सुहृद बोली मृदु बानी ॥
तात तुम्हार मातु वैदेही ।
पिता राम सब भांति सनेही ॥
अवध तहां जहँ राम निवासू ।
तहां दिवस जहँ भानु प्रकासू ॥
जो पै सीय राम बन जाहीं ।
अवध तुम्हार काज कछु नाहीं ॥
गुरु पितु मातु बन्धु सुर सांई ।
सेइय सकल प्रान की नांई ॥
राम प्रान प्रिय जीवन जीके ।
स्वारथ रहित सखा सबही के ॥
पूजनीय प्रिय परम जहां ते ।
मानिय सबहिं राम के नाते ॥
अस जिय जानि संग बन जाहू ।
लेहु तात जग जीवन लाहू ॥

---

१ विधाता ।

दोहा ॥

भूरि भाग भाजन भयहु, मोहिं समेत बलि जाउँ ।
जो तुम्हार मन छांड़ि छल, कीन्ह रामपद ठाउँ ॥ २३ ॥

चौपाई ॥

पुत्रवती जुवती जग सोई ।
रघुपति भगत जासु सुत होई ॥
नतरु बाँझ बलि बादि बियानी ।
राम बिमुख सुत ते हित हानी ॥
तुम्हरेहि भाग राम बन जाहीं ।
दूसर हेतु तात कछु नाहीं ॥
सकल सुकृत कर बड़ फल एहू ।
राम सीय पद सहज सनेहू ।
राग रोष इरषा मद मोहू ।
जनि सपनेहु इनके बस होहू ॥
सकल प्रकार विकार बिहाई ।
मन क्रम बचन करेहु सेवकाई ।
तुम कहँ बन सब भांति सुपासू ।
सँग पितु मातु राम सिय जासू ॥
जेहि न राम बन लहहिं कलेसू ।
सुत सोई करेहु इहै उपदेसू ॥

छन्द ॥

उपदेस यह जेहि तात तुमतें राम सिय सुख पावहीं ।
पितु मातु प्रिय परिवार पुर सुख सुरति बन बिसरावहीं ॥

तुलसी सुतहिं सिख देइ आयसु देइ पुनि आसिष दई ।
रति होउ अविरल अमल सिय रघुबीर पद नित नित नई ॥

सोरठा ॥

मातु चरन सिर नाइ, चले तुरत संकित हिये ।
बागुर[१] बिषम[२] तुराइ, मनहुं भाग मृग भाग बस ॥ २९ ॥

चैापाई ॥

गये लखन जहँ जानकिनाथा ।
भये मन मुदित पाइ प्रिय साथा ॥
बन्दि राम सिय चरन सुहाये ।
चले संग नृप मन्दिर आये ॥
कहहिं परस्पर[३] पुर नर नारी ।
भलि बनाइ बिधि बात बिगारी ॥
तनु कृस मन दुख बदन मलोना ।
विकल मनहुं माखी मधु छीना ॥
कर मीजहिं सिर धुनि पछिताहीं ।
जनु बिनु पंख बिहँग अकुलाहीं ॥
भइ बड़ि भीर भूप दरबारा ।
बरनि न जाइ विषाद अपारा ॥
सचिव उठाइ राउ बैठारे ।
कहि प्रिय वचन राम पगु धारे ॥
सिय समेत दोउ तनय[४] निहारी ।
व्याकुल भये भूमिपति भारी ॥

---

१ फन्दा, जाल । २ कठिन । ३ आपस में । ४ पुत्र ।

दोहा ॥

सीय सहित सुत सुभग दोउ, देखि देखि अकुलाइ ।
बारहिं बार सनेहबस, राउ लिये उर लाइ ॥ २५ ॥

चौपाई

सकै न बोलि बिकल नर नाहू ।
सोक जनित उर दारुन दाहू ॥
नाइ सीस पद अति अनुरागा ।
उठि रघुबीर बिदा तब मांगा ॥
पितु असीस आयसु मोहि दीजै ।
हर्ष समय बिसमय[1] कत कीजै ॥
तात किये प्रिय प्रेम प्रमादू[2] ।
जस जग जाइ होइ अपवादू[3] ॥
सुनि सनेह बस उठि नर नाहू ।
बैठारे रघुपति गहि बाहू ॥
सुनहु तात तुम कहँ मुनि कहहीं ।
राम चराचर नायक अहहीं ॥
सुभ अरु असुभ करम अनुहारी ।
ईस देइ फल हृदय बिचारी ॥
करै जो करम पाव फल सोई ॥
निगम नीति अस कह सब कोई ॥

---

१ आश्चर्य्यमय शोक। २ उन्मत्तता, असावधानी । ३ अपयश, बदनामी ।

दोहा ॥

और करै अपराध कोउ, और पाव फल भोग।
अति विचित्र भगवन्त गति, को जग जानै जोग[1] ॥ २८ ॥

चौपाई ॥

राउ राम राखन हित लागी।
बहुत उपाय कीन्ह छल त्यागी ॥
लखे रामरुख रहत न जाने।
धरम धुरन्धर धीर सयाने ॥
तब नृप सीय लाइ उर लीन्हो।
अति हित बहुत भांति सिख दीन्हो ॥
कहि बन के दुख दुसह सुनाये।
सासु ससुर पितु सुख समुझाये ॥
सिय मन रामचरन अनुरागा।
घर न सुगम बन विषम न लागा ॥
औरउ सबहि सीय समुझाई।
कहि कहि बिपिन बिपति अधिकाई ॥
सचिवनारि गुरुनारि सयानी।
सहित सनेह कहहिं मृदु बानी ॥
तुम कहँ तो न दीन्ह बन बासू।
करहु जो कहहिं ससुर गुरु सासू ॥

---

१ संयोग, भावी।

दोहा ॥

सिख सीतल हित मधुर मृदु, सुनि सीतहिं न सुहानि ।
सरद चन्द चांदनि निरखि, जनु चकई अकुलानि ॥ २७ ॥

चौपाई ॥

सीय सकुच[1] बस उतर न देई ।
सो सुनि तमकि[2] उठी कैकेई ॥
मुनिपट भूषन भाजन आनी ।
आगे धरि बोली मृदु बानी ॥
नृपहिं प्रानप्रिय तुम रघुबीरा ।
सील सनेह न छाड़िहि भीरा ॥
सुकृत सुयस परलोक नसाऊ ।
तुमहिं जानि बन कहहिं न राऊ ॥
अस विचारि सोइ करहु जो भावा ।
राम जननि सिख सुनि सुख पावा ॥
भूपहिं बचन बान सम लागे ।
करहिं न प्रान पयान अभागे ॥
सोक बिकल मुरछित नर नाहू ।
कहा करिय कछु सूझ न काहू ॥
राम तुरत मुनि भेष बनाई ।
चले जनक जननी सिर नाई ॥

दोहा ॥

सजि बनसाज समाज सब, बनिता बंधु समेत ।
चले बन्दि गुरु बिप्र पद, प्रभु करि सबहिं अचेत ॥ २८ ॥

---

१ संकोच । २ क्रोध करके, लाल होकर ।

Nagari Pracharini Sabha Educational Series—No. 2.

भाषासारसंग्रह

दूसरा भाग

काशी नागरीप्रचारिणी सभा के कतिपय सभासदों द्वारा सभा के आज्ञानुसार संगृहीत और सम्पादित

SIXTH IMPRESSION.

—:o:—

इण्डियन प्रेस, प्रयाग

१९०६ ई०

[मूल्य ।≡)

Nagari Pracharini Sabha Educational Series—No. 2.

शिवर लाल ...

भाषासारसंग्रह

दूसरा भाग

काशी-नागरीप्रचारिणी-सभा के कतिपय सभासदों द्वारा सभा के आज्ञानुसार संगृहीत और सम्पादित

—:o:—

SIXTH IMPRESSION.

इण्डियन प्रेस, प्रयाग
१९०६ ई०

 [मूल्य ।≡)

सूचीपत्र ।

भाषासारसंग्रह

दूसरा भाग

ईश्वरचन्द्र विद्यासागर*

परमेश्वर ने इस संसार को सुख और दुःख दोनों ही का आधार बनाया है। जो लोग विद्या रूपी धन को बटोर कर उसके मीठे फल को चखते हैं, वेही सुख से अपने जीवन को बिताते और यश के भागी होते हैं। किन्तु जो इससे हीन रहते हैं, वे जन्म भर दुःख भोगते और अन्त में अपने ऊपर कलङ्क का बोझ लेकर मरते हैं। आज हम जिन महात्मा का चरित्र लिखते हैं उन्होंने इस बात को प्रत्यक्ष करके दिखला दिया है कि संसार में विद्या के बल से अच्छे मार्ग पर चल कर मनुष्य क्यों कर धन और यश का उपार्जन कर सकता, और सुख से अपना जीवन बिता कर अपने पीछे भी अचल कीर्ति को छोड़ जाता है।

पण्डितवर ईश्वरचन्द्र विद्यासागर का जन्म बङ्गाल प्रान्त के मेदिनीपुर नगर के बीरसिंह नामक ग्राम में हुआ था। यह ग्राम कलकत्ते से २६ कोस पर है। विद्यासागर के पिता का

---

* बाबू राधाकृष्णदास लिखित।

नाम ठाकुरदास वन्द्योपाध्याय और माता का नाम भगवती देवी था। २६ वीं सितम्बर सन् १८२० ई० मङ्गलवार को दोपहर के समय विद्यासागर का जन्म हुआ था।

उनके दादा रामजय तर्कभूषण अपने भाइयों के झगड़े से दुखी हो देश छोड़ कर तीर्थ-यात्रा करने चल दिए, और उनकी स्त्री दुर्गा देवी अपने दो पुत्रों और चार कन्याओं को लेकर बिना किसीके सहारे एक कुटी में जा बैठी और सूत कात कात कर उसी की बिक्री से अपने दिन बिताने लगी। विद्यासागर के पिता ठाकुरदास अपनी माता का ऐसा दुःख देख कर किसी काम की खोज में चौदह वर्ष की ही अवस्था में कलकत्ते आए और वहां रह कर अंगरेज़ी पढ़ने लगे, क्योंकि उस समय थोड़ी भी अंगरेज़ी जाने बिना किसी काम का मिलना कठिन था। उस समय उनको जो जो कष्ट हुए, उन्हें सोच कर हृदय कांप उठता है। बालक ठाकुरदास को किसी दिन दोनों बेला पेट भर भोजन नहीं मिलता था, कभी एक बेला और कभी दोनो बेला उन्हें भूखे रह जाना पड़ता था। किसी किसी प्रकार कुछ पढ़ने लिखने पर उनको दो रुपए महीने की नौकरी मिली। मातृभक्त ठाकुरदास अपने भोजन के दुःख को सहते हुए भी दोनों रुपए अपनी माता के पास महीने महीने भेजने लगे। जब वे पांच रुपए महीने उपार्जन कर माता के पास भेजने लगे, तब तो मानो उनकी माता का दुःख दरिद्र ही दूर हो गया। जिस समय विद्यासागर का जन्म हुआ था, उस समय ठाकुरदास केवल आठ रुपये महीने पर नौकर थे।

पांच वर्ष की अवस्था में विद्यासागर को विद्यारम्भ कराया गया। उन्होंने ग्राम की पाठशाला अर्थात् गुरु जी के यहां की पढ़ाई तीन वर्ष में पूरी कर डाली। फिर सन् १८२९ ई० में उनके पिता उन्हें अपने साथ कलकत्ते ले आए। किसी ने सत्य कहा है कि "होनहार बिरवान के होत चीकने पात", वही बात ईश्वरचन्द्र में भी पाई गई कि उन्होंने बालकपन ही में मार्ग चलते चलते सड़कों पर लगे हुए "माइल स्टोन" से अंगरेज़ी के अंक पहिचान लिए। कलकत्ते पहुंच कर ठाकुरदास एक दिन अंगरेज़ी के कई बिलों की ठीक दे रहे थे। उस समय ईश्वरचन्द्र ने उन कागज़ों को पिता से लेकर आप उनका जोड़ लगाया और सब ठीक उतरा। यह चरित देखकर लोग अचम्भे में आ गए। उसी सन् की पहिली जून को विद्यासागर संस्कृत कालेज की व्याकरण-श्रेणी में भरती किए गए। वहां केवल छ महीने पढ़ कर वे परीक्षा में पास हुए और उन्हें पांच रुपए महीने "स्कालरशिप" के मिलने लगे। व्याकरण-श्रेणी में पढ़ने के समय छ महीने पर्यन्त उन्होंने अंगरेज़ी-विभाग में भी पढ़ा था। वह रात को केवल दो घंटे सोते, सारी रात पढ़ने में बिताते और जो नींद आने लगती तो सरसों का तेल अपनी आंखों में लगा लेते थे। बारहवें वर्ष में वह काव्य श्रेणी में भरती हुए और दोही वर्ष में उन्होंने रघुवंश, कुमारसंभव, माघ, किरातार्जुनीय, शकुन्तला, मेघदूत, उत्तरराम चरित, मुद्राराक्षस, कादम्बरी, दशकुमारचरित, आदि काव्य पढ़ डाले। उनकी स्मरणशक्ति ऐसी थी कि वे बिना पुस्तक

देखे संस्कृत के नाटक आदि को पढ़ते जाते थे । वे संस्कृत का अनुवाद भी बहुत अच्छा करते थे। उनकी तीव्र बुद्धि को देख कर सब को अचम्भा होता था और अध्यापक लोग भी उनसे बड़े प्रसन्न रहते थे। परीक्षा में सदा वे प्रथम होते थे और अक्षर उनके ऐसे सुन्दर बनते थे कि अपने लेख के लिये भी वे पारितोषिक पाया करते थे। उस समय पढ़ने लिखने के परिश्रम के अतिरिक्त उन्हें चार व्यक्तियों को रसोई भी करके खिलाना पड़ता था। फिर सब के खा लेने पर उन्हींको बरतन भी मांजना और रसोई घर को धोना पड़ता था और हाट से सामग्री लाना भी उन्हीं-का काम था। सोने के लिये उन्हें केवल दो हाथ लम्बा और डेढ़ हाथ चौड़ा स्थान मिला था। उतने ही स्थान में वे सिकुड़ कर पड़े रहते, परन्तु इन सब कष्टों को वे कष्टों में नहीं गिनते थे। वरन् सब कामों को प्रसन्न चित्त से करते और बिना किसी प्रकार की थकावट के बराबर पढ़ने में लगे रहते थे।

उसी छोटी अवस्था में उन्हें संस्कृत में कविता बनाने की भी शक्ति हो गई थी। जब कभी वे ग्राम को जाते तो लोगों के यहां श्राद्ध इत्यादि के अवसर पर कविता बना देते और पण्डितों की मण्डली में संस्कृत-भाषा में शास्त्रार्थ करते थे, यहां तक कि पण्डित लोग उस बालकवि की विलक्षण मेधाशक्ति देख कर आश्चर्य करने लगते थे।

पन्द्रहवें वर्ष में उन्होंने अलङ्कार-श्रेणी में प्रवेश किया और एकही वर्ष में साहित्यदर्पण, रसगङ्गाधर आदि अलङ्कार

के कठिन ग्रन्थों को पढ़ कर सबसे प्रथम पारितोषिक पाया। उस समय उन्हें आठ रुपए महीने स्कालरशिप के मिलते थे। उन रुपयों को उनके पिता ले लेते और उनमें से कुछ रुपये उन्हें निज के व्यय के लिये दे देते थे। दयासागर विद्यासागर उन्हीं रुपयों से अपने साथ के पढ़ने वाले बालकों की सहायता करते थे। किसीको कपड़े मंगा देते, किसीको पुस्तकें ले देते, और यदि वे जलपान करते तो सभों को बांट कर खाते थे। जो कोई बालक पीड़ित हो जाता तो वे उसकी सेवा करते, और जिस रोगी के पास कोई खड़ा न होता उसके मल मूत्र पर्यन्त धो देने में भी नहीं घिनाते थे। योंही जब वे ग्राम को जाते तो वहां भी दीन दुखियों की सहायता करते थे। विद्यासागर की उपाधि पाने के बहुत पहिले ही इन गुणों से उनका नाम दयासागर प्रसिद्ध हो गया था।

सन् १८३७ ई० में उन्होंने स्मृति की श्रेणी में प्रवेश किया और छ महीने में उसे पूरी कर फिर वे ला कमेटी की परीक्षा के लिये पढ़ने लगे। वह परीक्षा भी समाप्त हुई और उन्हें त्रिपुरा (ज़िले) के जज-पण्डित का पद मिला। पर उनके पिता ने उन्हें उतनी दूर जाने न दिया। इसलिये पितृभक्त ईश्वरचन्द्र उस पद को छोड़ वेदान्त की श्रेणी में पढ़ने लगे। उसी समय उन्होंने गद्य-रचना में सबसे बड़ा सौ रुपए का पारितोषिक पाया था। उस समय उनके पिता बहुत ऋणी हो रहे थे, व्यय की ऐसी खींच थी कि एक पैसे के चने

ग्रैार बताशे में सबका जलपान होता था। दूसरे वर्ष उन्होंने न्याय-दर्शन की परोक्षा में प्रथम होने से सैा रुपए ग्रैार कविता की रचना में भी सैा रुपए पारितोषिक पाए। जिस दर्शन-शास्त्र का पढ़ना दूसरे लोग ग्राठ दस वर्ष में पूरा करते हैं, तीक्ष्ण-बुद्धि ईश्वरचन्द्र ने उसे केवल पांचही वर्ष में पूरा किया। १० वीं दिसम्बर सन् १८४१ ई० को बीस वर्ष की ग्रवस्था में उन्होंने संस्कृत कालेज की शिक्षा समाप्त कर के 'विद्यासागर' की उपाधि पाई।

कालेज से निकलते ही उन्हें दिसम्बर सन् १८४१ ई० को "फोर्ट विलियम कालेज" में पचास रुपए मासिक पर प्रथम श्रेणी के ग्रध्यापक का पद मिला। इस फोर्ट विलियम कालेज में इङ्गलैण्ड से ग्राए हुए सिविलियन साहब लोगों को हिन्दी, बङ्गला, उर्दू ग्रादि देशी भाषाग्रों को पढ़ कर इनमें परीक्षा देनी पड़ती थी, ग्रैार इन भाषाग्रों में पास होने पर उन्हें काम मिलता था। इन परीक्षाग्रों के पत्र विद्यासागरही को देखने पड़ते थे ग्रैार उन्हें ग्रंगरेज़ों से बहुत काम पड़ता था, इसलिये उनको हिन्दी ग्रैार ग्रंगरेज़ी का सीखना भी ग्रावश्यक हुग्रा। हिन्दी तो उन्हों ने थोड़ेही दिनों में एक पण्डित रख कर सीख ली ग्रैार ग्रंगरेज़ी ऐसी कठिन भाषा को भी बड़े परिश्रम से शीघ्रही सीख लिया। उनका परिश्रमी स्वभाव सराहने योग्य था। कालेज के कामों के ग्रतिरिक्त घर पर ग्राए हुए विद्यार्थियों को वे दोनों समय न्याय व्याकरण ग्रादि पढ़ाते ग्रैार ग्राप भी ग्रंगरेज़ी पढ़ते थे।

उस समय बङ्गभाषा की उतनी उन्नति नहीं थी जितनी अब है। इस भाषा को ऐसी ऊंची अवस्था पर पहुंचानेवालों में प्रधान व्यक्ति विद्यासागर ही हुए। उन्होंने सरल और मधुर बङ्गभाषा में "वासुदेव चरित" नामक ग्रन्थ बनाया और हिन्दी वैतालपचीसी का पहिले पहिल बङ्गला में अनुवाद किया। वे तत्वबोधिनी मासिकपत्रिका में भी बराबर लेख लिखते थे। पीछे उन्होंने "संस्कृतप्रेस" स्थापित किया। उस प्रेस में प्राचीन संस्कृत और बङ्गला के ग्रन्थों को वे शुद्ध करके छापते थे। वर्णपरिचय, कथामाला, बोधोदय, चरितावली, आख्यानमञ्जरी, जीवनचरित, शकुन्तला और सीतार बनबास आदि ग्रन्थों को लिखकर उन्होंने बङ्गभाषा का बहुत कुछ उपकार किया। उन्होंने ग्राम को जाते समय पालकी में पड़े पड़े केवल दो ही दिन में वर्णपरिचय नामक पुस्तक लिखी थी और सीतार-बनावास नामक पुस्तक को केवल चार दिन में पूरा किया था। उनके पहिले बङ्गला में गद्य के ग्रन्थ ऐसी सुन्दर और सरल भाषा में नहीं लिखे जाते थे, इसलिये बङ्गला के प्रसिद्ध कवि हेमचन्द्र ने अपनी कविता में उन्हें "बङ्गला का साहित्य गुरु" लिखा है।

उनके एक मित्र ने संस्कृत सीखने की इच्छा प्रकट की। इसपर उन्होंने सोचा कि पुरानी चाल से पढ़ाने में तो बहुत दिन लगेंगे और ये भी ऊब जायँगे; बस चट आपने एकही दिन में चार ताव फुलस्केप काग़ज़ पर वर्णमाला से लेकर

धातु प्रत्ययादि पर्यन्त मुग्धबोध व्याकरण का सारांश लिख डाला और उसीसे थोड़ेही दिनों में अपने मित्र को कुछ संस्कृत व्याकरण का ज्ञान करा दिया। वेही "चार ताव काग़ज़" विद्यासागर की प्रसिद्ध पुस्तक "व्याकरण की उपक्रमणिका" नामक पुस्तक के मूल हैं। उन्होंने अपनी नई युक्ति और बुद्धिमत्ता से जो "सीनियर परीक्षा" पांच वर्ष में होती थी वही अपने मित्र से ढाई वर्ष ही में दिलवा कर उसे पास करा दी। यह बात सारे नगर में फैल गई और बहुत से लोग उनसे पढ़ने लगे। व्याकरण की पढ़ाई की नवीन प्रणाली का यहीं से प्रारम्भ है।

जब दयासागर को दो रुपए महीने जलपान के लिये मिलते थे, तब तो उसमें से दीन दुखियों को दिए बिना उनका मन मानता ही न था; और जब पचास रुपए महीने मिलने लगे तब का भला क्या पूछना था? उन्होंने अपने पिता को काम से छुड़वा कर उन्हें सुख से घर रहने के लिये भेजा और फिर वे बराबर बीस रुपए महीने अपने पिता के पास भेजते और शेष तीस रुपए में दो भाई, पांच चचेरे, फुफेरे, और मौसेरे भाई, एक नौकर तथा आए गए अतिथियों के साथ कलकत्ते में रह कर अपना काम चलाते थे। किन्तु केवल कुटुम्ब-पालन ही से उदारचरित विद्यासागर के चित्त का सन्तोष क्यों कर हो सकता था? वे अपने भरसक दीन दुखियों की सहायता से कभी मुख नहीं मोड़ते थे। इस बात के बहुतेरे

उदाहरण हैं, पर उनमें से एक उदाहरण के लिखे बिना लेखनी आगे नहीं बढ़ती। उनके एक परोसी के नौकर को हैज़ा हो गया, स्वामी ने चट घसीट कर उसे सड़क पर डाल दिया। नौकर के डकराने की भनक विद्यासागर के कानों में पड़ी। फिर क्या उनका कोमल हृदय स्थिर रह सकता था? वे अपने बासे में उसे उठा लाए और उसकी औषध कराने लगे। उन्होंने आप उसका मल मूत्र तक धोया और दो चार दिन में उसे भला चङ्गा करके बिदा किया।

उनकी मातृभक्ति का भी एक उदाहरण सुनिए। छोटे भाई के विवाह में उनको माता ने उन्हें लिखा था कि तुम अवश्य आओ। इसपर विद्यासागर ने कालेज के प्रिंसिपल से छुट्टी मांगी, पर साहब ने न दी। तब विद्यासागर से माता की आज्ञा न टाली गई और उन्हों ने साहब से जाकर कहा "हम माता की आज्ञा नहीं टाल सकते, वरन् अपना पद छोड़ सकते हैं; इसलिये आप अपनी नौकरी लीजिए और हमारा लेखा चुकता कर हमें बिदा कीजिए"। साहब ने उनकी सच्ची मातृभक्ति पर रीझ कर तुरन्त उन्हें छुट्टी दे दी। फिर क्या था! आप उसी समय पैदल चल खड़े हुए, और दिन रात बराबर चले गए। बीच में दामोदर नद ने भयानक रूप धारण करके उनका मार्ग रोका। बरसात का दिन था, इस कारण महानद का ऐसा चौड़ा पाट और तीखा वेग था कि बड़े बड़े मल्लाहों का भी साहस नाव चलाने का नहीं होता था। तिसपर भी उस समय घाट पर कोई नाव बेड़ा न था। किन्तु उस समय

विद्यासागर के असीम हृदय में मातृभक्ति का सागर उमड़ रहा था, वे ऐसे ऐसे नद को क्या समझते थे ! लोगों के लाख रोकने पर भी आप धड़ाम से नद में कूद पड़े और बात की बात में मातृचरण के सहारे पार जा लगे। दो दिन के कठिन परिश्रम पर नौ बजे रात को वे घर जा पहुंचे। वहां पहुंच कर उन्होंने देखा कि लड़के को लेकर सब लोग विवाह करने गए हैं, केवल माता दो दिन की उपवासी बालक ईश्वरचन्द्र के लिये पड़ी पड़ी बिलख बिलख कर रो रही है। उस समय दोनों मा बेटे मिलकर भरपूर रोए और फिर साथही दोनों ने भोजन भी किया।

सन् १८४६ ई० में विद्यासागर "फोर्ट विलियम" कालेज में अपना पद अपने छोटे भाई को दिलाकर आप "संस्कृत कालेज" के असिस्टेण्ट सेक्रेटरी के पद पर चले आए। उनके उत्तम प्रबन्ध से कालेज की बहुत कुछ उन्नति हुई ; परन्तु सेक्रेटरी से अनबन होने के कारण उन्होंने बिना इस बात का बिचार किए ही कि इतने बड़े कुटुम्ब का पालन कैसे होगा, उस पद को छोड़ दिया; और थोड़े दिनों तक धीरता के साथ वे घर बैठे रहे, तथा ऋण लेकर अपना काम चलाया किए।

सन् १८४९ ई० के मार्च महीने में फिर उन्हें "फोर्ट विलियम" कालेज में अस्सी रुपए महीने पर हेड राइटर का पद मिला। वहीं से उन्हों ने सन् १८५० ई० में "संस्कृत कालेज" में संस्कृत के अध्यापक का पद ग्रहण किया। सन् १८५१ ई० में वे डेढ़ सौ रुपए महीने पर उसी कालेज के प्रिंसिपल नियत हुए। अंगरेज़ी

शिक्षा के प्रचार होने से संस्कृत कालेज में विद्यार्थी बहुत घट गए थे, इसलिये "कौन्सिल आफ एडुकेशन" का विचार हुआ कि वह तोड़ दिया जाय। अतएव विद्यासागर से उसपर रिपोर्ट करने के लिये कहा गया। उन्होंने भी ऐसी उत्तम रिपोर्ट दी कि जिसे देख कर कौन्सिल वाले बहुतही प्रसन्न हुए और उनके लिखने के अनुसार संस्कृत कालेज नहीं तोड़ा गया। उसी सन् (१८५१) में उन्होंने "व्याकरण की उपक्रमणिका" नाम की प्रसिद्ध पुस्तक बनाकर छपवाई और उसी समय में तीन भागों में ऋजुपाठ और चार भागों में "व्याकरण कौमदी" बनाकर प्रकाशित की। येही सब ग्रन्थ उस समय संस्कृत कालेज तथा युनिवर्सिटी में कोर्स नियत किए गए थे।

विद्यासागर का ध्यान देश की कुरीतियों के दूर करने की ओर भी झुका। वे बराबर "शुभंकरी" पत्रिका में लेख लिखा करते और स्त्रीशिक्षा के पूरे पक्षपाती थे। बीटन साहब ने लड़कियों के लिये एक कालेज स्थापित किया था, जो कि अब "बेथून कालिज" के नाम से प्रसिद्ध है। विद्यासागर उसके भी प्रधान सहायक थे। उस कालेज के प्रबन्ध के लिये जो कमेटी बनाई गई थी, विद्यासागर उसके अवैतनिक सेक्रेटरी नियत किए गए थे। बीटन साहब के मरने पर उस कालेज का भार लार्ड डलहौसी ने अपने हाथ में ले लिया था। उस समय किसी कारण से विद्यासागर सेक्रेटरी के पद को छोड़ना चाहते थे, परन्तु कमेटी के बहुत आग्रह से न छोड़ सके। निदान वे सन्

१८६९ ई० तक सेक्रेटरी रहे और उस कालेज में पढ़ाने के येलि उन्होंने "रुडीमेण्ट्स् आफ नालेज" का अनुवाद कर उसका "बोधोदय" नाम रक्खा।

सन् १८५३ ई० में उन्होंने अपनी जन्मभूमि बीरसिंह ग्राम में एक पाठशाला खोली थी, जिसमें बिना मासिक लिये ही लड़के पढ़ाए जाते थे। उन लड़कों को पुस्तकें, स्लेट, पेन्सिल आदि बस्तुएं भी पाठशाला की ओर से दी जाती थीं। दूसरी पाठशाला कृषकों के लिये खोली थी जिसमें रात को पढ़ाई होती थी। और तीसरी पाठशाला लड़कियों के लिये खोली थी। उन्होंने एक औषधालय भी खोला था जिसमें ओषधियों के अतिरिक्त रोगियों को साबूदाना आदि पथ्य की वस्तुएं भी बिना मूल्य मिलती थीं; उन सभों के लिये विद्यासागर ने अपने रुपए से भूमि मोल ली, घर बनवाए, और महीने महीने साढ़े पांच सौ रुपए के लगभग, जो उनमें ख़र्च होता था, अपने पास से बराबर वे देते रहे। सन् १८५४ ई० में उनका वेतन डेढ़ सौ से तीन सौ हो गया था और पुस्तकों की बिक्री से भी पांच चार सौ रुपए महीने की बचत होने लगी थी। यदि ऐसे समय में वे चाहते तो बहुत कुछ बटोर लेते, परन्तु जो कुछ उनकी आय थी सब की सब वे परोकार में लगा देते थे। क्योंकि उनकी दयावती माता ने उन्हें ऐसीही शिक्षा दी थी। विद्यासागर को माता से एक दिन हैरिसन साहब ने (जिनके नाम से कलकत्ते की प्रसिद्ध सड़क "हैरिसन रोड" बनी है) पूछा था कि "माजी! तुम्हारे पास कितने

रुपए हैं" उत्तर मिला "चार घड़े" । फिर साहब ने पूछा "वे घड़े कहां हैं" इस पर उस वृद्धा ने अपने चारों लड़कों को दिखला कर कहा कि "येही हमारे धन हैं, और दूसरे धन का हमें काम नहीं है" । यह उत्तर सुनकर साहब बड़े प्रसन्न हुए । वह उदार-चरित्रा रमणी-रत्न जब काशी-वास करने के लिये काशी में आकर रही थीं, तब एक दिन भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने उनके हाथ में चांदी के कड़े देखकर पूछा था कि "माजी ! इतने बड़े विद्यासागर की माता के हाथ में चांदी के कड़े शोभा नहीं देते"। इसपर वृद्धा ने हंसकर कहा "बेटा ! विद्यासागर की माता के हाथ की शोभा कुछ चांदी सोने के कड़े नहीं हो सकते, इन हाथों की शोभा तो भूखों को खिलना ही है । देखो, जब अकाल पड़ा था तब इन्हीं हाथों से खिचड़ी बना बना कर नित्य सहस्रों भिक्षुकों को मैं खिलाती थी" । सचमुच सन् १८६६ ई० के अकाल में विद्यासागर ने जैसा दान किया था बड़े बड़े राजाओं के किए भी वैसा नहीं हो सका था ।

सन् १८५५ ई० में गवर्नमेण्ट की यह इच्छा हुई कि ग्राम ग्राम में बङ्गला और अङ्गरेज़ी की पाठशालाएं खोली जांय । बङ्गला पाठशालाओं में किस रीति से शिक्षा दी जाय इसपर रिपोर्ट लिखने के लिये विद्यासागर से कहा गया । जब उन्होंने रिपोर्ट लिख कर दी तो उसे देख प्रधान लोग ऐसे प्रसन्न हुए कि उन लोगों ने विद्यासागर को प्रिन्सिपल के पद के अतिरिक्त असिस्टेन्ट इन्सपेक्टर आफ़ स्कूल्स का भी पद दिया, जिसके कारण दो सौ

रुपए महीने उनके और बढ़ गए और फिर उस समय उन्हें सब मिला कर पांच सौ महीने मिलने लगे। उसी वर्ष उनके उद्योग से पहिले पहिल "नार्मल स्कूल" स्थापित हुआ और फिर तो उनके उद्योग से बहुतेरे स्कूल खुले। स्कूलों के देखने के लिये उन्हें ग्राम ग्राम घूमना पड़ता था। उस अवसर में वे बराबर भूम्यधिकारियों (ज़मींदारों) और धनिकों को उभाड़ उभाड़ कर पाठशालाएं स्थापित कराते जाते थे। प्रायः ऐसा भी हुआ है कि आप पालकी पर कहीं जा रहे हैं और मार्ग में आप ने किसी थके हुए दुखी रोगी को पड़े बिलखते देखा, तो चट आप पालकी से उतर पड़े और उसे अपनी पालकी में डाल कर चट्टी तक पहुंचा आए और स्वयं उसके साथ साथ पैदल गए। फिर वहां पहुंच कर उसके भोजन आदि का पूरा पूरा प्रबन्ध कर तब जहां जाना होता वहां जाते थे। वे यात्रा के समय बराबर रुपए पैसे अपने पास रखते और किसी याचक को विमुख नहीं जाने देते थे। उन्होंने कितने ही अनाथ बालकों को अपने साथ कलकत्ते लाकर उनके लिखने पढ़ने का प्रबन्ध कर दिया था। वे समय समय पर कितने ही भलेमानसों को गुप्त दान देकर उन्हें दुख से बचा लेते थे।

एक दिन विद्यासागर किसी मित्र के साथ सड़क पर टहल रहे थे, कि इतने में सामने से एक ब्राह्मण रोता हुआ आ निकला। विद्यासागर ने उससे रोने का कारण पूछा, किन्तु ब्राह्मण ने उनका वेश देख कर अपने रोने का कारण बताना व्यर्थ समझ कर कुछ

न कहा। पीछे उनके विशेष आग्रह करने पर ब्राह्मण ने कहा कि "महाशय, हमने एक महाजन से रुपए उधार लेकर कन्या का विवाह किया था, पर ठीक समय पर हम उसके रुपए न दे सके; अब उसने हमारे ऊपर दो हज़ार चार सौ रुपए की नालिश की है जिसकी परसों तारीख़ है"। यह सुन विद्यासागर ने ब्राह्मण से उसके घर का पता पूछलिया और उसे बिदा किया। पीछे विद्यासागर ने जांच की तो ब्राह्मण की बात सत्य निकली। तब उन्होंने दो हज़ार चार सौ रुपए ब्राह्मण के नाम से अदालत में जमा कर दिए। ब्राह्मण ने कचहरी में जाकर सुना कि किसीने सारे रुपए जमा करा दिए हैं। यह अद्भुत कौतुक देख कर उसका चित्त कैसा गद्गद हुआ होगा इसे वह ब्राह्मण ही जानता था। फिर उसने उस महापुरुष का नाम जानना चाहा जिसने रुपए जमा कराए थे, परन्तु कुछ पता न लगा। अन्त को वह दीन ब्राह्मण कृतज्ञ हृदय से गद्गद कण्ठ हो अपने गुप्तदानी को असंख्य आशीर्वाद देता हुआ घर लौट आया। निदान विद्यासागर की दया की सीमा नहीं थी। जिस ग्राम में वे जा पड़ते वहां के लोग उनके दर्शन को दौड़ आते और भीड़ लग जाती थी।

दूसरों के दुःख से दुखी होनेवाले विद्यासागर के हृदय से हिन्दू-बाल-विधवाओं का दुःख नहीं देखा गया। इसलिये सन् १८५४ ई० की २८ वीं जनवरी को उन्होंने "विधवा विवाह होना उचित है कि नहीं" इस नाम की एक पुस्तक बनाकर प्रकाशित की। फिर तो सारे भारतवर्ष में इस बात का कोलाहल मच

गया। इस नवीन और समाजविरुद्ध वार्ता के कहने के कारण उन्हें बड़ी बड़ी गालियां सुननी पड़ीं, यहां तक कि कुछ लोग उनके मार डालने की चेष्टा में भी फिरा करते थे। पर दृढ़-प्रतिज्ञ विद्यासागर ने जो प्रतिज्ञा की उससे तनिक न हटे। उन्होंने पूर्ण परिश्रम करके बहुत से विरोधियों को अपने पक्ष में किया, गवर्नमेंट से इस विषय की व्यवस्था (क़ानून पास) कराई और कई एक बाल-विधवाओं के विवाह अपने सामने कराए, यहां तक कि अपने पुत्र का विवाह भी एक बाल-विधवा से कर दिया। लोग कहते हैं कि इस उद्योग में उन्हें पचास साठ सहस्र रुपयों का ऋण होगया था।

सन् १८५५ ई० में कलकत्ता यूनिवर्सिटी स्थापित हुई और विद्यासागर उसके फेलो चुने गए। उस समय संस्कृत उठा देने के लिये यूनिवर्सिटी ने प्रस्ताव किया था। सिनेट के सब लोग उसी ओर थे, किन्तु अकेले विद्यासागर के उद्योग और युक्तियों से वह प्रस्ताव स्वीकृत नहीं हुआ।

सिविलियों को परीक्षा के लिये लार्ड डलहौसी ने जो "सेन्ट्रल कमेटी" स्थापित की थी विद्यासागर उसके भी सभासद बनाए गए थे।

सन् १८५६ ई० में एडूकेशन कौन्सिल उठ कर उसके स्थान में "पबलिक इन्स्ट्रकशन" स्थापित हुआ और डाइरेक्टर का पद नियत किया गया। पहिले पहिल यङ्ग साहब सिविलियन डाइरेक्टर नियत हुए। उनको विद्यासागर बङ्गाल के छोटे लाट हालिडे

साहब के कहने से कई महीने तक शिक्षा-विभाग का काम सिखलाया था, इस कारण यङ्ग साहब गुरु की भांति उनका आदर करते थे, और छोटे लाट हालिडे साहब भी विद्यासागर को बहुत मानते थे। अतएव लाट साहब प्रति बृहस्पति वार को उन्हें अपने यहां बुलाते और अनेक बातों में उनसे परामर्श लिया करते थे। विद्यासागर लाट साहब की कोठी में मोटे कपड़े की चादर और चटी जूता पहिरे ही जाते थे। सन् १८५७ ई० में उन्होंने छोटे लाट के कहने से कई स्थानों में लड़कियों की पाठशालाएं स्थापित कीं, किन्तु जब उन पाठशालाओं के व्यय का बिल बनाकर डाइरेक्टर साहब के पास भेजा गया तो उन्होंने रुपए देने अस्वीकार किए। तब विद्यासागर ने यह वृत्तान्त लाट साहब से कहा। उन्होंने उत्तर दिया कि "तुम नालिश कर दो"। किन्तु विद्यासागर कचहरी के नाम से ऐसे दूर भागते थे कि उन्होंने स्वयं ऋण करके सब रुपए अपने पास से चुका दिए, परन्तु लाट साहब के कहने से भी नालिश न की। विद्यासागर और डाइरेक्टर साहब में पहिले ही से कुछ अनबन चली आती थी, किन्तु बिल के पचड़े से उनका जी बहुत ही दुखी हो गया था। अतएव उनकी यही इच्छा हुई कि ऐसे संकीर्ण-हृदय अधिकारी के अधीन काम न करें। बस चट उन्होंने पांच सौ रुपए की नौकरी पर लात मार इस्तीफ़ा देही दिया। इस पर छोटे लाट हालिडे साहिब आदि कई प्रधान कर्मचारियों तथा बन्धुबान्धवों ने उन्हें बहुत कुछ समझाया, परन्तु प्रतिज्ञा-वीर

विद्यासागर ने किसीकी एक न सुनी। एक दिन अपने एक मित्र के खेद प्रकाश करने पर उन्होंने कहा था कि "भाई! आज इस नौकरी छोड़ने पर भी हमें अपनी पुस्तकों की बिक्री की भी बहुत कुछ आय है, किन्तु पहिले कि जब हमने संस्कृत कालिज के असिस्टेन्ट सेक्रेटरी के पद को छोड़ा था उस दिन हमारे पास क्या था?" निदान सबके नांहीं करने पर भी उन्होंने नौकरी छोड़ ही दी। उस समय पुस्तकों की बिक्री से उन्हें अच्छी आय थी, परन्तु ऋण का बोझ भी उनके सिर बहुत था। निदान सब कुछ हुआ किन्तु उनके दान के व्यय में कभी भी न्यूनता नहीं हुई। उन्होंने कितने ही लोगों को हज़ार हज़ार पांच पांच सौ रुपए देकर उनके घरों को नीलाम होने से बचा दिया था। विद्यासागर ने ऋण लेकर मेघनादवध महाकाव्य के प्रणेता बङ्गभाषा के प्रसिद्ध कवि माइकेल मधुसूदन दत्त को दस सहस्र रुपए दिए थे। यदि उस समय विद्यासागर ने उनकी इतनी सहायता न की होती तो बङ्गभाषा के वे अद्वितीय कवि इङ्गलैण्ड ही में मर गए होते। कितने ही भले मानसों के परिवार को वे तीस तीस चालिस चालिस रुपए महीने देते थे। परन्तु यह सब व्यय कहां से होते थे? केवल ऋण लेकर! अहा! यह विद्यासागर ही का काम था कि वे दूसरों को ऋण से बचाने के लिये आप ऋण के बोझ से दबे जाते थे, तिस पर उस ब्राह्मण-सन्तान की और भी निस्पृहा सुनिए। एक समय आप बर्दवान देखने गए थे उनके आने का समाचार पाते ही महाराज बर्दवान ने बड़े आदर

से उन्हें बुलाया और विदाई में पांच सौ रुपए और एक दुशाला उनके आगे रक्खा। पर विद्यासागर ने वह भेंट नहीं ली और कहा कि "महाराज! ये रुपए निर्धन ब्राह्मण पण्डितों को दीजिए क्योंकि हम दान नहीं लेते"।

जिस ग्राम (बीरसिंह) में विद्यासागर रहते थे वह ग्राम महाराज बर्दवान का था। उन्होंने बहुत चाहा कि वह ग्राम विद्यासागर की भेंट कर दें, पर उन्होंने न लिया और यही कहा कि "महाराज! हम उस समय ग्राम लेंगे जब हमारी ऐसी अवस्था हो जायगी कि हम अपने पास से सब प्रजाओं के भूमिकर को स्वयं दे सकेंगे"। यह अद्‌भुत उत्तर सुन कर महाराज सन्नाटे में आ गए।

निदान विद्यासागर के अन्न से पढ़ पढ़ कर कितने मनुष्य धनाढ्य हो गए और विद्यासागर के नौकर रखवाए हुए कितने लोग बड़े बड़े पदों पर पहुंचे, इसका तो कोई ठिकानाही नहीं है।

विद्यासागर को पचास साठ सहस्र रुपयों का ऋण हो गया था, परन्तु मरने के समय उन्होंने एक पैसा भी ऋण नहीं छोड़ा था। एक समय कई लोगों ने यह प्रस्ताव किया था कि "विद्यासागर का यह ऋण विधवा-विवाह के कारण हुआ है, इसलिये चन्दा करके यह दे दिया जाय"। पर उन्होंने यह बात स्वीकार न की और अपना ऋण अपने ही माथे रक्खा। और इसीलिये तेरह सहस्र रुपए पर अपना प्रेस बेंच डाला। वे देने में ऐसे खरे थे कि जिनके जिनके रुपए चाहिए थे उन्हें स्वयं बुला बुला कर

ऋण चुकाते थे। उन्हें गवर्नमेण्ट के भी पांच सहस्र रुपए देने थे, क्योंकि उन्होंने ये रुपए गवर्नमेण्ट से पुस्तकें छापने के लिये लिए थे। परन्तु गवर्नमेण्ट के यहां वह रुपए खर्च खाते पड़ गए थे इसीसे कभी वे रुपए विद्यासागर से मांगे नहीं गए और इधर पुस्तकें भी न छपीं। फिर बहुत दिनों के पीछे विद्यासागर ने आप ही पत्र लिख कर वे रुपए गवर्नमेण्ट के पास भेज दिए थे।

प्रसिद्ध अँगरेज़ी समाचारपत्र "हिन्दू पेट्रियट" के सुयोग्य संपादक बाबू हरिश्चन्द्र मुकर्जी के मरने पर इस पत्र के अधिकार को बाबू कालीप्रसन्न सिंह ने पांच सहस्र रुपए पर क्रय कर लिया था, परन्तु जब उनसे वह पत्र न चल सका तो उन्होंने उसका भार विद्यासागर को सैांप दिया। आहा! विद्यासागर जैसे आप गुणी थे वैसे ही गुणग्राहक भी थे। उन्होंने "वृटिश इण्डियन ऐसोसियेशन" के क्लर्क बाबू कृष्णदास पाल को होनहार और योग्य देख कर वह पत्र उन्हें सैांप दिया। उसी पत्र के द्वारा एक साधारण क्लर्क कृष्णदास, दिन पाकर आनरेबुल राय कृष्णदास पाल बहादुर, सी. आई. ई., हुए।

एक दुखी ब्राह्मण के पालन के लिये विद्यासागर ने "सोम-प्रकाश" नामक बङ्गला साप्ताहिक पत्र निकाला, जिसे पीछे से उन्होंने पण्डित द्वारकानाथ विद्याभूषण को दे दिया था। उस पत्र का जैसा आदर बङ्गभाषा में हुआ और उसने जैसी सेवा बङ्गला-साहित्य की की, वैसी दूसरे पत्रों से होनी कठिन है।

सन् १८६४ ई० में उन्होंने कलकत्ते में "हिन्दू मेट्रापालिटन इन्स्टिट्यूशन" नाम का स्कूल खोला श्रौर धीरे धीरे सन् १८७२ ई० में उसे कालेज कर दिया। वह कालेज केवल देशी लोगें ही के प्रबन्ध से चलता था, श्रौर उसने कई बार प्रेसीडेंसी कालेज से बढ़कर परीक्षा का फल भी दिखलाया था। विद्यासागर ने अपने उद्योग श्रौर प्रबन्ध से यह बात प्रत्यक्ष दिखला दी कि देशी लोग भी उत्तम रीति से सब काम चला सकते हैं। गवर्नमेण्ट कालेज में फ़ीस श्रादि देनी पड़ती थी, जिससे दीन दुखियों के लड़के उसमें नहीं पढ़ सकते थे, इसलिये विद्यासागर ने अपने कालेज की फ़ीस बहुत ही थोड़ी रक्खी। तिस पर भी बहुतेरे दीन लड़कों की फ़ीस क्षमा कर देते थे। उस कालेज से बङ्गाल में उच्च शिक्षा के प्रचार करने में बड़ा लाभ हुश्रा। पहिले तो विद्यासागर के उस कालेज में अपने पास से कुछ रुपए लगाने पड़ते थे, परन्तु अन्त में वह अपने श्राय से श्राप चलने लगा। इतने पर भी विद्यासागर उसकी श्राय में से कभी कुछ नहीं लेते, वरन् उसका काम नौकरी की भांति स्वयं करते थे।

कलकत्ते में जितने गवर्नमेण्ट सम्बन्धी या देशियों के काम होते थे उन सभी कामों में प्रायः विद्यासागर की सहायता ली जाती थी। यदि हिन्दू-धर्म्म-शास्त्र के सम्बन्ध की कोई बात होती, या कोई क़ानून बनने वाला होता तो उनकी सहायता अवश्य ली जाती थी। निदान गवर्नमेण्ट की नौकरी छोड़ने पर भी वह उन्हें नहीं छोड़ती थी। एक बार मिस मेरी कारपेन्टर

डाइरेक्टर साहब को साथ ले लड़कियों की पाठशाला देखने गई थीं। विद्यासागर को भी उन्होंने अपने साथ लिया था। लौटती बार गाड़ी उलट गई और विद्यासागर के हृदय में चोट लगी। वे थोड़े काल तक अचेत पड़े रहे, तथा बड़ी चिकित्सा करने पर कुछ दिनों में अच्छे हुए। बस उसी समय से उनका स्वास्थ्य बिगड़ा। जलवायु के परिवर्त्तन करने के लिये उन्हें फरासडांगा जाना पड़ा। फिर वहां से वे बर्दवान आए। वहां उस समय बड़े वेग से मेलेरिया नामक ज्वर फैला हुआ था। यह देखकर दया-सागर विद्यासागर अपना दुख भूल गए और वहां उन्होंने सहस्रों रुपए व्यय करके औषधालय खोल दिया। फिर उन्होंने गवर्नमेण्ट तथा धनिकों की सहायता से कई औषधालय खुलवाए, तथा दीन दुखियों को औषध पथ्य और वस्त्र इत्यादि का प्रबन्ध किया। वे अपना रोग भूल कर दूसरे रोगियों की सेवा अपने हाथ से करते थे। एक दिन किसी बड़े दुबले भिखमंगे लड़के ने विद्या-सागर से एक पैसा मांगा। इस पर उन्होंने पूछा कि "जो हम चार पैसे दें तो तुम उन पैसों को क्या करोगे?" लड़के ने समझा कि ये हँसी करते हैं, अतएव उसने कहा "आप तो ठट्ठा करते हैं"। इसपर उन्होंने कहा 'हम ठट्ठा नहीं करते, सच सच बतलाओ"। तब लड़का बोला "दो पैसे का दाना लेंगे और दो पैसे मा को देंगे"। विद्यासागर ने फिर पूछा "और जो हम दो आना दें तो?" यह सुन लड़का ठठोली समझ कर चलने लगा। तब उन्होंने उस-का हाथ पकड़ लिया और उसे उत्तर देना पड़ा। वह बोला

"चार पैसे के चावल लेंगे और चार पैसे मा को देंगे। विद्यासागर ने फिर पूछा "और जो चार आने दें तो ?" लड़के ने कहा "दो आने के चावल लेंगे जिससे दो दिन की छुट्टी हो जायगी और दो आने के आम लेकर बेचेंगे। उससे दो आने का लाभ होगा। इसी प्रकार जितने दिन चल सकेगा चलावेंगे"। यह सुन करुणामय विद्यासागर ने उसे एक रुपया दिया और वह उसे लेकर उन्हें आशीर्वाद देता हुआ चला गया। इस घटना के दो वर्ष पीछे फिर विद्यासागर का बर्दवान जाना हुआ था। तब एक हृष्ट पुष्ट बालक ने आकर हाथ जोड़ कहा "दीनबन्धु ! मेरी दुकान को अपने चरण से पवित्र कीजिए"। विद्यासागर ने कहा "हमतो तुम्हें पहिचानते भी नहीं, तुम्हारी दुकान पर किस नाते से चलें ?" लड़के ने कहा "दयामय ! मैं वही हूं जिसे आपने एक पैसा मांगने पर एक रुपया दिया था; मैंने उस रुपए में से दो आने के चावल लिए और चौदह आने के आम लेकर बेचे, उससे आपके पुण्य प्रताप से बराबर लाभ होता गया। अब मैंने बिसाती की दूकान कर ली है और आपके चरणों की कृपा से अपनी माता के साथ सुख से अपने दिन काटता हूं"। यह सुन विद्यासागर बहुत ही प्रसन्न हुए और फिर उन्होंने उस निर्धन बालक की विपुल धन से सहायता की।

विद्यासागर जो प्रतिज्ञा कर लेते थे उससे कभी नहीं हटते थे। किसी बात पर दुखी होकर उन्होंने अपनी जन्मभूमि (वीरसिंह ग्राम) में जाना छोड़ दिया तो फिर वे जन्म भर वहां नहीं

गए। एक समय वे अपनी संस्कृत डिपाज़िटरी के प्रबन्ध से अप्रसन्न होकर लोगों से बोले कि जो कोई इसे ले तो हम देकर छुट्टी पावें। इस पर एक महाशय ने कहा कि जो आप ऐसा ही किया चाहते हैं तो हमें दे दीजिए। यह सुन विद्यासागर ने प्रसन्नता के साथ उन्हें डिपाज़िटरी देनी स्वीकार की। फिर कई लोगों ने विद्यासागर को डिपाज़िटरी के लिये छ सहस्र रुपए पर्यन्त देने को कहा, पर सत्यवीर विद्यासागर का मन किञ्चित् नहीं डोला और उन्होंने विना कुछ लिये ही जिससे पहिले प्रतिज्ञा की थी उसे डिपाज़िटरी दे डाली।

बङ्गाल में कुलीन ब्राह्मणों के बहुत विवाह होते थे, यहां तक कि एक एक मनुष्य अस्सी नव्वे विवाह पर्यन्त कर डालते थे और विवाह के पीछे अपनी स्त्रियों की सुधि तक नहीं लेते थे। इस घोर अत्याचार को देख कर दयासागर विद्यासागर से न रहा गया और उन्होंने कई पुस्तकें इस बिषय पर लिख डालीं। चारों ओर से आन्दोलन मचवाए और बड़े बड़े लोगों के हस्ताक्षर करा कर गवर्नमेण्ट की सेवा में मेमोरियल भेजे। उनके अनेक यत्न करने पर भी क़ानून तो न बना, पर उस आन्दोलन का फल यह हुआ कि यह कुरीति बहुत घट गई।

सन् १८७२ ई० में कलकत्ते में "हिन्दू फ़ैमिली ऐनुइटी फण्ड" स्थापित हुआ। इस फण्ड में कुछ मासिक देने से मरने पर उसके परिवार वालों को इस फण्ड से मासिक सहायता दी जाती है। विद्यासागर ने भी इसके स्थापित होने में बहुत कुछ सहायता की

थी और तीन वर्ष तक वे महाराज ज्योतीन्द्रमोहन ठाकुर और आनरेबुल बाबू द्वारकानाथ मित्र इसके ट्रस्टी रहे। किन्तु पीछे इसके प्रबन्ध से असन्तुष्ट होकर विद्यासागर ने इसका सम्बन्ध छोड़ दिया। जब उनसे इस फण्ड से सम्बन्ध छोड़ने का कारण पूछा गया तो उन्होंने जिनके जो जो दोष थे वे सब स्पष्ट स्पष्ट कह दिए। वे सत्य कहने में कभी किसी का भी संकोच नहीं करते और न किसीसे डरते थे। उनसे और उस समय के लेफ्टिनेण्ट गवर्नर कैम्बेल साहब से एक साधारण बात पर झगड़ा हो गया था, इसपर निडर होकर उन्होंने लाट साहब की भूल पत्रों में छपवा दी। उस झगड़े के कारण उन्हें बहुत कुछ हानियां सहनी पड़ीं, उनकी बहुतेरी पुस्तकें कोर्स से उठा दी गईं, जिससे आय भी बहुत घट गई, पर स्वाधीन-चित्त विद्यासागर ने इन बातों की कुछ भी चिन्ता न की।

कलकत्ते के कई प्रतिष्ठित लोगों ने विधवा-विवाह में सहायता देने के लिये विद्यासागर से प्रतिज्ञा की थी, पर समय पर सब निकल गए। धनाढ्यों का ऐसे ओछेपन को देख कर विद्यासागर ने उन लोगों से सारा सम्बन्ध ही छोड़ दिया था। उन्होंने अपने जामाता को कालेज में प्रबन्ध करने के लिये रक्खा था, पर उनके किसी काम से वे ऐसे अप्रसन्न हुए कि जामाता के नाते का कुछ भी ध्यान न कर निःसंकोच उन्हें नौकरी से छुड़ा दिया, क्योंकि न तो वे आप झूठ बोलते और न झूठे से किसी प्रकार का सम्बन्ध रखते थे। यहां तक उन्हें झूठ और झूठ बोलनेवालों से चिढ़ हो गई

थी कि वे पिछली अवस्था में कलकत्ते में बहुत कम रहते और सौंताल परगने के "कर्मटाण्ड" नामक स्थान में एक बङ्गला बनवाकर वहीं बड़ी ही सादी चाल से रहा करते थे। वहां पर जङ्गली सौंताल लोग उनके सखा थे। उन गँवारों का सच्चा और निष्कपट व्यवहार विद्यासागर को बहुत ही अच्छा लगता था। वे लोग जो कभी रुष्ट होकर उन्हें गाली भी दे देते तो उन्हें मीठी जान पड़ती थी। निदान उन सीधे सादे सच्चे जङ्गली लोगों के बीच में रह कर विद्यासागर बड़े सुख से अपना समय बिताते थे।

सन् १८७५ ई० में उन्होंने अपना दानपत्र (वसीयत-नामा) लिखा था जिससे मरने के पीछे भी उनकी उदारता ने उनका साथ नहीं छोड़ा। जिन कुटुम्ब वालों या दूसरे असहायों को वे जो मासिक देते थे, उतने ही मासिक देने का उत्तम प्रबन्ध अपने मरने के पीछे भी उस दानपत्र के द्वारा कर गए। उसमें लगभग एक सहस्र रुपए प्रति मास बांटने की सारी व्यवस्था लिखी है।

सन् १८८० ई० में विद्यासागर के उत्तम गुणों पर रीझ कर गवर्नमेण्ट ने उन्हें सी० आई० ई० की पदवी प्रदान की थी।

सन् १८९१ ई० में इकहत्तर वर्ष की अवस्था में (बारहवीं श्रावण की रात को दो बज के अठारह मिनट पर) उन्होंने इस असार संसार को छोड़ा। आज उनका नाशमान शरीर इस नश्वर संसार में नहीं है, परन्तु उनकी अचल कीर्त्ति ज्यों की त्यों विराजमान है और सदैव रहैगी। रुग्णावस्था में उनकी बहुत

कुछ ओषधियां की गईं। सड़क पर गाड़ी घोड़े के शब्द न हों इस लिये उसपर सूखी घास बिछाई गई थी। म्युनिसिप्यालिटी ने अपनी स्कैवेंजर गाड़ी का उधर से आना जाना बन्द कर दिया था। डाकृर साल्जर आदि मिल कर औषध करते थे, परन्तु एक ने भी काम न किया, क्योंकि उनके दिन पूरे हो गए थे। इस लिये वे समस्त भारतवासी और विशेषकर बङ्गालियों को रुला कर अक्षय लोक को चल बसे। उनके मरने पर उनके शोक-प्रकाश करने के लिये सैकड़ों ही सभाएं हुईं और स्मारक-चिन्ह स्थापन करने के भी अनेक प्रस्ताव हुए। २७ अगस्त सन् १८९१ ई० को कलकत्ता टाउनहाल में जो शोक-प्रकाश के लिये सभा हुई थी, उसके सभापति स्वयं बङ्गाल के छोटे लाट सर चार्लस इलियट हुए थे। भारतवर्ष के हिन्दी, अङ्गरेज़ी, बङ्गला तथा गवर्नमेण्ट और देशवासियों के सभी समाचारपत्रों ने उनका गुण गा गा कर शोक प्रकाश किया था। बङ्गला के प्रसिद्ध प्रसिद्ध कवियों ने उनके शोक में कविताएं लिखी थीं, और कलकत्ते की कितनी ही बाज़ारें तथा गवर्नमेण्ट और देशियों के सभी स्कूल और कालेज बन्द हुए थे। कितने ही स्थानों में कितने ही उनके स्मारक चिन्ह स्थापित किए गए, पर कलकत्ते का स्मारक—चिन्ह आज तक बनता ही है। हाय! भारतवर्ष-निवासियों ने अपने स्वाभाविक गुण (गुणग्राहक) को सर्वथा भुला ही दिया कि ऐसे आदरणीय पुरुष की भी कुछ प्रतिष्ठा न की। अस्तु, चाहे कोई विद्यासागर का स्मारक स्थापन करै वा न करै, किन्तु उनकी अटल कीर्त्ति

ही उनका अचल स्मारक है। जब तक बङ्गभाषा पृथ्वी पर रहैगी, जब तक दया और उदारता का आदर संसार में रहैगा, और जब तक विद्यासागर की पुस्तकों की एक चिट भी बची रहैगी, तब तक वह अमर रहैंगे और सुजन-समाज में उनका पवित्र नाम आदर के साथ लिया जायगा।

बङ्गदेश में विद्यासागर के नाम का इतना आदर है कि गांव गांव गली गली घर घर स्त्रियां भी गँवारू गीतों में उनका गुणगान किया करती हैं। बङ्गदेश में एक चाल के किनारे की धोती बनती है उसका नाम "विद्यासागर पाड़" है। प्रेस में अक्षरों के रखने की एक नई चाल उन्होंने चलाई थी, वह आज तक "विद्यासागर सार्ट" के नाम से प्रसिद्ध है और बर्ती जाती है।

विद्यासागर के विमल चरित्र में लोगों के सीखने योग्य बहुत सी बातें हैं। भाइयो! मनुष्य अपने बाहुबल से आप ही क्योंकर बढ़ सकता है, यह देखना हो तो विद्यासागर का चरित देखो; सत्य और धर्म के पथ पर चल कर मनुष्य कैसे सुखी और कीर्त्तिमान् हो सकता है यह जानना हो तो विद्यासागर का चरित्र पढ़ो; दृढ़ता के साथ काम करने से मनुष्य असम्भव को भी कैसे सम्भव कर सकता है, यह सीखना हो तो विद्यासागर का चरित्र पढ़ो; गवर्नमेण्ट का प्रिय पात्र होकर भी मनुष्य किस भांति अपने देश की भलाई कर सकता है, यह समझना हो तो विद्यासागर का चरित्र सीखो; और बाहरी चमक दमक को

दूर कर उदारता, दया तथा सत्यता के गुणों से मनुष्य क्योंकर शोभायमान और आदरणीय हो सकता है, यह हृदयंगम करना हो तो विद्यासागर का चरित्र ध्यान देकर सोचो। सत्य, दया, दृढ़ता और परोपकारिता आदि समस्त गुण विद्यासागर के जीवन के मूल थे। परमेश्वर करे प्रत्येक भारतवासी जन इन गुणों को अपने जीवन का मूल बनाकर विद्यासागर का अनुकरण करते हुए इस देश का मङ्गल करें।

दूरदर्शिता और बुद्धि*

दूरदर्शिता के समान संसार में मनुष्य का हित करनेवाली दूसरी कोई वस्तु नहीं है। जहां तक देखते हैं यह कभी मनुष्य को दुःख में नहीं पड़ने देती, वरन् सदा आनेवाली आपत्तियों से उसकी रक्षा करती है। यही मनुष्य को सब आगा पीछा सुझाती है और जब जैसा समय आता है तब उसी के अनुसार उचित शिक्षा भी देती है। जो मनुष्य दूरदर्शिता की सम्मति के अनुसार काम करता है वह कभी किसी दुःख को नहीं देखता और सदा प्रसन्न रहता है। अपनी अपनी भलाई करने के लिये मनुष्य को चाहिए कि वह सदा दूरदर्शिता की सम्मति सुन कर उसे अपने चित्त में रक्खे और उसीके अनुसार अपना प्रत्येक काम करे; क्योंकि यही मनुष्य को सत्यमार्ग दिखलाने वाली

* दी इकानमी आफ़ लाइफ़ के आश्रय पर बाबू मोहनीलाल गुप्त लिखित।

और उसके जीवन की स्वामिनी है। उसकी शिक्षा सभों के लिये उपयोगी है, क्योंकि वह सब उत्तम गुणों का स्थान है।

दूरदर्शिता कहती है कि वह मनुष्य जो लँगड़े पर हँसता है, सचेत रहे कि कहीं किसी समय आप भी वैसा न हो जाय; और वह मनुष्य, जो कि दूसरे के अवगुणों को सुनकर प्रसन्न होता है, अपने अवगुणों को भी सुन कर कभी न कभी अवश्य दुखी होगा। इसी प्रकार जो मनुष्य अपने स्वास्थ की रक्षा पर यथोचित ध्यान नहीं रखता और किसी इन्द्रिय के सुख की लालसा से उसको नष्ट कर देता है, या जो अपनी रोगावस्था में ठीक ठीक पथ्य नहीं करता, वह एकाएक बिना समय ही मृत्यु का ग्रास बन जायगा। योंही जो मनुष्य सोच विचार कर अपना मुख नहीं खोलता और अपनी जिह्वा को अपने वश में नहीं रखता, तथा सीमा को लांघ कर व्यर्थ बातों की झड़ी लगा देता है, उसको अपने बोलने पर प्रायः शोक करना पड़ता है। अपने चित्तविनोद में भी अवधि से बढ़कर कभी व्यय न करना चाहिए, क्योंकि कहीं ऐसा न हो कि उस मनबहलाव के मोल लेने का कष्ट उसके पाने की प्रसन्नता से अधिक होजाय। जो मनुष्य अपनी सामर्थ्य और आय से अधिक व्यय करता है और कुछ बचाकर नहीं रखता, वह अपने बुढ़ापे में अवश्य दुख पाता है। जो विद्या की ओर ध्यान नहीं देता और अपने समय को व्यर्थ नष्ट कर देता है, वह सदा मनुष्य-जन्म के फल से वंचित रहता है। जो धन का लोभी है उसकी भलाई और मित्रता का भरोसा कभी न

करना चाहिए, और न कभी खोटे मनुष्य को अपना मित्र ही बनाना चाहिए; क्योंकि ये दोनों ही बड़े प्रबल घातक होते हैं और प्रायः अवसर पाकर असह्य शोक का बोझ सिर पर डाल देते हैं। इसी प्रकार दूरदर्शिता की अनेक शिक्षाएं हैं, कि जो समय समय पर मनुष्य को मिलती रहती हैं। इसलिये जो दूरदर्शिता की शिक्षाओं को मानकर काम करता है वह सदा सब प्रकार से सुखी रहता है और जो उसकी शिक्षाओं को नहीं मानता, तथा बिना समझे बूझे मन माना काम करता है, उसको सदा नाना प्रकार के दुःख ही भोगने पड़ते हैं।

अब यह जानना चाहिए कि दूरदर्शिता और बुद्धि ये दोनों सहोदरा भगिनी हैं और इसी कारण से इन दोनों का परस्पर ऐसा प्रेम और सम्बन्ध है कि जहां एक रहती है वहां दूसरी भी अवश्यही रहती है। परन्तु इन दोनों में दूरदर्शिता से बुद्धि को बड़ी समझना चाहिए, क्योंकि बिना बुद्धि के किसी को कभी भी दूरदर्शिता प्राप्त नहीं हो सकती। एक दूरदर्शिता ही नहीं, वरन् संसार में बुद्धि के बिना कोई काम भी उचित रीति से नहीं सिद्ध हो सकता। केवल बुद्धि द्वारा मनुष्य का मनुष्यत्व प्रकट होता है, क्योंकि जिसको बुद्धि नहीं है उसको बिना सींग पूंछ का पशु समझना चाहिए। जिस मनुष्य की बुद्धि स्वयं प्रकाशित नहीं होती, शास्त्रों के पठन पाठन से भी उसको कुछ लाभ नहीं होता; क्योंकि यह समझने की बात है कि अन्धे मनुष्य का दर्पण से भला क्या उपकार हो सकता है? मैंने सैकड़ों

ऐसे पण्डित मूर्ख देते हैं, कि वे पढ़े लिखे ते हैं सब कुछ, परन्तु बुद्धि उन्हें तनिक भी नहीं है। इस पर एक अनुभवी महात्मा ने कहा है कि एक मन विद्या के लिये दस मन बुद्धि चाहिए। संसार में बुद्धिहीन मनुष्य की जो जो दशाएं होती हैं और जो जो क्लेश उसे भोगने पड़ते हैं, वे किसी प्रकार भी नहीं कहे जा सकते। बुद्धिहीन की दुर्दशा के विषय में यह दोहा क्या अच्छा है–

घण्ट क्वणत गज पीठ यह, घोषत डिंडिम तूर।
देखहु बिनु मति नैन निज, यासु दसा तुम सूर॥

अर्थात्—हाथी की पीठ पर घण्टा बजता हुआ ढंढोरे के समान यह घोषणा* करता है कि हे शूर लोगो! तुम अपनी आंखों से बुद्धिहीन इस हाथी की यह दशा देखो।

जो काम संसार में बड़ा कठिन और दुस्साध्य दिखलाई देता है वह बुद्धि के बल से सहज ही में सिद्ध हो जाता है। जिस काम को सैकड़ों बलवान् मनुष्य नहीं कर सकते उसको बुद्धिमान् मनुष्य अकेला कर सकता है। और जो काम महीनों और सप्ताहों में सिद्ध होने वाला दीखता है वह बुद्धि के बल से दिनों और घड़ियों में सिद्ध हो जाता है। वे बड़ी बड़ी कठिनाइयां और आपत्तियां जो कि समय समय पर मनुष्य के सामने उपस्थित हुआ करती हैं, बुद्धि के प्रभाव से सहज ही में दूर हो जाती हैं। यही कारण है कि बुद्धिमान् मनुष्य को कभी

---

* घोषणा = मुनादी।

किसी प्रकार का खेद नहीं होता और वह जिस अवस्था में रहता है उसीमें सदा प्रसन्न रहता है। जिस प्रकार औषध शरीर के रोगों को नष्ट करती है, उसी प्रकार मन के क्लेशों को बुद्धि दूर कर देती है। बुद्धि को छोड़ कर संसार में और कोई भी दूसरा ऐसा पदार्थ नहीं है जो कि मनुष्य के लिये सबसे अधिक उपयोगी हो, क्योंकि बुद्धि है तो सब कुछ है, और बुद्धि ही नहीं रही तो फिर कुछ भी नहीं है। यद्यपि मूर्ख लोग ही सदा अभागे नहीं होते और न बुद्धिमान् ही सदा भाग्यवान् होते हैं, तथापि मूर्खों को पूरी प्रसन्नता कभी भी प्राप्त नहीं होती और बुद्धिमान् सदा ही प्रसन्न रहते हैं।

जीवनकाल और उसका बर्त्ताव*

जीवन एक ऐसा उत्तम और अत्यन्त प्रिय वस्तु है कि जिसके समान संसार भर में दूसरा कोई पदार्थ नहीं है। इसकी महिमा ऐसी अपरम्पार है कि कोई भी उसको यथार्थ रीति से नहीं कह सकता। यह जो कुछ दिखाई देता है सो सब जीवन ही से है; यदि जीवन ही नहीं तो फिर कुछ भी नहीं है। परन्तु बड़े खेद की बात है कि ऐसे प्रियतम जीवन की संसार में कुछ भी स्थिरता नहीं है और न उसके समय की ही कुछ स्थिरता दीखती है। देखो, जीवन एक खिले हुए उस फूल के समान है जो कि कुछ काल में आपही आप कुम्हला कर गिर पड़ेगा और

---

* दी इकानमी आफ़ लाइफ़ के आश्रय पर बाबू मोहनीलाल गुप्त लिखित।

फिर कभी उस शोभा को प्राप्त न होगा। यद्यपि मनुष्यों को अपना अपना जीवन बहुत ही प्यारा होता है, तथापि वे उसका यथोचित आदर नहीं करते। क्योंकि बहुत से मनुष्य अपने समय को व्यसन आदि व्यर्थ और खोटे कामों में, अथवा बिना काम ही बैठ कर, या रात दिन सोकर खो देते हैं। वे चाहते हैं कि उनकी आयु के दिन रात महीने और वर्ष योंही व्यतीत होते जायं तो अच्छी बात है; परन्तु यह कभी नहीं सोचते, कि जितने पल बीत रहे हैं उतनीही उनकी आयु घट रही है। क्योंकि जो समय व्यतीत हो जाता है फिर वह कभी किसी प्रकार से भी हाथ नहीं आता, चाहे उसके लिये कितने ही प्रयत्न और व्यय क्यों न किए जायं। देखो—

जैसे गङ्ग-प्रवाह यह, लौटत जाय न हेर।
तैसहि लै वय रैन दिन, आवत कबौं न फेर॥

अर्थात्—देखो जिस प्रकार से कि यह गङ्गा का प्रवाह जाकर फिर पीछे नहीं लौटता, उसी प्रकार रात और दिन आयु को लेकर फिर कभी नहीं लौटते।

यह बात कोई नहीं जानता कि संसार में कौन व्यक्ति कब तक जीता रहैगा। क्योंकि प्रायः बड़े बड़े बलवान् मनुष्य अपनी युवा अवस्थाही में मर जाते हैं और बहुतेरे लोग बाल्याव-स्थाही में इस संसार से चले जाते हैं। क्योंकि देखो—

नाचत काल कराल नित, केस पकरि तव सीस।
जानत को दरि पांव तर, कब डारै खल पीस॥

अर्थात्—भयंकर काल केश पकड़ कर सदा तेरे सिर पर नाचता है वह नीच अपने पैरों के नीचे तुझे दल कर कब पीस डाले, इस बात को कौन जानता है ?

सच तो यह है कि प्रत्येक मनुष्य को इस संसार में अपने अपने नियत समय तक जीना है। इसलिये यह बात सबके लिये आवश्यक है कि कोई भी अपने समय को कभी भूल कर भी व्यर्थ न खोवे और प्रति क्षण भलाई के करने तथा ऐसे कामों में लगा रहै कि जिनसे किसीको कुछ दुःख न पहुंचै।

जब हम अपने जीवन काल में से व्यर्थ-भाग अर्थात् बाल्यावस्था, निद्रावस्था और रोगावस्था आदि को निकाल कर देखते हैं, तो वह बचा हुआ भाग बहुत थोड़ाही सा रह जाता है। अब हमको इतने ही के भीतर अपने प्रत्येक कर्त्तव्य को बड़ी सावधानी से पूरा कर लेना चाहिए। क्योंकि जो दिन बीत गए वे तो सदा के लिये चले ही गए और जो दिन आने वाले हैं कौन जानता है कि वे देखने में आवैं वा न आवैं। इसलिये भूतकाल का शोक और भविष्यत्काल का भरोसा छोड़ कर वर्त्तमानकाल से सवों को काम लेना उचित है। अनुचित रीति से अपने जीवन को व्यतीत करके बहुत काल तक जीने की अपेक्षा उचित रीति से अपने जीवन को बिताकर थोड़ेही काल पर्य्यंत जीना बहुत ही उत्तम है। क्योंकि संसार में मनुष्य को इस प्रकार से जीना चाहिए कि उसके मरने पर उसको कोई भी तो कभी कभी स्मरण कर लिया करै। यदि ऐसा न हुआ तो जीने से लाभ ही

क्या है। उसपर किसी महात्मा ने कहा है कि निकृष्ट जीवन से तो मृत्यु ही अच्छी है।

यदि मनुष्य अपने समय को पढ़ने लिखने और भलाई के कामों में व्यतीत करै तो उसका जीवन काम में आया, और यदि वह अपने समय को व्यसन आदि खोटे कामों में खो दे तो उसके जीने से कुछ भी लाभ नहीं है। ऐसा प्रायः देखने में आता है कि जो मनुष्य अपने जीवन का यथोचित आदर करते हैं, अर्थात् सदा परोपकार में लगे रहते हैं, वे इस संसार में बहुत दिनों तक जीते हैं और जो अपने जीवन का यथोचित आदर नहीं करते, अर्थात् जो रात दिन नीच कर्म में फँसे रहते हैं, वे अपनी आयु को घटा देते हैं। प्रत्येक मनुष्य के लिये यह बात परम आवश्यक है कि वह अपनी युवा अवस्था ही में अपने बुढ़ापे की चिन्ता करै और उसके लिये कुछ धन उपार्जन कर रक्खै; किसीके अपकार में न रहै, जहां तक हो सके सदा लोगों का उपकार करै, और नित्य अपने परमेश्वर के ध्यान में लगा रहै। बस यही संसार में जीने का फल है और यही उसके जीने की शोभा है, क्योंकि जो मनुष्य अपने जीवन का यथोचित आदर करके उसको कभी व्यर्थ नहीं खोता और सदा उचित कामों में उसे व्यतीत करता है, वही प्रशंसा और आदर के योग्य है।

रामायण की कथा*

सूर्यवंशी राजाओं में सबसे पहिले राजा इक्ष्वाकु हुए, जिन्होंने सरयू के तीर अयोध्या को अपनी राजधानी बनाया। उन्हींके वंश में महाराज दशरथ बड़े प्रतापी हुए, जिनकी कौशल्या, सुमित्रा और कैकेयी ये तीन रानियां थीं। जब उन तीन रानियों में से किसीको भी कोई बालक न हुआ और महाराज दशरथ को भी बुढ़ापे ने आ घेरा, तो कुल के नाश के भय से दुखी और उदास हो उन्होंने अपने कुलगुरु महर्षि वशिष्ठ की आज्ञा से शास्त्रानुसार पुत्रेष्टि † नामक यज्ञ किया। ईश्वर की इच्छा से यज्ञ के समाप्त होने पर तीनों रानियां गर्भवती हुईं और यथासमय बड़ी रानी कौशल्या के गर्भ से चैत्र शुक्ला नवमी बुधवार को मध्यान्ह के समय श्री रामचन्द्र जी प्रकट हुए। उसीके प्रातःकाल दशमी को कैकेयी के गर्भ से श्री भरत जी उत्पन्न हुए और उसके दूसरे दिन एकादशी को सुमित्रा के गर्भ से दो बालक हुए, जिनमें बड़े का नाम श्री लक्ष्मण और छोटे का नाम श्री शत्रुघ्न रक्खा गया।

समय पाकर जब वे चारों राजकुमार बड़े हुए तो रूप, गुण, बल, बुद्धि और विद्या में उनके समान संसार में कोई न रहा। यों तो चारों भाइयों में परस्पर बड़ा ही स्नेह था, पर तो भी विशेष कर राम और लक्ष्मण में, तथा भरत और शत्रुघ्न में परस्पर कुछ

---

* बाल्मीकि-रामायण के आशय पर बाबू कार्तिकप्रसाद लिखित।

† जो पुत्र के लिये किया जाय।

अधिक प्रीति थी। श्री रामचन्द्र अपने तीनों भाइयों को जैसा प्यार करते थे, वे तीनों भी उसी भांति उन्हें बड़ा मान कर उनपर श्रद्धा और भक्ति रखते थे।

महाराज दशरथ ने अपनी वृद्धावस्था में भी पुत्रों को केवल लाड़चाव में नष्ट न होने दिया, वरन् उन्हें भली भांति शस्त्र शास्त्र आदि विद्या तथा कला कौशल की पूरी शिक्षा दी। वे अपने चारों पुत्रों को शील, स्वभाव, गुण, बल, विद्या और बुद्धि के निधान जान कर एक दिन पुरोहित मन्त्री तथा मित्रवर्गों के साथ सभा में बैठे हुए उनके विवाह की चर्चा कर रहे थे कि इतनेही में द्वारपाल ने आकर महर्षि विश्वामित्र के आने की सूचना दी। यह सुनतेही महाराज ने अपने मंत्रियों के साथ द्वार तक जाकर विश्वामित्र की अगवानी की और उन्हें बड़े आदर से सभा में लाकर आसन पर बैठाया। परस्पर कुशल प्रश्न होने के उपरान्त विश्वामित्र ने दशरथ से कहा कि "राजन्! जिस तपोवन में हमलोग रहते और तपस्या तथा यज्ञादिक धर्म कर्म करते हैं, वहां पर आज कल कई राक्षसों ने बड़ा उपद्रव मचाया है; वे समय समय पर हमलोगों की यज्ञशाला को मलमूत्र और रुधिर आदि की वर्षा कर अपवित्र कर देते हैं जिससे यज्ञादिक कर्म नष्ट हो जाते हैं। यदि हमलोग चाहें तो उन दुष्टों को बात की बात में भस्म कर दें पर ऐसा इसलिये नहीं कर सकते कि यज्ञ का अनुष्ठान करके क्रोध करना अनुचित है। क्योंकि ऐसा करने से यज्ञ का फल नष्ट हो जाता और तपस्या भङ्ग हो

जाती है। इसलिये हम चाहते हैं कि आप थोड़े दिनों के लिये अपने परम पराक्रमी प्रिय पुत्र राम और लक्ष्मण को हमारे साथ कर दीजिए और इसमें किसी बात की चिन्ता न कीजिए। यद्यपि ये अभी सुकुमार बालक हैं, तौभी हमारे यज्ञ की रक्षा करने में भली भांति से समर्थ होंगे। महर्षि की ऐसी बातें सुनकर महाराज का वीर हृदय भी एक सङ्ग कांप उठा। उन्होंने महर्षि का बहुत कुछ विनय करके कहा कि राम और लक्ष्मण के बदले आप हमको या हमारी सब सेनाओं को लेजाइए, परन्तु महर्षि विश्वामित्र ने एक न मानी। तब कुलगुरु वशिष्ठ के बहुत समझाने बुझाने और धैर्य दिलाने पर महाराज ने अपने प्राण से प्यारे दोनों कुमारों को विश्वामित्र के साथ बिदा किया, और वे दोनों भाई भी बड़ी प्रसन्नता से उनके साथ तपोवन में पहुंचे।

विश्वामित्र के पहुंचने पर आश्रमवासी ऋषियों ने यज्ञ प्रारम्भ किया। यह समाचार पाकर त्योंही ताड़का नाम की राक्षसी आकर यज्ञ में विघ्न डालाही चाहती थी कि चट श्री रामचन्द्र ने एकही बाण से उसे मार गिराया। उसके मरने का समाचार सुन उसके दोनों पुत्र मारीच और सुबाहु क्रोध में भरे हुए यज्ञशाला में आकर बड़ा उपद्रव करने लगे। तब श्री रामचन्द्र ने सुबाहु को तो एकही बाण से मार डाला और मारीच अपने प्राण के डर से भाग गया। उनके ऐसे पराक्रम और प्रताप को देखकर सभी आश्रमवासी ऋषि प्रसन्न होकर उनकी प्रशंसा करने लगे और विश्वामित्र ने भी सन्तुष्ट होकर उन्हें कई

दिव्य अस्त्र शस्त्र दिए और उनके चलाने की रीति भी सिखा दी। फिर श्री रामचन्द्र की प्रार्थना से उन्होंने लक्ष्मण जी को भी वे सब अस्त्र शस्त्र दे कर उनके चलाने की बिधि बता दी।

यज्ञ के निर्विघ्न समाप्त होजाने पर एक दिन विश्वामित्र ने श्री रामचन्द्र से कहा कि मिथिला के राजा जनक के यहां आज कल एक बड़ा उत्सव और यज्ञ हो रहा है। निमंत्रण भी आया है, इसलिये हमलोग भी यज्ञ देखने के लिये जायंगे; तुम दोनों भाई भी हमारे साथ चलो। वहां हम तुम्हें एक बड़ा ही अद्भुत धनुष दिखावेंगे। देवताओं ने प्रसन्न होकर वह धनुष राजा जनक के पुरखाओं को दिया था। वह इतना भारी है कि जो बड़े बड़े वीरों के उठाए भी नहीं उठ सकता। जब तुम उसे देखोगे तो बहुत प्रसन्न होगे। यह सुन प्रसन्न हो दोनो भाइयों ने महर्षि की आज्ञा बड़े आदर के साथ स्वीकार की।

प्रातःकाल शुभ मुहूर्त्त में महर्षि विश्वामित्र, श्री राम लक्ष्मण तथा अपने साथी ऋषियों को लेकर उत्तर दिशा की ओर चले और सन्ध्या होते होते सोन नदी के तीर पहुंचकर वहीं टिक रहे। श्री रामचन्द्र ने उनसे उस स्थान का वृत्तान्त पूछा तो उन्होंने उसका इतिहास सुना कर कहा कि इसीका नाम गिरिव्रज है। विश्वामित्र ने वहीं पर रात बिता और अरुणोदय के पहिले उठकर ऋषियों को साथ ले स्नान सन्ध्या आदि नित्य कर्म किया और फिर वे सोन नदी के तीरवाले जङ्गलों में होते हुए दोपहर होते होते गङ्गा के तटपर बसी हुई विशाला नगरी

में पहुंचे। वहां के राजा से भली भांति आदर सत्कार पा और एक रात उसी के अतिथि बन कर दूसरे दिन मिथिला पहुंचे।

विश्वामित्र का आना सुन जनक ने अपने मंत्री के साथ उनकी अगवानी कर बड़ी भावभक्ति से ऋषियों के सहित उन्हें लाकर अपने यहां टिकाया और जब महर्षि से उन्होंने दशरथ दुलारे दोनों राजकुमारों का परिचय पाया तो वे बहुत ही हर्षित और पुलकित हुए। विशेषकर श्री रामचन्द्र के सुन्दर और अलौकिक रूप तथा लक्षणों को निहार कर वे अपने किए हुए प्रण पर पश्चात्ताप करने लगे। निदान दूसरे दिन राजा जनक ने दोनों कुमारों के साथ विश्वामित्र को बड़े आदर से अपनी सभा में बुलाया और उन्हें आसन पर बैठा, हाथ जोड़ कर कहा कि मुनिवर! अब मेरे योग्य जो आज्ञा हो सो दीजिए। यह सुन महर्षि ने कहा कि राजन्! आपके यहां जो जगत-विख्यात शिव-धनुष है उसके देखने की बड़ी लालसा इन कुमारों के मन में लग रही है, सो कृपा-कर उसे मँगवाइए तो अत्युत्तम हो। यह सुन जनक उसके लाने की आज्ञा अपने योद्धाओं को दे कर महर्षि से अपनी कन्या 'सीता' के जन्म की कथा और उसके विवाह के लिये जो प्रण किया था सो सब सुनाने लगे। इतनेही में कई एक बलवान् योद्धा लोग गाड़ी पर लादे हुए एक मंजूषा (सन्दूक) को खैंच कर ले आए जिसमें वह धनुष रक्खा था।

जनक के कहने और विश्वामित्र की आज्ञा से श्रीरामचन्द्र ने उठ कर सहजही में उस धनुष को उठा लिया, जिसके हिलाने

में भी पृथ्वी के सभी वीर हार मान चुके थे और फिर जब (श्रीरामचन्द्र) उसे झुकाकर ज्योंही उसकी प्रत्यञ्चा* चढ़ाने लगे त्योंही वह कड़कड़ा कर तड़ाके के साथ बीच से दो टूक हो गया। धनुष-भङ्ग होतेही राजा जनक तथा रनिवास की सब स्त्रियों को बड़ाही आनन्द हुआ, क्योंकि जब से श्री रामचन्द्र जनकपुर में आए थे, तबसे उन्हें देख कर सभों की यही लालसा हुई थी कि किसी प्रकार श्री जानकी जी का विवाह श्री रामचन्द्र के साथ हो।

राजा जनक ने हाथ जोड़ कर विश्वामित्र से कहा कि मुनिवर! दशरथ-कुमार रामचन्द्र ने धनुष तोड़ कर मेरी प्रतिज्ञा पूरी की। इसलिये मैं अपनी प्यारी पुत्री सीता का विवाह इन्हीं के साथ कर अपने कुल को पवित्र किया चाहता हूं। इसलिये अब आप आज्ञा दें तो मेरे दूत रथों पर बैठ शीघ्र अयोध्या में जाकर यह मङ्गल समाचार महाराज दशरथ को सुनावें और उनसे बिनती कर बारात सजवा कर उन्हें अपने साथही लिवा लावें। यह सुन विश्वामित्र ने हर्षपूर्वक जनक को दशरथ के पास निमंत्रण भेजने को आज्ञा दी।

महाराज दशरथ ने राजा जनक के निमंत्रण-पत्र को पाकर सब समाचार जाना; तो बहुतही प्रसन्न हो बारात को साज गुरु वशिष्ठ जी और अपने कुमारों (भरत और शत्रुघ्न) तथा बन्धु बांधवों के सहित शीघ्र ही जनकपुर जा पहुंचे और बड़े ही आदर के साथ जनक ने उनका आतिथ्य किया।

---

* प्रत्यञ्चा धनुष की डोरी को कहते हैं।

इसके अनन्तर राजा जनक ने प्यारी कन्या सीता का विवाह श्री रामचन्द्र के साथ कर के फिर विश्वामित्र की सम्मति से अपने छोटे भाई कुशध्वज को तीनों कन्याओं में से, उर्मिला लक्ष्मण को, मांडवी भरत को और श्रुतकीर्ति शत्रुघ्न को व्याह दी।

विवाह होने पर बिदा हो ज्योंही महाराज दशरथ चला चाहते थे कि एकाएक महा-क्रोधी परशुराम जी अस्त्र शस्त्र लिये सामने आखड़े हुए, जिन्हें देखतेही मारे भय के सब लोग कांप उठे। परशुराम जी ने भी श्रीरामचन्द्र को पुकार कर क्रोध भरे बचनों से कहा, रे दशरथ के लड़के! महादेव जी के पिनाक को तोड़कर तुझे बड़ा अभिमान हुआ है, इसलिये हम तुझे अपने इस धनुष को देते हैं; जो तू इसकी डोरी चढ़ा और इसपर बाण को रखकर न खींच सकैगा तो अवश्य हमारे हाथों तेरे प्राण जायंगे। उनके क्रोध से भरे वाक्यों को सुन कर श्री रामचन्द्र ने उनकी बहुत स्तुति की, पर उन्होंने एक न मानी। तब तो श्री रामचन्द्र ने उनके हाथ से धनुष ले सहजही में उसकी प्रत्यञ्चा चढ़ा कर उसपर बाण खैंचा। यह अलौकिक चमत्कार देखकर परशुराम जी लज्जित हो उनकी बड़ी स्तुति करके चले गए और सब लोग हर्षित हो श्री रामचन्द्र की प्रशंसा करते हुए अपने अपने भाग्य को सराहने लगे कि आज परशुराम जी के हाथ से अच्छे बचे।

महाराज दशरथ अपने चारों पुत्रों और पतोहुओं को साथ ले बड़े आनन्द से अयोध्यापुरी में आए। जब से श्री रामचन्द्र विवाह करके घर आए तब से नित्य नए नए उत्सव अयोध्या में घर घर होने लगे।

थोड़े दिन पीछे केकय के राजकुमार युधाजित अयोध्या में आकर अपने भाञ्जे भरत और शत्रुघ्न को अपने साथ ले गए, और इधर श्री रामचन्द्र अपने पिता के अधीन रह कर राज-काज और प्रजा-पालन में उनकी सहायता करने लगे।

रामचन्द्र के अलौकिक गुणों को देख सारी प्रजा की यह इच्छा हुई कि अब महाराज इन्हें युवराज बना कर पुत्र के राज-काज का सुख देखें और आप उससे अलग हो निश्चिन्तता से अपने दिन बितावें।

निदान महाराजा दशरथ ने प्रजा का श्री रामचन्द्र पर पूरा अनुराग और रामचन्द्र में प्रजापालन करने की पूर्ण शक्ति देखकर शीघ्रही उनके राज्याभिषेक करने का विचार किया। यह समाचार तुरन्त राज्यभर में फैल गया जिससे सारी प्रजा आनन्दित हो गई और उस मङ्गलमय समय की बाट बड़ी उत्कण्ठा से जोहने लगी। जिस दिन श्री रामचन्द्र को राज्याभिषेक होनेवाला था उसके एक दिन पहिले कैकेयी की दासी मन्थरा ने जाकर उसके इस अभिषेक का सन्देसा कहा, जिसे सुनकर मारे आनन्द के उसने उस दासी को अपना एक आभूषण उतार कर दे दिया। पर उसने उसे उठाकर फेंक दिया और झुंझला कर कहा कि

रानी ! तुम अपने हानि लाभ को कुछ भी नहीं समझतीं; भला जब सौत का लड़का राजगद्दी पर बैठेगा तब तुम्हारा लड़का उसका जन्मभर सेवक ही न बना रहेगा ? इस प्रकार से उसने बहुत सी बातें बना कर रानी का मन ऐसा फेर दिया कि वह भी उसकी बातों से बहक गई और पूछने लगी कि अब मुझे क्या करना चाहिए ? मन्थरा पुरानी बात का स्मरण करा कर बोली कि महाराज ने जो तुम्हें दो वर देने के वचन दिए हैं, उन दोनों में से एक तो तुम यह मांगो कि राम को राज्य न हो भरत को हो, और दूसरा यह मांगो कि राम चौदह वर्ष लों वन में रहें। कैकेयी इस उपदेश को मानकर कोपभवन में जा बैठी और जब महाराज दशरथ आए तब उनके बहुत कुछ मनाने पर उसने वेही दोनों वर मांगे। यह सुनतेही महाराज अत्यन्त व्याकुल हो कर मूर्छित हो गए। मूर्छा दूर होने पर वे विह्वल हो विलाप करते हुए रानी को अनेक भांति से समझाने लगे, पर उसने उनके विलाप पर कुछ भी ध्यान न दिया और अपना हठ न छोड़ा। तब विवश हो उन्होंने राम को बुला भेजा और सब वृत्तान्त कह सुनाया। इसे सुन कर श्री रामचन्द्र के चित्त में कुछ भी दुःख न हुआ और चट वे वन जाने की आज्ञा देने के लिये पिता को समझाने लगे। निदान अनेक प्रकार से समझा बुझा कर श्री रामचन्द्र अपनी माता कौशल्या तथा और लोगों से बिदा होने के लिये आए। सबसे पहिले उनकी लक्ष्मण जी से भेंट हुई। तब श्री रामचन्द्र ने उनसे सब समाचार कह सुनाया, जिसे

सुनतेही मारे क्रोध के लक्ष्मण जी का सारा शरीर कांप उठा और रोष भरे शब्दों से उन्होंने कहा, देखूं तो मेरे रहते कौन बड़े भाई को राज्य देने में रोकता है ? श्री रामचन्द्र ने अनेक प्रकार से उन्हें समझा बुझा कर शान्त तो किया पर वे भी उनके साथ वन जाने को प्रस्तुत हो गए। धीरे धीरे यह समाचार सीता और कौशल्या तक पहुंचा, जिससे चारों ओर से शोक का समुद्र उमड़ आया। अन्त में श्री रामचन्द्र अयोध्या-वासियों को रोते बिलबिलाते छोड़ लक्ष्मण और सीता को साथ ले वन को चले। उस समय उनकी अवस्था सत्ताइस वर्ष और सीता की अठारह वर्ष की थी। अयोध्यापुरी के बाहर निकल दक्षिण की ओर गङ्गातीर तक जाकर उन्होंने रथ को लौटा दिया और गङ्गा-पार हो अपने परम भक्त निषाद-राज गुह के अनेक विनय करने पर वहीं एक रात्रि वृक्ष के नीचे रह कर दूसरे दिन प्रातःकाल दक्षिण की ओर यात्रा की।

श्री रामचन्द्र के विरह से अत्यन्त कातर हो कर महाराज दशरथ ने अपना शरीर त्याग दिया। फिर पिता के मरने का समाचार पातेही भरतजी अपने मामा के यहां से अयोध्या में आए और कैकेयी तथा मन्थरा को अनेक कटु-वचनों से धिक्कार कर पिता के दाह कर्म आदि संस्कार के विना किए ही श्री रामचन्द्र को लौटाने के लिये प्रजावर्ग के साथ उनको ढूंढ़ते हुए वन को चले।

उधर श्री रामचन्द्र अयोध्या से निकल कर तीन दिन पर्यन्त केवल जलपान कर रहे। चौथे दिन वे फल खा कर गङ्गा पार हुए और पांचवें दिन चित्रकूट पर्वत पर पहुंच वहीं कुटी बना कर रहने लगे।

इधर वन में रामचन्द्र को खोजते हुए भरत जी भी वहीं आ पहुंचे और उन्होंने श्री रामचन्द्र से लौट चलने के लिये बहुत कुछ कहा सुना। परन्तु पिता की आज्ञा टालने के भय से श्री रामचन्द्र ने उन्हें समझा बुझाकर बिदा किया। चलती बेर भरतजी श्री रामचन्द्र की खड़ाऊं लेते गए और अयोध्या पहुंच कर उन्होंने पिता का श्राद्ध आदि कर्म किया, तथा आप उसी खड़ाऊं को राज-सिंहासन पर रख और स्वयं नन्दीग्राम में रहकर रामभजन करते हुए प्रजा पालन करने लगे।

अनन्तर पुनः भरत जी के आगमन के भय से श्री रामचन्द्र चित्रकूट पर्वत को छोड़ कर घोर से घोर बनों में प्रवेश करते और विराध इत्यादि राक्षसों को मारते हुए पञ्चवटी* नामक वन में पहुंचे और वहां गोदावरी-तीर-निवासी मुनियों की रक्षा करते हुए निवास करने लगे। थोड़े दिनों के उपरान्त वे पञ्चवटी को छोड़ और भी घने जङ्गल में चले गए। वहां शूर्पणखा नाम की एक राक्षसी, जो कि रावण की बहिन थी, लक्ष्मण जी के रूप को देख कर अत्यन्त मोहित हो गई और अपना रूप सुन्दर बना

---

* पञ्चवटी = आज कल इस स्थान का नाम नासिक है। बम्बई से नासिक रोड तक रेल है।

कर लक्ष्मण के पास आ उनसे विवाह करने के लिये हठ करने लगी। परन्तु उनसे कोरा उत्तर पाकर उसने सीता जी को मारना चाहा। तब तो स्त्री को मारना उचित न जान लक्ष्मण ने उसके नाक कान काट लिए। इसपर वह बड़ी कुपित हो, खर दूषण आदि राक्षसों को श्री रामचन्द्र पर चढ़ा लाई, जिन्हें अकेले श्री रामचन्द्र ने युद्ध में मार यमपुर को भेज दिया। यह देख दुःख और क्रोधसे विकल हो शूर्पणखा अपने भाई रावण को बुला लाई और वह पापी भी मारीच को अपने साथ लेता आया। उस समय यह आप तो वनमें छिपा रहा और मारीच को सोने के रङ्ग का बड़ा सुन्दर मृग बनाकर जानकी जी के सम्मुख किलोल करने के लिये भेज दिया। उसे देखकर जानकी जी ने श्री रामचन्द्र से उसके पकड़ लाने के लिये बड़ा हठ किया। तब स्त्री के हठ से विवश हो श्री रामचन्द्र धनुष वाण लिये मृग के पीछे पीछे जब बहुत दूर चले गए तब उस मारीच ने कातर हो रामचन्द्र केसे कंठस्वर से लक्ष्मणजी को पुकारा, जिसे सुनते ही सीता जी ने घबराकर लक्ष्मण जी से कहा कि तुम अभी जाओ, देखो तो सही तुम्हारे भाई पर कोई बड़ा कष्ट पड़ा है। यह सुन लक्ष्मण जी ने उन्हें बहुत कुछ समझाया, पर वह उनसे जाने के लिये बार बार कहने लगीं। तब विवश हो लक्ष्मण जी उसी ओर चले जिधर से वह शब्द सुनाई दिया था।

ज्योंही लक्ष्मण जी कुटी से बाहर हुए, त्योंही रावण भिखारी का भेष बना सीता जी के सामने आया और बलपूर्वक उन्हें

अपने रथ पर बैठा कर ले भागा। रोती और कलपती हुई परमदुःखनी सीता चिन्ह के लिये अपने गहनों को मार्ग में बराबर गिराती हुई चली गई।

जब श्री रामचन्द्र ने मृग पर बाण चलाया, तब वह अपना कपट रूप छोड़ राक्षस बनकर बाण को चोट से कराहता हुआ सुरधाम को सिधारा। यह देखकर श्री रामचन्द्र को बड़ा विस्मय हुआ और वे घबराए हुए आश्रम को ओर झपटे चले आ रहे थे, कि उधर से घबराए हुए लक्ष्मण को भी अपनी ओर आते देख, उनके चित्त में बड़ी शंका हुई कि क्या जानकी के ऊपर तो कोई विपत्ति नहीं आई। लक्ष्मण जी से उनके आने का कारण सुन कर फिर दोनों भाई लौटे और कुटी में जाकर उन दोनों ने देखा कि वहां सीता नहीं है। यह देख दोनों बड़ेही घबराए और विशेषकर श्री रामचन्द्र तो बड़े विकल हुए। पर लक्ष्मण जी के समझाने बुझाने पर वे कुछ धीरज धर कर लक्ष्मण के साथ कुटी के आस पास सीता जी को ढूंढ़ने लगे। खोजते खोजते कई स्थान पर गिरे हुए गहने मिले, जिन्हें देख वे लोग भी बराबर उधरही आगे की ओर बढ़ते चले गए। कुछ दूर जाने पर उन्होंने अपने पिता के बन्धु जटायु को अधमरा सा पड़ा पाया। वे दोनों उसके पास गए। तब उसने सीताहरण और रावण से अपने युद्ध की कथा कह सुनाई और अन्त में वह प्राण त्याग परलोक सिधारा। श्री रामचन्द्र ने अपने हाथों से उसको दाह-क्रिया की और फिर वे विलाप करते हुए लक्ष्मण के साथ

आगे बढ़े। बड़े बड़े पर्वतों और गुफाओं में सीता जी को ढूंढ़ते और उनके लिये विलाप करते चले जाते थे, कि पथ में बड़े विशालबाहु वाला कबन्ध नामक राक्षस मिला। तब श्री रामचन्द्र उसे खड्ग से मार आगे जाते जाते पम्पासर पर थोड़ा विश्राम कर ऋष्यमूक पर्वत पर पहुंचे। वहां बाली के भय से सुग्रीव अपने पांच मंत्रियों के साथ रहा करता था। उसने उन दोनों भाइयों को बाली का गुप्त चर जान कर भयभीत हो हनूमान जी को भेद लेने के लिये भेजा। हनूमान जी जाकर श्री राम और लक्ष्मण को सुग्रीव के पास लिवा लाए और बीच में अग्नि को रखकर दोनों (श्री रामचन्द्र और सुग्रीव) ने शपथ पूर्वक परस्पर मित्रता की। फिर श्री रामचन्द्र ने बाली को मार सुग्रीव को राजा बनाने और सुग्रीव ने सीता की खोज लगाने की परस्पर प्रतिज्ञा की।

प्रतिज्ञा के अनुसार श्री रामचन्द्र ने बाली को मार कर सुग्रीव को किष्किन्धा का राजा बनाया। और उसने भी अपने सम्पूर्ण बन्दरों को बुलाकर सीताके ढूंढ़ने के लिये आठों दिशाओं में उन्हें भेज दिया, तथा मुखिया मुखिया बन्दरों को, जैसे अङ्गद, जाम्बवान्, नल, नील, और हनूमान् को, दक्षिण की ओर भेजा। वे लोग सीता को खोजते हुए दक्षिण समुद्र के तट पर पहुंचे और वहां सम्पाती से अगहन की दशमी के दिन उन्हें सीता का सन्देसा मिला और द्वादशी के दिन सायङ्काल में मार्ग के सब विघ्नों को नाश कर सब साथियों को इसी पार छोड़ कर

अकेले हनूमान्जी श्री रामचन्द्र की दी हुई मुद्रिका (अँगूठी) ले समुद्र पार लङ्कापुरी में गए। और वहां पर वे अशोक वन में जानकी जी से भेट कर लङ्का जला और रावण को धिक्कार कर चतुर्दशी के दिन अपने कटक में लौट आए। और फिर उन्होंने सबके साथ आकर श्री रामचन्द्र से सीता जी का सन्देसा कहा, तथा जानकी जी ने जो चिन्ह स्वरूप अपना सीसफूल दिया था उसे दे कर शीघ्र चढ़ाई करने की प्रार्थना की। तब श्री रामचन्द्र ने अपने मित्र सुग्रीव और असंख्य बानर-दल को साथ ले शुभ मुहूर्त्त में अष्टमी के दिन दो पहर के समय यात्रा की और सातवें दिन बानरीसेना के साथ समुद्र के तट पर आकर डेरा डाला। तीन दिन वे सब समुद्र के तट पर टिके रहे। चतुर्थी को रावण का भाई विभीषण श्री रामचन्द्र की शरण में आया। उन्होंने बड़े प्रेम और आदर से उसे बुलाकर अपना मित्र बनाया और अभय दे कर लङ्का के राजा बनाने का वचन दिया। पञ्चमी के दिन श्री रामचन्द्र समुद्र के पार जाने का विचार करने लगे। फिर बानरों की सहायता से नल और नील ने समुद्र पर पुल बांधा। यह सेतु दस योजन (१) चौड़ा और सौ योजन लम्बा था। उसपर से तीन दिन में बानरी सेना पार हुई और लङ्का के चारों ओर किलकिलाहट और तर्जन गर्जन करती हुई घूमती रही, परन्तु कोई युद्ध न हुआ। इसी अवसर में शुक और शारण नाम के दो परम चतुर गुप्तचरों को रावण ने रामदल के देखने के लिये

(१) चार कोस का एक योजन होता है।

भेजा। उन दोनों को बानरों ने बांध लिया और दुःख देना प्रारम्भ किया। तब श्री रामचन्द्र ने दया करके उन्हें छुड़वा दिया। उन दूतों ने जाकर रावण से श्री रामचन्द्र तथा उनके साथियों का पूरा पूरा वृत्तान्त कह सुनाया, जिसे सुन उसकी रानी मन्दोदरी ने उसे बहुत कुछ समझाया, परन्तु उस महा अभिमानी के चित्त पर मन्दोदरी के कहने का कुछ भी प्रभाव न हुआ, वरन् उसने श्री रामचन्द्र से युद्ध करना ही निश्चय कर लिया।

इधर श्री रामचन्द्र की आज्ञा पाकर युवराज अङ्गद जी रावण की सभा में गए और सीता जी को लौटा देने के लिये राजनीति के अनुसार उन्होंने रावण को बहुत कुछ समझाया, पर उसके मन में एक न आया। अन्त में अङ्गद जी यह कह कर लौट आए कि अब तेरे परिवार के सहित कराल काल तेरी बाट देख रहा है।

अङ्गद जी के लौट आने पर युद्ध प्रारम्भ हुआ, जिसमें रावण के बड़े बड़े वीर योद्धा तथा कुम्भकर्ण सा भाई, इन्द्रजीत सा पुत्र और असंख्य बेटे पोते मारे गए। किन्तु इतने पर भी उस अभिमानी का गर्व न टूटा। राम और रावण का ऐसा घोर युद्ध हुआ था कि जिसकी इस जगत् में दूसरी उपमा ही नहीं है। जब रावण के सारे कुल का नाश हो गया तब श्री रामचन्द्र ने उस महाबली को भी मार गिराया।

माघ शुक्ल द्वितीया से ले कर चैत्र शुक्ल चतुर्दशी पर्यन्त युद्ध हुआ और इस बीच में केवल पन्द्रह दिन युद्ध रुका रहा, अर्थात् केवल बहत्तर दिन लगातार युद्ध होता रहा।

रावण के मरने पर विभीषण ने उसकी अन्तिम संस्कार क्रिया की, और पीछे श्री रामचन्द्र की आज्ञा से बड़ी धूम धाम के साथ लक्ष्मण जी ने लङ्का में जाकर विभीषण का राज्याभिषेक किया। फिर वह जानकी जी को अशोक वन से श्री रामचन्द्र के पास ले आया। चौदह महीने और दस दिन जानकी जी रावण के यहां रही थीं, इसलिये श्री रामचन्द्र ने अग्नि में उनकी परीक्षा ले कर उन्हें ग्रहण किया। बहुत दिनों के पीछे राम और सीता ने एक दूसरे को देखा, दोनों के चित्त में आनन्द का समुद्र उमड़ आया। फिर सीता, लक्ष्मण, हनूमान्, विभीषण और सुग्रीव आदि को सङ्ग ले, तथा पुष्पक विमान पर चढ़कर चौदह वर्ष के उपरान्त श्री रामचन्द्र अयोध्या को ओर चले।

लौटते समय पथ में श्री रामचन्द्र जानकी जी को वन, पर्व्वत, नद नदी और अपने बनाए हुए सेतु आदि स्थानों को दिखाते तथा जहां जहां जो जो हुआ था उसे परस्पर कहते सुनते, बड़े आनन्द से चले आते थे। तीन दिन में वह विमान अयोध्या के पास पहुंचा। तब श्री रामचन्द्र की आज्ञा से हनूमान् जी ने जाकर भरत जी से श्री रामचन्द्र के आने का समाचार कहा; जिसे सुनकर भरत जी वशिष्ठ और माता आदि परिवार तथा प्रजावर्ग के साथ चौदह वर्ष के बिछुड़े हुए भाई से मिलने के लिये चले। जिस समय चारों भाई परस्पर गले मिले थे, उस समय की शोभा बड़ीही अनोखी थी। श्री रामचन्द्र बड़े आदर और प्रेम के साथ कैकेयी आदि माता तथा आए हुए सब लोगों से मिले, और

सुग्रीव, अङ्गद, हनूमान् और विभीषण आदि को सबसे मिला कर उनकी बड़ी बड़ाई करने लगे। फिर सब लोग अयोध्यापुरी में पहुंचे।

भरत जी ने गुरु वशिष्ठ की आज्ञा से शुभ मुहूर्त्त में श्रीरामचन्द्र का राज्याभिषेक किया। राजसिंहासन पर बैठने के दिन महाराज श्री रामचन्द्र की अवस्था बयालीस वर्ष और सीता जी का वयःक्रम तैंतीस वर्ष का था। श्री रामचन्द्र तो राजा हुए और भरत, लक्ष्मण तथा शत्रुघ्न उनके परम आज्ञाकारी और सदा सेवा में तत्पर रह कर अमात्य का कार्य करने लगे।

जिस समय सीता जी सात महीने की गर्भवती थीं, उस समय एक सामान्य प्रजा के लोकापवाद को सुनकर श्री रामचन्द्र ने लक्ष्मण को आज्ञा दी कि इसको रथ पर बैठाकर वन में छोड़ आओ। बड़े भाई की आज्ञा मानकर वे रोती और बिलबिलाती हुई जानकी को महर्षि वाल्मीकि के आश्रम में छोड़ आए। सीता जी को रोते और बिलाप करते देख वाल्मीकि बड़े आदर से उन्हें अपने आश्रम में लिवा लाए और अपनी कन्या की भांति रखने लगे। ठीक समय पर सीता के दो पुत्र हुए। वाल्मीकि ने उनका नाम लव और कुश रक्खा और बड़े प्रेम से उन बालकों का लालन पालन किया और जब वे स्याने हुए तो वाल्मीकि ने उन्हें शस्त्र और शास्त्र की विलक्षण शिक्षा देकर राजकुमार कहलाने के योग्य बना दिया।

वाल्मीकि जी यह विचार हो रहे थे कि इन राजकुमारों को क्योंकर इनके पिता से मिलावें कि संयोग से एक दूत ने आकर उनके हाथ में निमन्त्रण पत्र दिया ; उसमें श्री रामचन्द्र ने लिखा था कि नैमिषारण्य में हम यज्ञ कर रहे हैं, इसलिये आप अपने शिष्यवर्गों के साथ यहां पधारिए । उस पत्र को पाकर वाल्मीकि जी बड़े हर्ष के साथ अपने शिष्यों तथा लव और कुश को सङ्ग ले यज्ञ में जाने को प्रस्तुत हुए । सीता जी ने जब सुना कि श्री रामचन्द्र यज्ञ कर रहे हैं तब उन्हें इस बात के जानने की बड़ी उत्कण्ठा हुई कि बिना पत्नी के मेरे पति ने क्योंकर यज्ञ को आरम्भ किया ? इस सन्देह को मिटाने के लिये वाल्मीकि जी ने पत्र लाने वाले दूत से पूछा; जिसके उत्तर में उसने कहा कि गुरु वशिष्ठ ने श्री रामचन्द्र को दूसरा विवाह करने के लिये बहुत कुछ कहा था, किन्तु उसपर अरुचि दिखलाकर बोले कि हमसे ऐसा न होगा । तब ऋषियों की आज्ञा से एक सोने की सीता बनवाकर उन्होंने यज्ञ प्रारम्भ किया है ।

लव और कुश तथा और और शिष्यों को लेकर महर्षि वाल्मीकि यज्ञशाला में पहुंचे । पहिलेही से उन्होंने लव और कुश को अपनी बनाई हुई रामायण के गाने में अत्यन्त निपुण कर दिया था । वहां जाकर उन दोनों बालकों को आज्ञा दी कि आप हुए राजों और ऋषियों के डेरों पर जा जा कर तुम लोग रामायण को गाया करो; यदि महाराज श्री रामचन्द्र तुम लोगों को बुलावें और तुम्हारा गान सुन कर तुम्हें धन आदि पारितोषिक

दें ते विनीत भाव से कहना कि हमलोग धन लेकर क्या करेंगे, क्योंकि हमलोग ता वन में रहते और फल मूल से अपना निर्वाह करते हैं।

ऋषि की आज्ञा से लव और कुश रामायण का गान करते फिरते थे, जिसे सुन कर लोग बड़ेही प्रसन्न हुए। धीरे धीरे श्री रामचन्द्र के कानों तक उनकी प्रशंसा पहुंची। उन्होंने भी उन दोनों बालकों को बुला भेजा। जब सभा में दोनों बालक पहुंचे ता उन्हें देखतेही श्री रामचन्द्र के चित्त का विचित्र भाव हो गया। उन्होंने उन बालकों को गाने के लिये ता कहा, परन्तु बार बार उनके चित्त में यही भाव उठने लगा कि माना ये दोनों बालक मेरेही आत्मज हैं। इसी विचार में उनका चित्त ऐसा विकल हुआ कि वे भली भांति से उन बालकों का गान भी न सुन सके। इसलिये उस दिन ता उन्होंने बालकों को यह कह कर बिदा किया कि कल प्रातःकाल पुनः आकर गान प्रारम्भ करना।

दूसरे दिन प्रातःकाल हो से गान सुनने के लिये राजसभा में बड़ीही भीड़ इकट्ठी हुई। परन्तु प्रबन्ध ऐसा उत्तम था कि किसी को भी कुछ कष्ट न पहुंचा। एक ओर कौशल्या आदि स्त्रियां, एक ओर निमन्त्रित राजा लोग, एक ओर प्रजावर्ग और एक ओर ऋषिगण बैठे। गान आरम्भ हुआ। वाल्मीकि जी की आज्ञा से उन बालकों ने श्री राम और जानकी के प्रेम की कथा उठाई और ऐसी उत्तम रीति से उसे गाया कि जिसे सुन कर सारी सभा मोहित हो गई और कौशल्या के हृदय में उन

बालकों के ऊपर ऐसा स्नेह उमड़ा कि उन्होंने लक्ष्मण जी से कह कर युक्ति पूर्वक दोनों बालकों को बुला अपनी गोद में बैठा लिया और उनका परिचय पूछना प्रारम्भ किया। परन्तु वे इसके अतिरिक्त और कुछ भी न कह सके कि हम वाल्मीकि ऋषि के शिष्य हैं और उन्हींके आश्रम में रहते हैं। तब कौशल्या ने वाल्मीकि जी को बुलवा कर पूछा। फिर तो वाल्मीकि जी ने लव और कुश को सारी कथा कह सुनाई और श्री रामचन्द्र से यों कहा कि फिर से तुम सीता को ग्रहण करो। इसपर उन्होंने उत्तर दिया कि यहां हमारी सब प्रजाएं इकट्ठी हैं; यदि वे कहेंगी तो हम अवश्य सीता को ग्रहण कर लेंगे। इतना सुन कर वाल्मीकि जी ने सीता जी को अपने आश्रम से बुला लिया और उनके आने पर श्री रामचन्द्र ने प्रजा-मण्डली को एकत्र करके कहा कि यदि आप लोगों को कोई आपत्ति न हो तो हम सीता को ग्रहण करें। इस पर प्रायः सब प्रजाओं ने हर्ष से उनकी बात सकारी, केवल थोड़े से लोग चुप रहे। यह देख-कर मारे मोह और दुःख के श्री रामचन्द्र मूर्छित हो गिर पड़े और जानकी जी ने रोकर पृथ्वी से कहा कि हे माता वसुन्धरा! अब तू फट जा और तुझमें समा जाऊं। उनकी आर्त्तवाणी सुनकर पृथ्वी फट गई और वे उसमें समा गईं। थोड़े दिनों के उपरान्त लव और कुश को राज्य देकर अपने बन्धु बांधवों तथा प्रजावर्गों के साथ महाराज श्री रामचन्द्र परम धाम को पधारे।

यह लेख रामचरित रूपी महासागर का एक बिन्दुमात्र भी नहीं है। इस चरित्र को महर्षि वाल्मीकि जी ने बड़े विस्तार से अपनी मनोहर कविता में वर्णन किया है। संसारी जीवों के लिये रामचरित एक अत्यन्त निर्मल दर्पण है। बालकों को अपने माता पिता की आज्ञा क्योंकर माननी चाहिए, भ्राताओं को परस्पर कैसा प्रेम रखना चाहिए, पतिव्रता स्त्री को अपने पति की किस भांति से सेवा करनी चाहिए, हठीली स्त्रियों के हठ से गृहस्थी की कैसी हानि होती है, अभिमानी और हठधर्मी पुरुष को हठ का क्या फल मिलता है, सत्य के पालन करने से क्या लाभ और असत्य के आचरण से कितनी हानि होती है, रामायण इन सब नीतियों की मानो खान है। संसारी जन यदि रामायण को भली भांति पढ़ें; समझें और इसकी नीति पर ध्यान दें तो बड़े सुख से उनकी संसारयात्रा का निर्वाह हो। इसलिये हे प्यारे बालको ! परमपुनीत रामचरित को पढ़ना और समझना तथा उसके अनुसार सुनीति का वर्ताव करना तुम्हारे लिये परम मङ्गलकारी है।

साहस और पुरुषार्थ*

साहस और पुरुषार्थ ये दोनों बड़ी ही आवश्यक वस्तु हैं। इन्हीकी सहायता से मनुष्य इस संसार में अनेक झंझटों को

---

* बिहारबंधु प्रेस के स्वामी की आज्ञानुसार "परमपुरुषार्थ" नामक ग्रन्थ से बाबू अमीरसिंह द्वारा अनुवादित।

सिर पर उठा कर और अनेक विपत्तियों को सह कर अपने जीवन का निर्वाह कर सकता है। क्योंकि जो काम बुद्धि से नहीं निकल सकता वह इनसे निकल जाता है। इसीसे कहा है कि साहस और पुरुषार्थ मनुष्य के सब गुणों के मूल हैं, अथवा यों कहना चाहिए कि ये आपही मनुष्य हैं। येही संसार के सब कार्यों के करने में सहायक होते हैं और सच्ची वीरता तथा संसार की सब आशाएं इन्हीं पर निर्भर हैं, क्योंकि आशा ही पर संसार के सब व्यवहारों की समाप्ति है। फिर जब आशा ही न रही तो जीना ही वृथा है। किसी महात्माने ऐसा कहा है कि—"जिसका हृदय गिरा और बुझा हुआ है, जिसका साहस नष्ट हो गया है, जिसकी कमर झुक गई है, तथा जिसका कन्धा गिर गया है, अर्थात् जो पुरुषार्थ रहित है उस मनुष्य की अवस्था शोचनीय है"। यह बात सत्य है कि साहसी के हृदय से बढ़ कर संसार में कोई भी दूसरी हितकारी वस्तु नहीं है। देखो जब हम लोग देखते हैं, कि कोई दीन दुखिया धीरज का सहारा लेकर अपनी विपत्ति का सामना कर रहा है, और ऐसी अवस्था में भी वह अपनी सचाई से झूठ को जीतना चाहता है, अथवा जिसका शरीर चूर चूर हो रहा है और हाथ पांव से लोहू निकल रहा है, तो भी वह साहस और पुरुषार्थ के बल से आगे ही बढ़ता जाता है और अपनी पीठ नहीं दिखाता, तो हम लोग हृदय में प्रसन्न होते हैं और ईश्वर को धन्यवाद देते हैं कि इस संसार में अब तक भी ऐसे ऐसे वीर वर्त्तमान हैं और उसकी माता को भी धन्यवाद देते

हैं कि जिसकी कोख से ऐसा वीर पुरुष उत्पन्न हुआ। किसीने सच कहा है कि "बिन हिम्मत किम्मत नहीं वही चील वहि बाज"।

अनेक प्रकार की इच्छा करनी परन्तु करना कुछभी नहीं, यह एक बड़ी ही खोटी बात है। इससे युवा पुरुषों के मन में एक वृथा के तर्क का रोग हो जाता है, जिससे वे सदा मन के लड्डू खाया करते और अधर में घर बनाया करते हैं। इसलिये तुम जब किसी काम के करने की इच्छा करो तो चट उसके करने के लिये कमर बांध कर खड़े हो जाओ और उसमें हाथ लगा दो, ढीले होकर मत बैठो, अपने काम में साहस और पुरुषार्थ का सहारा लो और आपत्ति के कष्ट से मत डरो; वरन् सब को प्रसन्नता पूर्वक अपने सिर पर ओढ़ लो, क्योंकि वे सब बातें तुम्हारे सुधारने और सिखलाने के लिये परम आवश्यक हैं। देखो जिस पर कभी भी विपत्ति नहीं पड़ी वह पक्का नहीं हो सकता।

हग मुलर साहब कहते हैं कि मैंने केवल एक ही पाठशाला में पढ़ा और वह पाठशाला यही संसार है; यहां दो बहुत बड़े अध्यापक हैं, एक परिश्रम और दूसरा क्लेश। येही दोनों सबको शिक्षा देते हैं कि जो मनुष्य बहुत सा सोच बिचार करता और प्रत्येक काम के करने में आगा पीछा करता है, वह कुछ भी न कर सकेगा; वरन् यदि कोई अल्पबुद्धि भी साहसी और दृढ़-प्रकृति का हो तो वह बहुत कुछ कर सकता है।

फ़वेल वाक्स्टन साहब कहते हैं कि एक समय में केवल एक ही काम को मन लगा कर करना उचित है। क्योंकि एक ही

समय में अनेक काम करने वाले और कुछ भी न करनेवाले मनुष्य में कुछ भी भेद नहीं है, इसलिये कि उस कई काम करने वाले का एक भी काम पूरा न उतरेगा।

अतएव इस संसार में यदि कुछ कर सकते हैं तो साहसी ही कर सकते हैं, और ऐसे मनुष्यों को कभी कभी होनहार बातें भी सूझ जाती हैं। फ़ांस देश में कई सेनाओं का एक अधिपति अपने कमरे में टहला करता और कहता कि मैं फ़ांस देश का एक प्रसिद्ध सेनानायक होऊंगा और मार्शल की उपाधि पाऊंगा। आश्चर्य की बात तो यह है कि अन्त में वह मनुष्य सेनानायक हुआ और मार्शल की उपाधि पाकर मरा।

मिस्टर वाकर साहब लिखते हैं कि एक समय मैं पीड़ित हुआ था, सो मैंने बहुत सी ओषधियां कीं, परन्तु रोग कम न हुआ; एक दिन मैंने साहस कर ऐसा विचार किया कि अब मैं बीमार न रहूंगा। बस ईश्वर की कृपा से उसी दिन मैं चङ्गा हो गया। परन्तु यह चङ्गा होने का उपाय जो मैंने लिखा वह ऐसा नहीं है कि प्रत्येक रोग में लोग उसी पर चलें; पर हां जो रोग आलस्य से होते हैं उनके लिये यह एक उत्तम औषध है। यद्यपि यह बात सच है कि इस शरीर पर मन का बहुत कुछ अधिकार है, तथापि इस शरीर से इतना काम भी न लेना चाहिए कि यह नष्ट ही हो जाय। जैसे मूलीमोलक नामक एक स्पेन देश का मुखिया किसी समय पीडित अवस्था में अपनी शय्या पर पड़ा था और उसकी सेना पुर्तगाल वालों से लड़ रही थी; जब उसने सुना

5

कि मेरी सेना हारा चाहती है, तब उससे न रहा गया और व्याकुल हो उसी अवस्था में साहस कर वह शय्या से कूद पड़ा और पुरुषार्थ के बल से दौड़ा हुआ रणभूमि में आकर शत्रुओं से लड़ने और अपनी सेना के वीरों को ललकारने लगा। इस पीडित व्यक्ति को लड़ते देख उसके वीरों में ऐसा साहस और पुरुषार्थ उमड़ा, और वे शत्रुओं से ऐसा जी खोल कर लड़े कि वैरियों के छक्के छुट गए और उनसे भागते ही बन पड़ा। उस लड़ाई के पीछे मूलीमोलक घर पर आया और अपनी शय्या पर लेटते ही मर गया। अब इससे यह बात स्पष्ट हो गई कि मन ने शरीर से ऐसा कड़ा काम लिया कि जिससे वह नष्ट ही हो गया।

साहस ही से मनुष्य जैसा होना चाहे हो सकता है और पुरुषार्थ से जो करना चाहे कर सकता है। किसी महात्मा पुरुष ने कहा है कि "जो तुम चाहोगे वही हो जाओगे, क्योंकि मनुष्य जिस किसी काम में सच्चे मन से हाथ डालता है, वह अवश्यही उस काम को कर सकता है"। ऐसा कभी नहीं देखने में आया कि जिसने सच्चे मन से मिलनसार और धैर्यवान् होना चाहा हो और वह ऐसा न हो गया हो। देखो इस पर यह एक प्रत्यक्ष दृष्टान्त है कि एक बढ़ई किसी मैजिस्ट्रेट के लिये एक कुरसी बहुत मन लगा कर बना रहा था। किसीने पूछा कि "भाई! इसके बनाने में तू इतना क्यों परिश्रम कर रहा है ?" उसने उत्तर दिया कि जब मैं मैजिस्ट्रेट होऊंगा तब इसीपर बैठूंगा।

आश्चर्य की बात है कि कुछ काल में वह बढ़ई मैजिस्ट्रेट हो हो गया और उसी कुरसी पर बैठा ।

संसार में कोई भाग्य को मानता है और कोई करनी को, तथा कोई ऐसा भी कहता है कि दोनों एकही हैं। चाहे कोई कुछ भी क्यों न माने, परन्तु इतना तो सबको मानना ही पड़ेगा कि प्रत्येक मनुष्य उत्तम और अधम मार्ग में से जिसपर वह चाहे चलने में स्वाधीन है और उसे अपने लाभ और हानि के समझ लेने का पूरा अधिकार है ; क्योंकि मनुष्य किसी नदी में तिनकों के समान बह नहीं जाता, वरन् वह अपने को तैरता हुआ पाता है और भली भांति समझता है कि मैं जल के प्रवाह को काट कर तट पर पहुंच सकता हूं, क्योंकि निःसन्देह हमलोग किसी शृङ्खला से जकड़ कर बांधे हुए नहीं हैं । यदि यह बात मान ली जाय कि हमसे कुछ भी नहीं हो सकता, तो अपने को बढ़ाने की अभिलाषा जो कि सभों के मन में है, सर्वथा झूठ ही ठहरी । तो फिर सिखाने, उपदेश करने और समझाने बुझाने से लाभ ही क्या और नियमादि (क़ानून) के बनाने से क्या प्रयोजन है ? परन्तु नहीं, ऐसा समझना बड़ी ही भूल है, क्योंकि मनुष्य स्वाधीन है और उसका विवेक उससे स्पष्ट कहता है कि "तू स्वाधीन है" । देखो हमें ललचाने वाली वस्तुएं हमारी स्वामिनी नहीं हैं, किन्तु हम उनके स्वामी हैं । देखो जिस समय हम लोग कोई खोटा काम करने लगते हैं, उस समय हमलोगों से विवेक स्पष्ट भाव से कहता है कि "पाप न कर" ।

लमनी साहब ने अपने पुत्र से कैसी उत्तम बात कही थी कि बेटा ! तुम अब इतने बड़े हो चुके हो कि अवश्य इस बात का न्याय कर सकोगे कि "हम को कैसा होना चाहिए"। यदि इतना भी न सोचोगे तो अपने हाथ से अपने पैर में कुल्हाड़ी मारोगे और आगे कुछ भी न कर सकोगे। बक्स्टन साहब की सम्मति है कि एक युवा पुरुष जैसा चाहे वैसाही हो सकता है, यदि वह अपने साहस और पुरुषार्थ को न छोड़े। उन्होंने एक अपने पुत्र को पत्र में कैसी अच्छी बात लिखी थी कि "बेटा! अब तुम उस अवस्था को पहुंचे कि चाहो दाहिने फिरो वा बाएं, इसलिये कि मुझे इस बात पर पूरा विश्वास है कि एक युवा पुरुष जैसा होना चाहे वैसा ही हो सकता है, क्योंकि मैं जो इतना बढ़ा इसका कारण यह है कि मैंने तुम्हारी ही अवस्था में अपने को बदल डाला था। यदि तुम भी सच्छे मन से साहसी और पुरुषार्थी होना चाहोगे तो जन्म भर प्रसन्न रहोगे"। सच है, यदि मनुष्य चाहे कि अपने मन को खोटी खोटी बातों में लगावे तो उसका मन एक प्रेत हो जायगा और उसकी बुद्धि उस प्रेत की मंत्री बन जायगी। परन्तु यदि मनुष्य भली भली बातों की ओर अपने मन को लगावे, तो उसका मन एक बहुत उत्तम राजा बन जायगा और उसकी बुद्धि एक उत्तम मंत्री हो जायगी।

किसीने ठीक कहा है कि "जहां आकांक्षा (१) है वहीं पथ है"। निःसन्देह पूरी आकांक्षा में बड़ाही बल है। स्वारो साहब

(१) चाह = ख़्वाहिश।

जब किसीको किसी काम में हारते देखते तो यही कहते थे कि तुम्हारी पूरी आकांक्षा न थी। नेपोलियन बादशाह प्रायः कहा करता था कि "असम्भव" शब्द को कोष में से निकाल ही देना चाहिए। "मैं नहीं जानता हूं—मैं नहीं कर सकता हूं" ऐसी ऐसी सारहीन बातों से उसे बहुत बड़ी घृणा थी। वह प्रायः कहा करता था "सीखो, करो, उद्योग करो"। नेपोलियन ने अपने को क्या कर दिखाया यह सब जानते हैं। एक समय का वृत्तान्त है कि नेपोलियन कहीं युद्ध करने जा रहा था कि एक सिपाही ने उससे कहा कि आल्प्स का पर्वत बीच में आ पड़ा, उससे पार होना अति कठिन है। इसपर उसने उत्तर किया कि यदि आल्प्स पर्वत बीच में आ गया है तो वह न रहने पावेगा। निदान उस पर्वत के आर पार मार्ग बनाया गया और जो बात पहिले अगम जान पड़ती थी वह सुगम हो गई। नेपोलियन इतना कठिन परिश्रम करता था कि लोग देखकर दङ्ग हो जाते थे। चार चार पण्डित लिखते लिखते थक जाते थे परन्तु वह नहीं थकता था। उसका दर्शन कर लोगों में मानो प्राण आ जाते, और मरे हुए व्यक्ति जीवित हो उठते थे। वह प्रायः कहा करता था कि मैंने अपने सेनानायकों को जड़ से चेतन बनाया है। परन्तु शोक की बात है कि ऐसा महान् पुरुष होकर भी वह परम स्वार्थी था। इसीसे फ़्रांस देश का नाश हो गया। यदि वह सज्जन पुरुष होता तो उससे कैसे अच्छे अच्छे काम बन पड़ते। सच है कि जब तक मनुष्य सज्जन न हो तब तक उसके साहस और पुरुषार्थ का

भी कुछ फल नहीं होता, वरन् उससे अनेक प्रकार के दोष फैलते हैं।

ग्रानवेल शार्प साहब इङ्गलैण्ड में एक बड़े साहसी पुरुष हो गए हैं, जिनके प्रयत्न से वहां से दास-व्यवसाय (१) उठ गया। बचपन में वे साहब किसी जुलाहे के यहां काम करते थे, उसके पीछे आर्डिनेन्स औफ़िस में किरानी के पद पर नियुक्त हुए। जब कि वे किरानी का काम करते थे उन दिनों यदि कोई परोपकार का काम उनके सामने आजाता तो वे उससे कभी मुख न फेरते थे। एक बार साहब को एक ऐसे मनुष्य से विवाद करना पड़ा जो ईसा के अवतार होने पर विश्वास नहीं करता था। उसने कहा कि तुम यूनानी भाषा नहीं जानते इसलिये धोखे में पड़े हो। साहब ने इस बात पर यूनानी सीखने में चित्त लगाया और उसे भली भांति से सीख कर छोड़ा। इसी प्रकार एक यहूदी से उनका एकबार विवाद होगया, तब उन्होंने यहूदीभाषा को भी भलीभांति से सीखा। क्रीतदासों पर उनको ऐसा तर्स आया कि साहब ने इस रीति को उठाने के लिये बड़े बड़े यत्न किए और अन्त में उसे उठा ही दिया। इसका एक भाई था जिसका नाम विलियम था। वह भी बड़ा दयालु था और कङ्गाल दुखियों की चिकित्सा किया करता था। उसके रोगियों में एक हब्शी भी था जिसका नाम जोनाथन स्ट्रौंग था। उस दीन हब्शी को उसके स्वामी ने ऐसी निर्दयता से मारा था कि वह लङ्गड़ा और एक प्रकार का अन्धा भी हो गया

(१) गुलामों की सौदागरी।

था। जब उस निर्दयी स्वामी ने देखा कि अब मेरा दास किसी काम का न रहा तो उसे घर से भी निकाल दिया। वह दीन चोट के घाओं से घायल, गलियों में भीख मांगता फिरता था, जिसे देख कर पत्थर का भी हृदय पसीजता था। विलियम साहब उस विपत्ति के मारे दीन हब्शी को देख दया कर अपने भाई के पास उसे ले आए और उसकी चिकित्सा करने लगे। यहाँ वह सुख पूर्वक रहने से शीघ्र ही चङ्गा हो गया। फिर शार्प साहब ने उसे एक नौकरी भी दिला दी। थोड़े दिन पीछे एकबार उसके पुराने स्वामी ने उसे देखा और चीन्ह कर उसके पकड़ने की चिन्ता करने लगा। उस हब्शी ने अपनेको फिर इस विपत्ति में फँसते देख अपने उपकारी शार्प साहब को एक पत्र लिखा। बहुत दिन होने के कारण साहब उस हब्शी का नाम तक भूल गए थे, परन्तु उस पत्र को देख कर उन्होंने अपने सेवक से कहा कि जाकर पता तो लगाओ कि उसका वृत्तान्त क्या है। जब वह नौकर उस चाण्डाल स्वामी के यहां गया तो उसने स्पष्ट यही उत्तर दिया कि मेरे यहां कोई भी हब्शी ग़ुलाम नहीं है। प्यादे से यह बात सुन साहिब के मन में सन्देह हुआ। वे चट पट आप वहां गए, और उन्होंने हब्शी को पहिचाना, तथा उसे बन्दीगृह में पाया। उन्होंने बन्दीगृह के रक्षक से कहा कि मैं जब तक लार्ड मेयर के यहां निवेदन पत्र न देलूं तब तक यह कहीं न जाने पावे। निदान शार्प साहब ने निवेदन पत्र दे कर, जिन लोगों ने बिना वारण्ट के उस हब्शी को पकड़ा था उनके नाम के समन प्राप्त किए। जब न्यायालय में उसकी जांच

होने लगी तो विदित हुआ कि उसके पहले स्वामी ने उसे बेच डाला था और उसका लेने वाला यह कहता था कि हब्शी मेरी वस्तु है। निदान लार्ड मेयर ने उसे छोड़ दिया। तब उसके नए स्वामी ने मोल ली हुई वस्तु के छीन लेने का दोष लगा कर शार्प साहब पर जज साहब के यहां नालिश की। उस समय, अर्थात् सन् १७६७ में, अंग्रेज़ों की स्वतन्त्रता नाम मात्र ही थी, जो कि केवल पुस्तकों ही में लिखी जाती थी। उस समय मनुष्य पकड़ पकड़ कर वेस्ट इण्डीज़ और दूसरे दूसरे टापुओं में भी भेजे जाते थे। लन्दन और लिवरपूल के समाचारपत्रों में दासों के क्रय विक्रय के विज्ञापन छपते थे। तथा जो हब्शी अपने स्वामी के अत्याचार से घबरा कर भागता था, उसके पकड़ने के लिये विज्ञापन दिए जाते थे कि जो कोई उसे पकड़ेगा उसको इतने रुपए इनाम मिलेंगे। तात्पर्य यह कि दासों के क्रय विक्रय का व्यापार भली भांति से प्रचलित था और उसमें किसी प्रकार की भी रोक टोक न थी। ऐसी अवस्था में ग्रानवेल शार्प साहब इस घृणित प्रथा को जड़ से खोद डालने के लिये तन, मन और धन से लग गए थे। यह एक साधारण किरानी थे। इनके हाथ में किसी प्रकार का बल वा अधिकार भी न था, तो भी अपने साहस और पुरुषार्थ के कारण वे ऐसे बड़े काम में काम कर गए। इङ्गलैंड के रहने वालों की स्वाधीनता जो केवल वाग्-विलास मात्र ही थी, उसे इन्होंने चरितार्थ कर दिखाया और अब यह बात सभी मनुष्य भली भांति से जानते हैं कि किसी देश

का भी कोई क्रीतदास क्यों न हो, परन्तु जिस समय उसने इंगलेण्ड की स्वच्छ भूमि पर पैर रक्खा, उसी क्षण उसके सिर पर स्वाधीनता का मुकुट पहिना दिया जाता है। किन्तु सन् १८२९ ईसवी तक तो सैकड़ों पढ़े लिखे लोग ऐसा ही समझते थे कि कोई भी क्रीतदास इङ्गलैण्ड में आने से स्वाधीन नहीं हो सकता। क्योंकि जब शार्प साहब ने जोनाथन स्ट्रौंग के विषय में अभियोग चलाया और वे वकीलों से परामर्श लेने गए, तब वे सबके सब उन्हें उलटा ही समझाने और साहब को इस अच्छे मनोरथ से भरमाने लगे। अर्थात् सब लोगों ने यही कहा कि लार्ड चीफ़ जसटिस भी तुम्हारी समझ के प्रतिकूल ही समझते हैं। यह एक ऐसी कठिन बात है जिससे बड़ों बड़ों का साहस नष्ट हो जाता है, परन्तु उन सभों के भरमाने पर भी साहब न डिगे। वे स्वयं लिखते हैं कि "उस समय मेरा कोई भी क़ानून जानने वाला सहायक न था, इसलिये मुझे आपही अपनी सहायता करनी पड़ी। मैं अब तक क़ानून का क-ख तक भी नहीं जानता था, किन्तु विवस हो पुस्तकालयों में बैठ बैठ कर क़ानून की पुस्तकें देखने लगा"। निदान दिन भर तो साहब किरानी का काम करते और केवल रात्रि के समय तथा प्रातःकाल क़ानून देखा करते थे। वे क्रीतदासों को तो स्वाधीन करने चले, परन्तु कामों की अधिकता से स्वयं क्रीतदास बन गए। इसी अवसर में साहब ने अपने एक मित्र को पत्र में यों लिखा था कि "भाई, सच पूछते हो तो मैं भली भांति से पत्र नहीं लिख सकता, क्योंकि

जो चार पांच घण्टे मेरी आंखें लग जाती हैं वही तो मेरे आराम का समय है; शेष समय मैं क़ानून की पुस्तकों के पढ़ने में लगाता हूं। यह काम ऐसा है कि यदि मैं मन लगाकर करूं तो कुछ का कुछ हो जाऊं। अतः मैं रविवार के दिन भी क़ानून का अभ्यास किया करता हूं। यह काम मैं केवल परमार्थ के लिये करता हूं; अतः रविवार के दिन भी इसके करने में कोई हानि नहीं है"।

दो वर्ष पर्यन्त साहब भली भांति से मन लगा कर क़ानून पढ़ते रहे और फिर उन्होंने पार्लियामेण्ट को क़ानूनों तथा न्यायालयों के फैसलों के संग्रह करने आरम्भ किए। देखिए, ऐसे बड़े काम में कोई भी उनका सहायक वा उनको सम्मति देने वाला न था, परन्तु इस परिश्रम का उनको ऐसा फल मिला कि वे फूले नहीं समाते थे। वे लिखते हैं कि "धन्य है ईश्वर कि इङ्गलैण्ड में कोई भी ऐसा क़ानून वा फ़ैसला नहीं है कि जिसके बल से दूसरों को क्रीतदास बनाना ठीक रहे"। साहब ने "इङ्गलैण्ड में क्रीतदासत्व का अत्याचार" इस नाम की एक पुस्तक बनाई और उसे छपवा कर प्रत्येक स्थान में फैला दिया। जब जोनाथन स्ट्रौंग के स्वामी ने देखा कि उसे विचित्र मनुष्य से पाला पड़ा है तब उसने चाहा कि आपस में निपटेरा हो जाय। परन्तु शार्प साहब ने इस बात को स्वीकार न किया। निदान मुद्दई को उस अभियोग का तिगुना ख़र्चा देना पड़ा। इस पूर्वोक्त पुस्तक को साहब ने सन् १७६९ में छपवाया था।

जहां कहीं साहब सुन पाते कि कोई हब्शी पकड़ा गया है तो वहां आप जाते और उसे छुड़ा लाते। एक हब्शी जिसका नाम हैलस था, उसकी स्त्री को व्यवसाइयों ने पकड कर बारबिडोज़ टापू में भेज दिया था। शार्प साहब ने अपनी ओर से उन व्यवसाइयों पर अभियोग चलाया और उसकी स्त्री को इङ्गलैण्ड में बुलाही लिया।

लूईस नामक एक हब्शी रात्रि के समय कहीं अकेला चला जाता था कि दो मनुष्यों ने उसे बलपूर्वक पकड़ कर जमेका नाम के टापू में भेज दिया। उन दोनों मनुष्यों का यह अभिप्राय था कि इसको जमेका में जाकर बेंच डालेंगे। जिस स्थान पर वह हब्शी पकड़ा गया था वहां एक मेम बीबी ब्रेक रहती थी। उन्होंने उस हब्शी के रोने और चिल्लाने का शब्द सुना था। उन मेमसाहबा ने एक चिट्ठी में इस अत्याचार का समाचार लिख कर शार्प साहब के पास, जो कि उन दिनों हब्शियों के परममित्र कहलाते थे, भेज दिया। साहब पत्र पातेही उस स्थान पर पहुंचे तो विदित हुआ कि वह पोत जिसमें वह वन्दी था खुल गया। तब निरुपाय होकर साहब ने उस पोत को रोकने के लिये अति शीघ्र आज्ञापत्र प्राप्त किया। निदान जब वह हब्शी पुनः लण्डन लौट आया तब शार्प साहब ने उससे उन अत्याचारियों के नाम सें, जिन्होंने उसके साथ अत्याचार किया था, वारण्ट निकलवाया। अभियोग खड़ा किया गया, पर जजसाहब ने डिसमिस कर दिया। इसका कारण यह था कि उन दिनों हब्शियों को दासत्व के

अत्याचार से बचाने के लिये कोई उपाय या क़ानून न था। तो भी शार्प साहब इस परोपकार के काम में लगेही रहे और सैकड़ों हब्शियों को बचाते ही रहे। निदान जेम्स समरसेट हब्शी के अभियोग में यह बात निश्चित हो गई कि अब कोई भी क्रीतदास न बनाया जाय और तभी से इङ्गलैण्ड से इस कुरीति को उठाकर मनुष्यों की स्वाधीनता का यथार्थ प्रचार किया गया। इसका वृत्तान्त यों है कि एक व्यवसायी ने समरसेट नामक हब्शी को इङ्गलैण्ड में पकड़ लिया था। वह बहुत ही दुर्बल और बलहीन था। इसलिये व्यवसायी ने उसे निकम्मा जानकर छोड़ दिया। थोड़े दिनों में जब कि वह हब्शी हृष्ट पुष्ट हो गया तब व्यवसायी को फिर लालच ने घेरा और वह फिर उसके पकड़ने की चिन्ता में लगा। इस वृत्तान्त को जान कर शार्प साहब अपनी रीति के अनुसार उस हब्शी के पक्षपाती हो गए और न्यायालय में अभियोग उपस्थित किया गया। इस पर लार्ड मेन्सफील्ड ने यह आज्ञा दी कि यह एक ऐसा अभियोग है कि जिसके लिये फुल-बेंच होनी चाहिए। शार्प साहब भी अवसर जान कर कटिबद्ध हो बैठे, क्योंकि कई एक क़ानून जानने वाले भी उस समय उनके पक्ष में होगए थे। अस्तु अभियोग उपस्थित हुआ और इस विषय पर विवाद होना आरम्भ हुआ कि इङ्गलैण्ड में स्वाधीनता है या नहीं? निदान लार्ड मेन्सफील्ड ने सम्पूर्ण जजों की सम्मति से यह न्याय किया कि निःसन्देह यह बात भली भांति से स्पष्ट है कि इङ्गलैण्ड में कोई भी क्रीतदास नहीं रह सकता। बस, इस

पर समरसेट छोड़ दिया गया और इस न्याय की सहायता से शार्प साहब ने इङ्गलैण्ड से दासत्व को जड़ से खोद बहाया। जिससे अब वर्तमान समय के अंग्रेज़ों को इस बात का अभिमान है कि जिस समय किसी क्रीतदास ने इङ्गलैण्ड की पवित्र भूमि पर पैर रक्खा, कि साथ ही वह स्वाधीनता का पुरस्कार पा जाता है, और निःसन्देह यह बात बहुत ठीक है। अहा! ईश्वर की दया से इस संसार में कैसे कैसे माई के लाल उत्पन्न हुए कि जिनके कारण अंग्रेज़ों ने ऐसी बड़ाई पाई और उन्हीं लोगों के उत्तेजना देने वाले यत्नों का यह फल हुआ कि आज दिन अंग्रेज़ लोग विद्या और सभ्यता में सबसे बढ़े चढ़े हैं।

शार्प साहब ने और भी बड़े बड़े काम किए थे। उन्होंने उन हब्शियों के लिये जो दासत्व के अत्याचार से सताए जाते थे, एक निराला टापू ही बसा दिया था, जहां पर वे सब भाग कर चले जाते थे।

उसी समय इङ्गलैण्ड में एक यह भी नियम था कि जिससे वहां वाले अंग्रेज़ों को भी बल पूर्वक पोत पर चढ़ा कर किसी दूसरे देस या टापू में काम करने को भेज दिया करते थे। शार्प साहब ने इस कुरीति को छुड़ाने के लिये भी यत्न करना चाहा था, परन्तु डाक्टर जानसन, जो एक बड़ा भारी विद्वान् था, उनके प्रतिकूल हो गया और उसने ऐसे ऐसे लेख लिखे कि जिनका उत्तर देना शार्प साहब के लिये कठिन था। स्वयं वे लिखते हैं कि बड़े बड़े शब्द और सूक्ष्म सूक्ष्म प्रमाण मेरी मति

को फेर नहीं सकते और ऐसे तर्क मेरे दृढ़ हृदय को हिला नहीं सकते। यद्यपि इन प्रमाणों के उत्तर देने की मुझ में सामर्थ्य नहीं है, तथापि मेरा हृदय उनको कदापि स्वीकार नहीं कर सकता।

शार्प साहब ने अनेक सोसाइटियां भी स्थापित की थीं और बहुत से प्रसिद्ध और अच्छे लोग उनके सहायक भी हो गए थे। फिर धीरे धीरे सभी इङ्गलैण्ड-निवासियों के मनमें यह बात फैल गई। क्लार्क्स, विलबरफोर्स, ब्रूहम और वक्स्टन साहब इत्यादि ऐसे ऐसे लोग उनके मित्र और सहायक होगए थे। उन्हीं लोगों के साहस और पुरुषार्थ का यह परिणाम हुआ कि इङ्गलैण्ड और अंग्रेज़ी राज्य से सर्वथा दासत्व-प्रथा उठही गई।

उन पूर्वोक्त मनुष्यों में से वक्स्टन साहब का जीवनचरित्र विचार करने के योग्य है। जब उनके पिता परलोक सिधारे तो वे एक अज्ञान बालक थे, परन्तु उनकी माता बुद्धिमती थीं। वे सदा इस बात का प्रयत्न किया करतीं कि जिसमें यह लड़का खोटी चालों से बचा रहे और न्याय तथा विवेक का बल स्वयं उसके मन में उत्पन्न हो, जिससे कि वह आपही इस बात का निबटेरा कर ले कि मुझे इस संसार में क्या क्या काम करने चाहिएं। जब कोई पड़ोसी उनसे कहता कि आपका लड़का अपने मनका हो गया है; और जो उसके मन में आता है वही करता है, किसीकी भी नहीं सुनता, तो वे उसके उत्तर में यही कहतीं कि होने दो, अल्हड़पन थोड़े ही दिनों का है, अन्त में तुम देखोगे कि इसका फल कुछ अच्छा ही होगा। वक्स्टन साहब ने स्कूल

से कुछ भी न सीखा, यहां तक कि वे निपट अनाड़ी ही रहे। जब मास्टर उन्हें कुछ लिखने को देते तो वे औरों से लिखवा कर दे देते और आप सदा खेला कूदा करते थे। पन्द्रह वर्ष की अवस्था में वे अपने घर लौट कर आए; तब वे हाथ पांव और डील डौल में हृष्ट पुष्ट और गांठ गठीले थे। खेलना, कूदना, आखेट (१) करना, घोड़े पर चढ़ना, और मल्लविद्या इत्यादि के अतिरिक्त और उन्हें कोई काम ही नहीं आता था और न वे किसी काम ही के थे। उन्हें एक साथी मिल गया था, वह भी आखेट का बड़ा प्रेमी था। वह पढ़ा लिखा तो कुछ भी न था, पर चित्त का अच्छा था। बक्स्टन साहब बड़े वाचाल थे। दैवयोग से गिरनी नाम के एक अच्छे परिवार वालों से उनसे भेंट हो गई। वे लोग भली चाल ढाल के और परोपकारी थे। बक्स्टन साहब लिखते हैं कि उन लोगों ने मेरे चित्त से खोटी बातों को यों निकाल दिया कि जैसे कोई मोरचे लगे हुए लोहे को मांज धोकर स्वच्छ कर देता है। उन्हीं लोगों ने परिश्रम करने और विद्या सीखने का मुझे अभ्यास कराया और उनके कहने का मेरे चित्त पर ऐसा प्रभाव हुआ, कि मैं परिश्रम के साथ कालेज में पढ़ कर परीक्षा में उत्तीर्ण हो उसी गिरनी-परिवार में लौट आया और उसी परिवार की एक कन्या से मेरा विवाह हुआ और मैं किसी व्यवसायी के यहां लेखक नियुक्त होगया।

---

(१) आखेट = शिकार।

वह ऐसा साहसी और पुरुषार्थी मनुष्य था कि कभी किसी काम से भागता न था। वही लड़कपन का मनमौजीपन इसकी सुयोग्यता और साहस का एक बड़ा भारी भाग हो गया। वह छ फ़ीट चार इञ्च लम्बा था, इसलिये उसके मित्र लोग उसे हँसीसे "बक्स्टन हाथी" कहा करते थे।

वह मनुष्य जिस काम में हाथ डालता उसमें फिर चाहे कैसा ही उपद्रव क्यों न हो, पर वह अपना साहस कभी नहीं छोड़ता और उसे किसी न किसी प्रकार पूरा किए बिना नहीं रहता था। एक वार यह महाशय किसी व्यवसाय के कार्यालय में साझी हुए और उसके प्रबन्धकर्ता भी नियुक्त किए गए। उन्होंने उस बड़े कार्यालय को ऐसे सुप्रबन्ध और सुदक्षता से फैलाया कि वह भली भांति चलने लगा। इसके अतिरिक्त उन्होंने क़ानून की अनेक पुस्तकें पढ़ीं। पुस्तकों के पढ़ने के विषय में उनका यह उपदेश है कि जिस पुस्तक को आरम्भ करो उसे अवश्य ही समाप्त करो और कोई पुस्तक भी तब तक समाप्त नहीं हो सकती जब तक कि उसका आशय अपने चित्त में न जमे। किसी पुस्तक के केवल पत्रों को उलट जाना ही उसका समाप्त करना नहीं कहा जा सकता, किन्तु उस पुस्तक का भली भांति अधिकारी हो जाना और उसके प्रत्येक विषय और सूक्ष्मता को अपनी बुद्धि में लाकर स्वाधीन कर लेना, यह निःसन्देह उसका समाप्त करना कहा जा सकता है। इसलिये जब किसी पुस्तक को पढ़ो तो उचित है कि उसमें मन और बुद्धि को लगा कर पढ़ो।

बक्स्टन साहब जब तीस वर्ष के हुए थे तब वे पार्लियामेण्ट के मेम्बर हुए और उन्होंने क्रीतदासों की स्वाधीनता के लिये बड़ा उद्योग किया था। अलरहम परिवार की एक स्त्री से, जिसका नाम "प्रिसिला" था, उनकी जान पहिचान हो गई थी। वह एक कुलीन और बुद्धिमती स्त्री थी। सन् १८२१ ई० में वह परलोक सिधारी तो मरते समय उसने कई बार बक्स्टन से कहा कि भाई, देखना क्रीतदासों की स्वाधीनता पर भली भांति ध्यान रखना। बक्स्टन साहब ने भी उस स्त्री की अन्तिम व्यवस्था को कभी विस्मरण नहीं किया, वरन् उसके चिरस्मरणार्थ अपनी एक कन्या का नाम 'प्रिसिला' रख दिया था। उस सौभाग्यवती स्वर्गवासिनी स्त्री के उत्तम अभिप्रायों का प्रभाव देखिए कि जिस दिन (सन् १८३४ ई०) वह कन्या विवाहिता हो कर अपने ससुराल गई उसी दिन से अंग्रेज़ी राज्य के सब क्रीतदास अनायास ही स्वाधीन हो गए। बक्स्टन साहब ने अपने किसी मित्र को एक पत्र में लिखा था कि भाई, पुत्री आज ससुराल बिदा हो गई और सभी बातें ईश्वर की कृपा से बड़ी उत्तमता से निपट गईं कि आज अंग्रेज़ी राज्य में एक भी क्रीतदास न रहा।

बक्स्टन साहब न कोई बड़े बुद्धिमान् ही थे, न ऐसे पण्डित थे, और न उन्होंने कोई नई बात ही निकाली थी। किन्तु वे केवल एक बड़े उद्योगी और पुरुषार्थी मनुष्य थे। अपने आचरणों का वृत्तान्त वे स्वयं लिखते हैं और निःसन्देह उसे प्रत्येक मनुष्य को अपने हृदय में लिख लेना चाहिए कि—'ज्यों ज्यों मेरी अवस्था

बढ़ती गई, मुझे इस बात पर अधिक विश्वास होता गया कि निर्बल और पुरुषार्थी, तथा बड़े और छोटे मनुष्यों में केवल साहस और पुरुषार्थ-युक्त सङ्कल्पों ही का भेद हैं; क्योंकि जब कोई मनुष्य किसी काम के करने पर प्रस्तुत हो, तो उसे उचित है कि वह अवश्य पहिले ही से समझ ले कि बस अब या तो मरण है या कार्य-सिद्धि; बस, फिर बीच में उस काम को कदापि न छोड़े।

बस, यही एक सामर्थ्य मनुष्य को ऐसी मिली है कि जिसके द्वारा वह संसार के सभी कामों को निकाल सकता है। तात्पर्य यह कि यह दो पांव का जीव कैसा ही बुद्धिमान् और अच्छी अवस्था में क्यों न हो, परन्तु वह साहस और पुरुषार्थ के बिना कदापि मनुष्य नहीं बन सकता।

महाभारत की कथा*

अति प्राचीन काल से भारतवर्ष का राज्य सूर्यवंशी और चन्द्रवंशी राजाओं के अधिकार में था। चन्द्रवंश में भरत नामक एक राजा बड़ा प्रतापी हुआ। उसीके नाम से उस वंश के लोग भारत कहलाते थे। महाभारत में उस वंश को अनेक महान् व्यक्तियों के चरित्रों के वर्णन होने के कारण इस ग्रन्थ का यह नाम हुआ। इस वंश में एक राजा कुरु नामक बड़ा बली और तेजस्वी हुआ। उसने बड़ा तप किया। उसीके नाम पर उस स्थान का नाम

* बाबू जगन्नाथदास, बी॰ ए॰ लिखित॥

जहां पर कि उसने तप किया था कुरुक्षेत्र पड़ा और उसके वंश के लोग कौरव कहलाए।

इस वंश की राजधानी हस्तिनापुर में थी। यह स्थान दिल्ली से साठ मील उत्तर पश्चिम के कोने में है। कुरु-वंश में शान्तनु नामक एक बहुत बड़ा राजा हुआ। उसकी पहिली रानी से एक पुत्र देवव्रत नामक था जो कि भीष्म के नाम से विख्यात है, और दूसरी रानी से दो पुत्र चित्राङ्गद और विचित्रवीर्य हुए। भीष्म ने तो यह प्रतिज्ञा करली थी कि मैं राज्यसिंहासन पर कदापि न बैठूंगा और न अपना विवाह करूंगा जिसमें कि और कोई राज्याधिकारी न उत्पन्न हो जाय। अतएव जब महाराज शान्तनु का देहान्त हुआ तो उसकी दूसरी रानी सत्यवती के दोनों बेटों में से बड़ा चित्राङ्गद सिंहासन पर बैठा, परन्तु वह युद्ध में शीघ्रही मारा गया। उसके पश्चात् उसका छोटा भाई विचित्रवीर्य राजा हुआ। राज का काम काज भीष्म बड़ी सावधानी से संभालता था, किन्तु विचित्रवीर्य भी थोड़ी ही अवस्था में अम्बिका और अम्बालिका दो रानियां छोड़ कर मर गया। उनको कोई सन्तति न थी।

तब हतभागिनी सत्यवती ने भीष्म से कहा कि तुम सिंहासन पर बैठो और विधवा रानियों से विवाह कर लो। परन्तु भीष्म ने अपनी प्रतिज्ञा का तोड़ना स्वीकार न किया। तब उन दोनों रानियों में महर्षि कृष्णद्वैपायन व्यास से नियोग द्वारा वंश की रक्षा के लिये पुत्र उत्पन्न कराए गए। रानी अम्बिका से

एक अन्धा पुत्र धृतराष्ट्र नाम का उत्पन्न हुआ, और अम्बालिका से पीतवर्ण का एक पुत्र हुआ, जिसका नाम पांडु पड़ा, तथा एक दासी से भी विदुर नामक एक पुत्र हुआ जो कि बड़ा ही नीति-कुशल और सौभाग्यवान् निकला। भीष्म ने उन तीनों बालकों का पालन पोषण बहुत अच्छी रीति से किया और उनको सब प्रकार की शिक्षाएं बड़े यत्न से दीं।

बड़े भाई धृतराष्ट्र के जन्मान्ध होने के कारण पांडु राजा हुआ और विदुर मन्त्री बनाया गया। धृतराष्ट्र का विवाह सुबल के राजा की कन्या गान्धारी से हुआ था जो कि शकुनी की बहिन थी। और महाराज पांडु के दो विवाह हुए थे, जिनमें पहिला विवाह तो वसुदेव जी की भगिनी पृथा से हुआ था जो कि कुन्ती नाम से प्रसिद्ध है, और दूसरा विवाह मद्र देश के राजा शाल्व की बहिन माद्री से। पहिली रानी पृथा अर्थात् कुन्ती से महाराज पांडु को तीन पुत्र युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन उत्पन्न हुए और दूसरी रानी माद्री से दो पुत्र नकुल और सहदेव। येही पांचों भाई पंच पांडव कहलाते हैं। महाराज पांडु बड़ा धीर वीर और प्रतापी था। उसने बहुत से देश विजय किए और बड़ी योग्यता से राज्य किया।

पांचों भाई पांडवों की अवस्था जब कि थोड़ी ही थी कि महाराज पांडु का देहान्त हो गया। तब माद्री तो उसके साथ सती हो गई और कुन्ती, भीष्म तथा धृतराष्ट्र के कहने सुनने से सन्तान की रक्षा के लिये रह कर अपने पांचों पुत्रों का पालन पोषण

करने लगी अब राज्य का अधिकार धृतराष्ट्र के हाथ में आया। उसकी स्त्री गान्धारी को एक ऋषि के कहने से सौ पुत्र उत्पन्न हुए थे जिनमें सबसे बड़ा दुर्योधन था। ये लोग कौरव कहलाते थे।

पांचों पांडव और सौओं कौरव शस्त्र-विद्या सीखने के लिये द्रोणाचार्य के पास भेजे गए थे। द्रोणाचार्य भरद्वाज ऋषि के पुत्र थे और पांचाल देश के राजा द्रुपद से अप्रसन्न होकर हस्तिनापुर चले आए थे। कृपाचार्य की बहिन उनको व्याही थी। कृपाचार्य पुरुवंश के कुलगुरु थे। जब कौरव और पांडव लोग द्रोणाचार्य के पास गए तो उन्होंने उनसे कहा कि शस्त्र-विद्या सीख कर तुम लोगों को हमारा एक काम करना पड़ेगा। यह सुन और सब तो चुप हो रहे, परन्तु अर्जुन ने उनके काम के करने की प्रतिज्ञा की। उन पांचों पांडवों और सौओं कौरवों में युधिष्ठिर सबसे बड़े थे।

शस्त्र-विद्या तो द्रोणाचार्य से सभी शिष्यों ने सीखी, परन्तु उन सभों में अर्जुन के समान कोई भी न हुआ, और बल में भीम सबसे अधिक था और खेल कूद में वह कौरवों को बहुधा बहुत कष्ट पहुंचाता था। ऐसे ही ऐसे कारणों से दुर्योधन तथा और सब कौरव भी पांडवों से द्वेष करने लगे।

कुन्ती का कर्ण नामक एक पुत्र और भी था जो कि उसको सबसे पहिले हुआ था। कुन्ती ने उसे गङ्गा में बहा दिया था और एक सारथी की स्त्री ने पाकर उसको पुत्र की भांति पाला था। किन्तु उसका वृत्तान्त कोई भी नहीं जानता था। उसने भी

द्रोणाचार्य से बाण-विद्या सीखी और वह भी बड़ा वीर, पराक्रमी और दानी हुआ। दुर्योधन ने पांडवों को नीचा दिखाने और दबाने के लिये कर्ण को अङ्गदेश का राज्य दे कर अपना मित्र बनाया।

शस्त्र-विद्या सिखलाने के पीछे द्रोणाचार्य ने उन शिष्यों से गुरुदक्षिणा में यह मांगा कि तुम लोग पांचाल देश के राजा द्रुपद को विजय करके पकड़ लाओ। यह सुनकर कौरवों और पांडवों ने उस पर चढ़ाई की। कौरव तो हार कर फिर आए, परन्तु अर्जुन उसको जीत कर द्रोणाचार्य के पास पकड़ लाया। तब द्रोणाचार्य ने उससे कहा कि तुम डरो मत; तुमने कहा था कि राजा की और ब्राह्मण की मित्रता क्या; इसलिये हमने तुमको यहां बुलवाया है कि तुम अब भी हमसे मित्रता करलो और यह सोच कर कि विना राज्य के हम तुम्हारी मित्रता के योग्य न होंगे, तुम्हारा आधा राज्य तो हम ले लेते हैं और आधा राज्य तुमको छोड़ देते हैं। यह कह कर उन्होंने द्रुपद को बिदा कर दिया।

जब पांचों पांडव बड़े हुए और उनकी वीरता और बुद्धिमत्ता चारों ओर प्रकाशित हुई, तो धृतराष्ट्र ने, अपने कर्तव्य और राजनीति पर विचार कर के, युधिष्ठिर को युवराज नियत किया। किन्तु दुर्योधन, जो कि उनसे पहिले ही से द्वेष रखता था, इस बात से बहुत ही अप्रसन्न हुआ, और अनेक प्रकार से अपने पिता का चित्त पांडवों की ओर से फेरने लगा। अन्त में

धृतराष्ट्र ने विवश होकर कुछ दिनों के लिये अपने भतीजों को वारणावर्त को (१) भेज दिया।

दुर्योधन ने एक व्यक्ति को, जिसका नाम कि पुरोचन था, पहिले ही से बहुत सा धन देकर, पांडवों के नष्ट करने के लिये वारणावर्त में भेज दिया था। उसने वहां जाकर एक गृह लाक्षा (राल) इत्यादि अति शीघ्र जल उठने वाली वस्तुओं का बनाया, और जब पांडव वहां पहुंचे तो उनको जला देने के अभिप्राय से उसमें बहुत आग्रह कर के ठहराया। परन्तु हस्तिनापुर से चलते समय विदुर ने म्लेच्छभाषा में युधिष्ठिर को उस घर का सब वृत्तान्त समझा दिया था, जिसके कारण पांडव कुशलपूर्वक बच कर वन में चले गए, और पुरोचन स्वयं उसमें जल कर मर गया।

कुछ दिन तक वे पांचों भाई, अपनी माता के सहित बिना घर द्वार के होकर, जङ्गलों में मारे मारे फिरा किए और उनके बच जाने का वृत्तान्त किसी को ज्ञात न था। उसी यात्रा में भीम को एक राक्षसी से घटोत्कच नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। एक दिन उन लोगों को व्यासदेव मिल गए और उन्होंने ले जाकर उन लोगों को एक ब्राह्मण के घर रख दिया जहां कि वे लोग भिक्षा मांग कर ब्राह्मणों की भांति अपना पालन करने लगे।

एक दिन, पांचाल देश (२) के राजा द्रुपद की कन्या कृष्णा के स्वयंवर का समाचार पाकर, व्यास जी के अनुरोध से, वे

(१) यह नाम इलाहाबाद के सूबे का था (२) पञ्जाब।

पाचों भाई वहां गए और अर्जुन ने उस स्वयंवर में द्रौपदी को जीता। जब वे लोग उसको लेकर घर आए तो कुन्ती भीतर थी। उन लोगों ने हँसी में पुकार कर कहा कि माता! आजकी भिक्षा हम बड़ी अपूर्व लाए हैं। यह सुनकर कुन्ती ने कहा कि बेटा! सब लोग बांट लो। पर जब उसने द्रौपदी को देखा तब पछताने लगी। परन्तु अब तो मुख से बात निकल चुकी थी और व्यास जी की सम्मति भी यही थी, अतएव कृष्णा पांचों भाइयों की स्त्री हुई।

अब पांडवों का दिन धीरे धीरे लैाटने लगा। श्री कृष्ण जी ने भी, जिनसे कि द्रौपदी के स्वयंवर में पांडवों से पहिले पहिल भेंट हुई थी, उनके लिये बहुत धन धान्य भेजा था। निदान धीरे धीरे पहुंचते पहुंचते जब उनका समाचार दुर्योधन और उसके मित्रों को पहुंचा, तो वे लोग पांडवों के अनहित करने के लिये नए नए उपाय सोचने लगे, परन्तु भीष्म पितामह के समझाने से धृतराष्ट्र ने उनको बुलवाकर आधा राज्य बांट दिया।

तदनन्तर पांडव खाण्डव-प्रस्थ में, जिसका नाम कि फिर इन्द्रप्रस्थ पड़गया था, अपनी राजधानी बनाकर राज्य करने लगे। परस्पर विरोध होने के भय से उन लोगों ने यह नियम कर लिया था कि जब एक भाई कृष्णा के पास हो तो और कोई उसके समीप न जाय और यदि जाय तो वह बारह वर्ष के वनवास का दण्ड भोगे। एक दिन एक ब्राह्मण की गैाओं को डाकुओं से छुड़ाने के लिये अर्जुन को अपने शस्त्र लेने के लिये उस घर में

जाना पड़ा जिसमें कि उस समय युधिष्ठिर और द्रौपदी थे। अतएव वह बारह वर्ष के लिये इन्द्रप्रस्थ से चला गया। उस यात्रा में अर्जुन घूमता फिरता द्वारिका में गया और वहां उसने श्रीकृष्ण जी की बहिन सुभद्रा से विवाह किया। जब नियत समय बीत गया तो वह अपनी नई दुल्हन को लेकर इन्द्रप्रस्थ को लौट आया।

पांडवों ने इन्द्रप्रस्थ में एक राजसदन ऐसा उत्तम और मनोहर बनवाया था कि जिसकी भींत और खंभे सब सोने के थे और उनपर बहुमूल्य रत्नोंके फूल बूटे बने हुए थे। उस घर का गृह-प्रवेश बड़ी धूम धाम से हुआ था, जिसमें देश देशान्तरों के राजे महाराजे उस समय न्योते में आए थे और देवर्षि नारद भी उस सभा में उपस्थित हुए थे। उन्होंने युधिष्ठिर से राजनीति सम्बन्धी बहुत सी बातें कही सुनी और फिर स्वर्ग लोक का कुछ वर्णन करके कहा कि तुम्हारे पिता महाराज पांडु ने तुम्हारे पास यह सन्देश भेजा है कि तुम राजसूय यज्ञ करो कि जिसके पुण्य से मुझे इन्द्र के भवन में रहने का अधिकार प्राप्त हो। यह सुन कर युधिष्ठिर ने अपने मन्त्रियों से इस विषय में सम्मति की और श्री कृष्ण जी को भी इस महान् कार्य के परामर्श के लिये बुलवाया।

श्री कृष्ण जी ने युधिष्ठिर से कहा कि राजसूय यज्ञ वही कर सकता है जिसको कि सब राजे अपना महाराज मानें। किन्तु मगधदेश का राजा जरासन्ध अपने को आप से छोटा कभी स्वीकार न करेगा, अतएव जब तक वह जीता न जाय तब तक यह कार्य नहीं हो सकता। निदान सेना द्वारा उसका जय करना

असम्भव समझ कर श्री कृष्ण अर्जुन और भीम ये तीनों वेश बदल कर जरासन्ध के पास गए और वहां भीम ने मल्लयुद्ध में उसको मार डाला। जरासन्ध ने बहुत से राजाओं को जीत करके अपने कारागृह में बन्द कर रक्खा था; उनको श्री कृष्ण जी ने छुड़ा दिया; तब उन सब राजाओं और जरासन्ध के पुत्र ने युधिष्ठिर को अपना महाराज स्वीकार किया।

फिर युधिष्ठिर के चारों भाई चारों ओर के सब देशों को जय करके बहुत सा धन सम्पत्ति ले आए और यज्ञ आरम्भ हो गया। उस यज्ञ में सब देशों के राजे आए थे और महाराज धृतराष्ट्र भी अपने पुत्रों तथा भीष्मपितामह इत्यादि सब लोगों के साथ उपस्थित थे। उस यज्ञ में श्री कृष्ण जी का सबसे प्रथम पूजन हुआ था। अतएव शिशुपाल नामक राजा से उनका उत्कर्ष सहन न होसका और वह बहुत जीभ चलाने के कारण उसी सभा में श्री कृष्ण जी के हाथ से मारा गया।

जब पांडवों का वैभव देखकर दुर्योधन हस्तिनापुर गया तो मारे डाह के खाना पीना सब भूल गया और उनके दुख देने के लिये अनेक उपायों को सोचने लगा। अन्त में जब और कोई उपाय न चल सका तो उसने अपने मामा शकुनी के कहने से महाराज युधिष्ठिर को जूआ खेलने के लिये बुलवाया। क्योंकि महाराज युधिष्ठिर में जहां और सब गुण थे वहां यह एक बड़ा भारी दुर्गुण भी था कि उनको जूआ खेलने का बड़ा ही व्यसन था। इसी दुर्गुण के कारण उनपर तथा भारतवर्ष पर वे सब

आपत्तियां आईं कि जिनका वर्णन आगे किया जायगा। इस जूए के खेल में हारते हारते महाराज युधिष्ठिर ने अपना सर्वस्व हार दिया, पर तो भी खेलना बन्द न किया। अन्त में वे अपने चारों भाइयों को, अपने को और द्रौपदी को भी दांव पर लगा लगा कर हार गए। तब दुष्ट दुर्योधन के कहने से दुरात्मा दुःशासन ने पतिव्रता द्रौपदी को भरी सभा में पांडवों के हृदय पर वज्रपात करने के लिये नङ्गी करना चाहा, परन्तु श्री कृष्ण जी की कृपा से उसकी लज्जा रह गई। इस महा-नीच बर्ताव से क्रुद्ध होकर भीम ने उसी समय यह प्रण किया कि यदि मैं दुःशासन का कलेजा फाड़कर रुधिर न पीऊं और दुर्योधन की जांघ जिसपर कि वह द्रौपदी को बैठाना चाहता था, गदा से न तोड़ूं तो मुझे स्वर्ग में जाना न प्राप्त हो। निदान धृतराष्ट्र ने बीच बिचाव करके उस झगड़े को तो मिटाया, परन्तु फिर एक बार पासा यह दांव लगा कर फेंका गया कि जो अब की बार हारे वह बारह वर्ष बनवास और एक वर्ष गुप्तवास* करे। और तेरह वर्ष के पश्चात् जब लौटे तो अपना राज्य पावै। यह दांव भी युधिष्ठिर हार गए। अतः कुन्ती को विदुर के घर छोड़ कर वे अपने भाइयों और द्रौपदी के साथ वन में चले गए।

महाराज युधिष्ठिर के चलते समय बहुत से ब्राह्मण भी उनके साथ हो लिये थे। पांडवों ने बारह वर्ष वन में यथासम्भव कष्ट

---

* गुप्तवास का यह नियम था कि यदि उस एक वर्ष में गुप्तवास करने वाले का पता मिल जाय तो फिर उस को नये सिरे से बनवास और गुप्तवास करना पड़े।

ता बहुत पाया, पर उनको उस विपत्ति से लाभ भी बहुत कुछ हुआ। अर्जुन ने शस्त्र-विद्या में बड़ी निपुणता प्राप्त की और इन्द्र ने अनेक अस्त्र उसको दिए जो कि आगे चल कर युद्ध में बहुत ही उपयोगी हुए। और अनेक ऋषियों से उत्तमोत्तम उपदेश भी उन्हें मिले। जब बारह वर्ष समाप्त हुए तो पांडवों ने ब्राह्मणों को तो विदा कर दिया और गुप्त वास के निमित्त अपना वेष बदल कर राजा विराट के यहां नौकरी करली।

द्रौपदी भी रानी की सहचरी बनकर वहीं रहने लगी। दस महीने तक तो वे लोग वहां निर्विघ्नता पूर्वक रहे। इसके अनन्तर एक दिन द्रौपदी का सौन्दर्य देख कर रानी का भाई कीचक, जो कि विराट का सेनापति भी था, उसपर अनुरक्त हो गया और बलात् उस पर हाथ डालने को उद्यत हुआ। तब भीम ने उसको मारडाला, परन्तु उसके मारने वाले का पक्का पता किसी को भी न लगा। गुप्तवास के समय कौरवों ने पांडवों को दूतों द्वारा बहुतेरा खोजवाया, जिसमें कि नियमानुसार उनको फिर से बनवास और गुप्तवास करना पड़े, परन्तु कुछ सोध न मिली।

कीचक बड़ा वीर और बली था, उसके कारण अड़ोस पड़ोस के राजा लोग विराट से दबे रहते थे। जब उसके मरने का समाचार चारों ओर फैला तो सुशर्मा नामक एक राजा ने दुर्योधन की सहायता लेकर विराट पर चढ़ाई की। राजा विराट तो सेना लेकर उससे लड़ने के लिये उधर गए और इधर कौरवों ने आकर उसकी गोशाला घेरली। तब अर्जुन जो कि उस समय हीजड़ा

बना हुआ था, राजा के बेटे चित्रकुमार को रथ पर बैठाकर और आप सारथी बनकर कौरवों से युद्ध कराने ले गया। परन्तु जब चित्रकुमार युद्धभूमि देख कर भागा, तो उसने उसको तो पकड़ कर रथ में बांध दिया और स्वयं लड़कर कौरवों को भगा दिया। उधर राजा ने भी शेष चारों भाइयों की सहायता से सुशर्मा को जीत लिया। दूसरे ही दिन पांडवों के गुप्तवास की अवधि भी पूरी हुई और जब उन लोगों ने अपने को प्रकाशित किया तो राजा विराट ने उनसे क्षमा मांगी और अपने सब राज्य का अधिकार उनको देकर अपनी राजकुमारी उत्तरा का विवाह अर्जुन के बेटे अभिमन्यु से कर दिया।

पांडवों के प्रत्यक्ष होने तथा अभिमन्यु के विवाहोत्सव के उपलक्ष में विराट के यहां बहुत से राजा लोग एकत्रित हुए थे और श्री कृष्ण जी तथा राजा द्रुपद भी वहां आए थे। उन लोगों ने सभा में परामर्श करके दुर्योधन के पास एक दूत इस अभिप्राय से भेजा कि पांडवों ने तो अपने प्रण का पूरा पूरा निर्वाह किया, अब उनको उनका राज्य मिल जाना चाहिए परन्तु जब वहां से कोरा उत्तर मिला तब उन लोगों ने लड़ाई का प्रबन्ध किया और उस समय कौरवों और पांडवों दोनों की ओर से भारतवर्ष के सब राजाओं को न्योता भेजा गया। इस महान् युद्ध में भारतवर्ष के प्रायः सभी राजे उपस्थित हुए थे; उनमें से कोई किसीकी ओर और कोई किसीकी ओर था। श्री कृष्ण जी के पास दुर्योधन और अर्जुन एकही समय पहुंचे, इस कारण से श्री कृष्ण जी ने

उन दोनों से कहा कि एक को तो मैं अपनी सब सेना दे दूंगा और एक ओर मैं अकेला रहूंगा। यह सुन कर अर्जुन ने तो श्री कृष्ण जी को लिया और दुर्योधन ने उनकी सेना को।

इधर भीष्म द्रोण प्रभृति सब लोगों ने धृतराष्ट्र को बहुत कुछ समझाया कि पांडवों को आधा राज्य दे ही देना उचित है; परन्तु वह अपने पुत्रों का ऐसा वशीभूत था कि कुछ न कर सका। अन्त में श्री कृष्ण जी स्वयं समझाने के लिये आए और धृतराष्ट्र को भली भांति उन्होंने सब आगा पीछा दिखलाया। तब वह तो समझ गया और स्वयं उसने तथा भीष्म द्रोण ने श्री कृष्ण जी के साथ मिलकर दुर्योधन को बहुत समझाया, परन्तु उसने केवल यही उत्तर दिया कि सूई की नोक के बराबर पृथ्वी भी मैं पाण्डवों को बिना युद्ध के न दूंगा। तब विवश होकर श्रीकृष्णजी वहां से लौट आए और उन्होंने युद्ध के निमित्त प्रस्थान करने के लिये पांडवों से कहा। लौटते समय श्री कृष्ण जी ने कर्ण को भी बहुत समझाया कि तुम अपने भाइयों का साथ दो, परन्तु उसने यही उत्तर दिया कि मैं जिसकी ओर हो चुका हूं उसीकी ओर रहूंगा।

जब किसी उपाय से परस्पर में मेल न हो सका, तब पांडवों ने धृष्टद्युम्न को अपना सेनापति नियत करके संग्राम के लिये प्रस्थान किया और कुरुक्षेत्र में आकर डेरा डाला। उधर कौरव भी अपनी सेना सहित उनका सामना करने के लिये वहां आए। उनके सेनापति भीष्म पितामह थे। पांडवों के साथ

सात अक्षौहिणी और कौरवों के साथ ग्यारह अक्षौहिणी सेना थी।

निदान फिर वह महान् युद्ध प्रारम्भ हुआ। और श्री कृष्ण जी अर्जुन के सारथी बन कर उस युद्ध में उसीके साथ रहे। जब अर्जुन युद्ध के लिये रथ पर चढ़ा तो यह सोच कर कि अपने ही कुल के सब लोगों का नाश होगा, उसका चित्त डगमगाने लगा और उसने संग्राम में जाना अस्वीकार किया। यह देख कर श्री कृष्ण जी ने अनेक उपदेशों द्वारा उसके चित्त को फिर लड़ने पर दृढ़ किया। श्रीकृष्णचन्द्र और अर्जुन का वह संवाद श्रीमद्भगवद्गीता में है।

भीष्म पितामह ने दस दिन सेनापति रह कर पांडवों की ओर की बहुतेरी सेनाएं मारीं। और उन्होंने ऐसी वीरता से युद्ध किया था कि सबको यह निश्चय हो गया कि अब पांडवों को विजय का होना असम्भव है, यहां तक कि जिधर भीष्म पितामह झुकते थे उधर हड़कम्प पड़ जाता था। पहिले ही श्री कृष्ण जी ने यह प्रण किया था कि मैं इस युद्ध में शस्त्र ग्रहण नहीं करूंगा, परन्तु भीष्म का घोर युद्ध देख कर उनसे भी न रहा गया और चट वे रथ पर से कूद चक्र उठा कर उनकी ओर झपटे। अर्जुन ने यह देख कर उनको पुकारा कि आप अपना प्रण मत छोड़िए, मैं अब बहुत सावधानी से लड़ूंगा। अन्त में दसवें दिन भीष्म अपने ही बताए हुए उपाय से अर्जुन के बाणों से बिधकर गिरे और कुछ दिनों उन्हीं बाणों की शय्या पर पड़े हुए जीते रहे।

भीष्मपितामह के पश्चात् द्रोण कौरवों का सेनापति हुआ। उसने पांच दिन तक बड़ा घोर संग्राम किया। दुर्योधन ने उससे युधिष्ठिर को जीता पकड़ने के लिये कहा था, परन्तु यह काम उससे न हो सका। तेरहवें दिन अर्जुन के बेटे अभिमन्यु ने ऐसी वीरता से लड़ाई की कि कौरवों की ओर का कोई वीर भी उसके सामने न ठहरा। अन्त में द्रोण कर्णादि छ महारथियों ने मिलकर अन्याय से उस अकेले लड़के को घेर लिया। तब वह बिचारा बहुत लड़ कर मारा गया। चौदहवें दिन फिर बड़ा युद्ध हुआ। उसदिन अर्जुन ने जयद्रथ को मारा और भीम का पुत्र घटोत्कच कर्ण के हाथ से मारा गया। बिना किसी उपाय के द्रोणाचार्य का मारा जाना सर्वथा दुःसाध्य था इसलिये पन्द्रहवें दिन श्री कृष्ण जी ने यह समाचार चारों ओर फैला दिया कि अश्वत्थामा मारा गया और युधिष्ठिर से भी उन्होंने बड़ी युक्ति से इस बात को साक्षी दिलवा दी। इस कारण अपने बेटे का मरना निश्चय जान कर द्रोण ने अस्त्र शस्त्र रख दिए। तब उसको धृष्टद्युम्न ने मार लिया। जब अश्वत्थामा ने अपने पिता के इस भांति मारे जाने का समाचार सुना तो वह बड़ा क्रोध करके लड़ा, पर अन्त को भाग गया।

सोलहवें दिन कर्ण कौरवों का सेनापति हुआ। उसने लड़ाई में ऐसी वीरता और पराक्रम दिखलाया कि अर्जुन के भी छक्के छूट गए। नकुल, भीम और सहदेव को उसने भगा दिया। उसी दिन भीम ने दुःशासन को पछाड़ कर उसके कलेजे का रुधिर

पान किया और अर्जुन ने बड़े युद्ध के पश्चात् कर्ण को मार गिराया।

कर्ण के मरने के पश्चात् सत्रहवें दिन शाल्व कौरवों का सेनापति नियत हुआ और युधिष्ठिर के हाथ से मारा गया। उसके मारे जाने के पश्चात् भी लड़ाई होती रही। अन्त में जब दुर्योधन अकेला रह गया तो भाग कर एक झील में जा छिपा। कौरवों की ओर के योद्धाओं में से केवल कृपाचार्य, अश्वत्थामा और कृतवर्मा बचे थे, परन्तु दुर्योधन को उनके बचे रहने का कुछ भी वृत्तान्त ज्ञात न था। निदान जब पांडवों को दुर्योधन के छिपने का समाचार मिला तो उन्होंने झील के किनारे जाकर उसको ललकारा, जिसे सुनते ही वह बाहर निकल आया और उससे और भीम से गदा-युद्ध आरम्भ हुआ, जिसमें भीम ने जांघ तोड़ कर उसे मारडाला।

अब युधिष्ठिर ने कौरवों पर विजय पाई और श्री कृष्ण जी को धृतराष्ट्र और गान्धारी को धैर्य देने के लिये हस्तिनापुर भेजा। इधर अश्वत्थामा ने पांडवों की बची हुई सेना पर रात्रि के समय आक्रमण किया, जिससे केवल पांचों भाई और सात्यकी श्रीकृष्णजी के उपाय से बच गए और शेष सब लोग मारे गए। इसके पश्चात् महाराज युधिष्ठिर गङ्गा जी के तट पर अपने कुल के लोगों का जो कि लड़ाई में मारे गए थे, क्रिया-कर्म करने गए और फिर हस्तिनापुर में जाकर राज-सिंहासन पर बैठे।

भीष्मपितामह अभी तक उसी प्रकार से वाणशय्या पर रण-भूमि में पड़े हुए थे। श्रीकृष्णजी की सम्मति से महाराज युधिष्ठिर

अपने भाइयों तथा बचे हुए राजाओं के साथ वहां गए और उन्होंने उनसे राजनीति तथा और और अनेक उपयोगी विषयों में उत्तमोत्तम उपदेश सुने। ये उपदेश वास्तव में पढ़ने के योग्य हैं, परन्तु वे इस लेख में नहीं समा सकते, अतएव नहीं लिखे गए। उत्तरायण सूर्य के होने पर भीष्म अपने प्राण को त्यागकर स्वर्ग लोक को गए।

जब सब प्रकार से चारों ओर शान्ति स्थापित हो गई, तब श्री कृष्णजी विदा होकर अपनी पुरी को गए और महाराज युधिष्ठिर ने अश्वमेध यज्ञ किया। कुछ दिनों के पश्चात् धृतराष्ट्र और गान्धारी विदा होकर वन को चले गए और कुन्ती भी उनके साथ गई। उन लोगों का देहान्त युद्ध होने के अट्ठारह वर्ष पीछे वन ही में हुआ था।

महाभारत के युद्ध के छत्तीस वर्ष पीछे एक दिन यादव लोग मदिरा से उन्मत्त होकर परस्पर लड़ गए और श्रीकृष्ण जी बल-राम जी, तथा दो और व्यक्तियों को छोड़ कर शेष सबके सब कट मरे। तब श्रीकृष्णजी ने उनमें से एक को अर्जुन के बुलाने के लिये हस्तिनापुर भेज दिया और आप जङ्गल में लेट रहे। उस अवसर पर एक व्याध ने दूर से यह जान कर कि कोई मृग है, उनके पांव में एक बाण मारा; जब निकट आकर उसने श्री कृष्ण जी को देखा तो डर से कांपने लगा। किन्तु श्री कृष्ण जी ने उससे यह कह कर कि तुम डरो मत, जो होना होता है वही होता है, तुम्हारा कुछ दोष नहीं है। उसको धैर्य धराया और आप परम-

धाम को पधारे। बलरामजी श्रीष्णचन्द्र के पहिलेही इस असार संसार को छोड़ कर चले गए थे।

पीछे जब अर्जुन द्वारिका में आया तो यह सब दशा देखकर अत्यन्त दुखी हुआ और क्रिया-कर्म करने के पश्चात् स्त्रियों और बालकों को लेकर हस्तिनापुर की ओर चला।

अब उसी अर्जुन को, जिसने कि महाभारत का संग्राम जीता था डाकुओं ने लूट लिया और वह कुछ भी उनका न कर सका।

जब बचे हुए धन और मनुष्यों के साथ हस्तिनापुर में लौट कर अर्जुन ने महाराज युधिष्ठिर से यह सब वृत्तान्त सुनाया, तो वे बड़ेही सन्तप्त हुए और चित्त में विचारने लगे कि अब हम लोगों के भी संसार छोड़ने का समय आ गया। अन्त में परीक्षित को राज्य देकर पांचों भाई हिमालय को चले गए और वहां से सुरपुर को सिधारे।

आरम्भ*

युवा पुरुषों को चाहिए कि संसारक्षेत्र में प्रवेश करने के पहिले वे अपने चित्त में सोचें कि हमारे जीवन का लक्ष्य क्या है? हम क्या हुआ चाहते हैं और उसके लिये हमारे पास क्या क्या सामग्रियां एकट्ठी हैं? तथा जिस संसारक्षेत्र में जीवनयुद्ध के लिये आगे बढ़ते हैं उसके लिये हम कहां तक सुसज्जित हैं?

---

* स्पेक्टेटर के आशय पर बाबू कार्त्तिकप्रसाद लिखित।

सैनिकों की यह रीति है कि युद्ध में जाने के पहिले वे युद्ध करने के नियमों को भली भांति से सीख लेते हैं; और ज्यों ज्यों युद्ध करते जाते हैं त्यों त्यों उनके साहस, तेज और निपुणता की वृद्धि होती जाती है। अन्त में वे युद्धविद्या में ऐसे निपुण हो जाते हैं कि फिर उन्हें शत्रुओं से हारने की विशेष सम्भावना नहीं रहती। संसार-क्षेत्र में जीवन-युद्ध के लिये जो विद्यार्थी-रूपी सैन्यदल को पाठशाला, विद्यालय और विश्वविद्यालयों में शिक्षाएं दी जाती हैं, उनकी अवस्था भी ठीक इसी प्रकार की है; इसलिये संसार में प्रवेश करने के पहिले सभोंको अपने बल, साहस और साहित्य की परीक्षा कर लेनी चाहिए।

इस प्रकार से सभी को अपनी परीक्षा करके अपने जीवन के लक्ष्य को स्थिर कर लेना उचित है। ध्यान रहे कि जिस विषय पर तुम लक्ष्य करो वह ऊंचा तथा बड़ा हो; क्योंकि जिसके जीवन का लक्ष्य सच्चा और ऊंचा नहीं है, वह कदापि सच्चरित्र और उन्नत नहीं हो सकता। फिर लक्ष्य स्थिर होने पर उस ओर आगे बढ़ने के लिये बराबर यत्न करना चाहिए और जब तक वह लक्ष्य प्राप्त न हो, तब तक किसी कारण से भी पीछे न हटना चाहिए।

ऐसे मनुष्य के लिये कि जिसने संसारक्षेत्र में प्रवेश नहीं किया है, अपने जीवन भर के लिये एक लक्ष्य को स्थिर कर लेना कुछ सहज सी बात नहीं है। किन्तु यह लक्ष्य इतने काम का है कि इसके विना संसार-क्षेत्र में प्रवेश करने पर मनुष्य पद पद पर चूकता और दुःख भोगता है। सैकड़ों मनुष्य अपने जीवन के

लिये कोई लक्ष्य स्थिर न करके जो उन्हें सामने दिखाई पड़ता है उसी को लेकर वे संसार-क्षेत्र में प्रवेश करते हैं। कुछ दिनों के पीछे जब उन्हें वह मार्ग अच्छा नहीं लगता तो चट उसे छोड़ कर किसी दूसरे पर वे चलने लगते हैं; थोड़े दिनों पीछे उसे भी विकट पथ मान कर तीसरे पर चल निकलते हैं। योंही वे बार बार अपने जीवन के लक्ष्य को बदलते चले जाते हैं और लाभ के बदले हानि को पाते हैं। निदान इसी प्रकार की अदलाबदली में उनके जीवन का सबसे अच्छा समय युवावस्था भी बीत जाता है। अन्त में जब वे देखते हैं कि किसी उलट फेर में मेरी युवा-अवस्था के बल साहस और तेज सभी नष्ट हो गए, तो चट वे घबरा कर किसी एक पथ के पथिक बन जाते हैं और जहां तक बन पड़ता है यत्न कर कुछ दूर पहुंचते पहुंचते उन्हें बुढ़ापा आ घेरता है।

इसीलिये बुद्धिमान् लोग चञ्चल-चित्त वाले मनुष्यों के कामों को तुलना लड़कों के खेल के साथ करते हैं। जैसे बालक नित्य नए नए खिलौनों को देख कर पुरानों की चाह नहीं करते, बार बार जीवन के लक्ष्य को बदलनेवाले मनुष्य भी ठीक उसी प्रकार के हैं; जो कि वस्तुओं के गुण दोष पर विचार न कर उनकी बाहरी चमक दमक ही पर मुग्ध हो लुभा जाते हैं। इसलिये पहिले जीवन के किसी एक लक्ष्य को बिना स्थिर किए ही उस पथ में चलने से बड़े बड़े अनिष्टों की सम्भावना होती है। क्योंकि ऐसे मनुष्यों के जीवन का अमूल्य समय केवल व्यर्थ की चेष्टा में जाता

है और उनका सारा जीवन पश्चात्ताप करते बीतता है। देखो इस विषय में ज्ञानियों ने क्या कहा है—

"जो मनुष्य अपने कामों को भली भांति से आरम्भ करना जानते हैं, निश्चय है कि वे उसे उत्तम रीति से करने में भी समर्थ होंगे, क्योंकि भली भांति से कार्य का आरम्भ करना ही मानो उसे आधा समाप्त कर लेना है"।

बस, जीवन के पथ में जितना आगे बढ़ो उतनी ही इन वाक्यों की सत्यता प्रमाणित होती है। कितने ही लोग विद्या, बुद्धि, साहस और बल के रहते भी सौभाग्य-लक्ष्मी की दृष्टि में नहीं पड़े, क्योंकि संसारी जीवन कैसे आरम्भ करना होता है यह वे नहीं जानते। सच है 'प्रायः अच्छे कामों का आरम्भ दुखदाई होता है'। किसी काम को एक बार आरम्भ करके और कुछ दिनों तक तन मन से उसीमें लगे रहने से आप से आप मन उसी ओर दौड़ता है और ज्यों ज्यों उस कार्य की वृद्धि होती जाती है त्यों त्यों चित्त को भी आनन्द होता जाता है।

किसी कार्य के आरम्भ ही को देख कर उस काम के करने वाले की बुद्धि की चमत्कारी और सहन-शीलता विदित हो जाती है। देखो जब हमलोग किसी हवेली को तोड़ा चाहते हैं तब जो मनुष्य उसकी पहिली ईंट उखाड़ता है उसीको इस कार्य का प्रधान मनुष्य मानते हैं, क्योंकि पहिली ईंट के उखाड़ने पर और ईंटों का उखाड़ लेना सहज हो जाता है। इसी प्रकार छोटे छोटे कामों से आरम्भ करके बड़े बड़े काम भी हो जाते हैं, किन्तु

पहिलेही यदि कोई मनुष्य सैाभाग्य के सब से ऊंचे शिखर पर चढ़ने का उद्योग करे ते। निश्चय है कि वह मुंह के बल गिरेगा, ओर उसकी आशा कभी भी सफल न होगी। क्योंकि विना नीचे की सीढ़ियों पर चढ़े ऊपर की सीढ़ियों पर कोई नहीं चढ़ सकता। अतएव ऐसा कौन व्यक्ति है कि जो पहिले छोटे छोटे कामों के विना किए एक वार ही बड़े कामों के करने में समर्थ हो?

कार्य मात्र ही उत्तम है। परन्तु यदि उसका करनेवाला साधु और सुचरित्र हो ते। कोई काम भी नीच या अपमान देनेवाला नहीं हो सकता। और वह यदि असाधु वा कुचरित्र हो तो चाहे कैसे ही भले काम को क्यों न आरम्भ करे, पर तुरन्त ही उस काम को कलङ्कित करके आप भी अपमानित और लज्जित होता है। यही कारण है कि सामान्य कामों से भी बड़ों की बड़ाई और वड़े कामों से भी नीचों की नीचता प्रकट हो जाती है, क्योंकि निज चरित से ही मनुष्य अपने किए कामों को बनाता वा बिगाड़ता है।

पृथ्वी में सभी लोग बड़े हुआ चाहते हैं, किन्तु वैसे कर्म कोई बिरले ही करते हैं। बस, इसीसे वे सब कोई उन्नत नहीं हो सकते। अतएव, भाई, यदि तुम उन्नत हुआ चाहते हो ते। संसार-क्षेत्र के द्वार पर खड़े होकर विचारो कि तुम्हारा चित्त किस ओर झुकता है। बस, उसीके अनुसार कोई लक्ष्य स्थिर करके लगातार तुम काम करते रहो। विश्वास, धैर्य और अपनी सारी शक्ति से उस काम के करने का यत्न करो। फिर ते।

तुम्हें आपही उस कार्य की उन्नति देखकर अचरज होगा, तुम सुखी होगे और सदा उस काम को बिना किए कभी चुप चाप न बैठ सकोगे। तब बहुतेरे लोग तुम्हें बहकावेंगे कि तुम इस कार्य के योग्य नहीं हो, किन्तु तुम उनके कहने पर कान न देकर अपने सिद्धान्त के अनुसार चले चलो, और बराबर इस बात को स्मरण रक्खो कि चाहे कोई कैसाही कठिन काम क्यों न हो, परन्तु परिश्रम के साथ लगातार करने से एक न एक दिन वह सिद्ध हो ही जाता है। यदि कोई काम कठिन या दुखदाई हो तौ भी अपनी कर्त्तव्यता और उसकी आवश्यकता पर ध्यान दे कर तुम उसे ऐसे आदर और धैर्य से करो कि जिससे तुम्हें पूरा पूरा सुख मिलै। वरन् अपने करने योग्य कार्य यदि दुखदाई भी हो तौभी तुम उसे सुखदाई कर डालो। परन्तु इस विषय में तुम पूरे सावधान रहो कि अपनी उन्नति देखकर आपही अपने हृदय में अभिमान को न आने दो और सदैव नम्रता और स्थिर चित्त से अपने कामों को करो। इस विषय में किसी विद्वान् का उपदेश है कि—

"अपने स्वभाव को नम्र और उद्देश्य को उच्चतम करो, क्योंकि ऐसा करने से तुम नम्र और उन्नत-हृदय होगे। और कदापि निराश न हो, क्योंकि जो मनुष्य आकाश को लक्ष्य करके ऊपर को तीर छोड़ता है उसका तीर वृक्ष के अग्रभाग को लक्ष्य बनाने वाले व्यक्ति के तीर से अधिक ऊंचा जाता है।"

सच है, जो मनुष्य उन्नति के उच्चतर शिखर पर चढ़ने के लिये तन मन से यत्न करते हैं, चाहे पूरी रीति से उनकी आशा सफल न भी हो तौ भी औरों की अपेक्षा वे अवश्य आगे बढ़ जाते हैं, क्योंकि जिन्होंने अपने चरित्र को विनीत और नम्र बनाया है उनकी उन्नति अवश्य ही होने वाली है। जिनकी आशा ऊंची है क्या वे कदापि नीचता के बस में आ सकते हैं ? उनके चरित्र, उनकी आशाएं और उनके कार्य सभी अच्छे और बड़े होते हैं और ऐसे मनुष्यों के आगे उन्नति सदा हाथ जोड़े खड़ी रहती है।

समय का बर्त्ताव*

किसी महापुरुष ने कहा है कि—

"क्या तुम्हें अपना जीवन प्यारा है ? यदि है तो समय को नष्ट न करो, क्योंकि जीवन समय से ही बना है"।

सच है, समय को नष्ट करना और आयु को वृथा गँवाना एकही बात है। क्योंकि जीवन का समय जिस परिमाण से वृथा नष्ट होगा, आयु का भी उसी परिमाण से क्षय होना मानो। लोग यह तो भलीभांति से जानते और समझते हैं कि मेरे जीवन के दिन बहुत थोड़े हैं, परन्तु वे मोह में फँस कर उसे ऐसा व्यर्थ बिताते हैं कि उनकी दशा को देखकर विस्मय होता है। मुख

---

* स्पक्टेटर के आशय पर बाबू कार्तिकप्रसाद लिखित।

से तो वे यही कहा करते हैं कि जीवन क्षण-स्थायी है, किन्तु उनके कामों को देखो तो जान पड़ता है कि मानो वे मृत्यु को अपने चित्त से भुलाए बैठे हैं या उन्होंने अपने को अमर ही मान लिया है।

हम लोगों में ऐसे मनुष्य बहुत थोड़े हैं जो इस बात की जांच करते होंगे कि हम अपने समय का कैसा बर्ताव करते हैं। परन्तु हम सभों को चाहिए कि नित्य इसपर ध्यान रक्खें और जांचें कि आहार, निद्रा, विश्राम, व्यर्थ की बातों और आलस्य में हमारे कितने समय व्यर्थ जाते हैं और प्रयोजनीय कार्य, सच्चिन्ता, तथा धर्मचर्चा आदि में कितने समय लगते हैं। खेद है कि हम लोग अपनी सन्तान को गणित, रसायन, साहित्य और विज्ञान आदि शास्त्रों की तो भरपूर शिक्षा देते हैं, पर जिस शास्त्र की शिक्षा से उनकी परम उन्नति, जीवन का सद्व्यवहार, सौभाग्य का उदय और सच्चा सुख प्राप्त हो तथा मनुष्य नाम को कलङ्क न लगे ऐसे शास्त्र की शिक्षा नहीं देते। परन्तु यह निश्चय जानो कि समय अमूल्य धन है। इसलिये इसके सद्व्यवहार से मनुष्य निश्चय सुखी हो सकता है, क्योंकि इसके उचित व्यवहार के बिना उसको विद्या, बुद्धि और धन कुछ भी प्राप्त नहीं हो सकते। सोचना चाहिए कि क्या इस विषय में हम लोग अपनी सन्तान को उचित रीति से शिक्षा देते हैं?

देखो! जितने महात्मा अद्भुत तथा बड़े बड़े कामों को पूरा करके चिरस्मरणीय हो गए हैं, उनका समय कैसे बीतता था?

इस रीति से कि वे समय को वृथा नष्ट नहीं करते थे, वरन् सदा उसका उचित वर्ताव करते थे। उसीसे वे बहुत कुछ कर सके।

इस अभागे देश के युवा लोग अनेक शास्त्रों को पढ़ते हैं, विविध विषयों में उपदेश देते हैं, किन्तु वे समय रूपी धन का आदर करना नहीं जानते। वे सदैव सवेरे, दोपहर, सांझ और रात को, तथा भोजन के पहिले वा पीछे, घर में या बाहर, वृथा ही समय को नष्ट किया करते हैं। वे मूढ़ दिन भर यों ही गवांकर जब सन्ध्या हुई तो लगे पछताने कि "हाय यह काम करना था सो न किया, बड़ी भूल हुई, इसमें तो ढील नहीं करनी थी अच्छा कल देखा जायगा"—मानो उन्हें कल दूसरा कोई काम ही नहीं हैं। इसी प्रकार न जाने कितने 'कल' आते और जाते हैं, पर उनकी 'कल' की प्रतिज्ञा कभी पूरी नहीं होती।

'आगामि कल' यह वाक्य बड़ा ही भयानक है। क्योंकि इन दो शब्दों के भीतर कितने ही पाप, प्रतिज्ञा-भङ्ग, निराशाएं, कामों में ढील और जीवन की इतनी हानियां छिपी हैं कि जिन्हें सोच कर चकित होना पड़ता है। किसी बुद्धिमान् ने कहा है कि—

"'आगामि कल' यह शब्द केवल मूर्ख और अज्ञ लोगों ही के कोष में लिखा है"। सच है, ज्ञानी मनुष्य 'आगामि कल' किसे कहते हैं, यह जानते ही नहीं, क्योंकि वह शब्द अभी तक उनके व्यवहार में नहीं आया है। वे तो बीते हुए 'कल' और 'आज' इन्हीं दोनों शब्दों को भली भांति से जानते हैं। इस कारण से जो दिन कि उनके हाथ से निकल गया है और उसका उत्तम रीति से

उनसे वर्ताव नहीं हुआ है, उस पर वे खेद करके प्रतिज्ञा पूर्वक 'आज' अर्थात् वर्त्तमान समय को अच्छे कामों में लगा कर दूने उत्साह और साहस के साथ कार्य को आरम्भ करते हैं। और जो समय बीत गया है उसके लिये अधिक चिन्ता न कर आगे ऐसा न हो इसके लिये पक्का विचार करते हैं।

ऐसे भी बहुतेरे लोग हैं कि जो काम वे नहीं कर सकते या जो उनके हाथ से निकल गया वा बीत गया है, उसके पछतावे में व्यर्थ बहुत से समय को नष्ट कर डालते हैं, और यह नहीं सोचते कि ऐसा करने से दोनों ओर से हम लोग वञ्चित होते हैं। क्योंकि उन्होंने कल जो काम नहीं किया और व्यर्थ ही समय को नष्ट किया, इसके लिये पछतावा कर आज का दिन भी बिता दिया, फिर कल के लिये वे पश्चात्ताप करते हैं। पर ऐसा न करना चाहिए, क्योंकि जो समय बीत गया वह फिर हाथ नहीं आने का, इसलिये जो सामने है उसीके लिये लोगों को सावधान होना चाहिए। किन्तु जो ऐसा नहीं करते वे अपने हाथ से निज उन्नति के द्वार को बन्द करते हैं। क्योंकि समय मनुष्यमात्र की साधारण सम्पत्ति है, करुणामय परमेश्वर ने अपने किसी सन्तान को इस धन से वञ्चित नहीं किया है। इसलिये जो बुद्धिमान् अपनी इस पैतृक सम्पत्ति का सद्व्यवहार करते हैं, वे शीघ्रही उन्नत हो मनुष्य-जीवन के सच्चे सुख के भोगने में समर्थ होते हैं, और जो बुद्धि से हीन हैं वे महा नीच-दशा को पहुंच कर अपने जीवन को ऊसर भूमि सा कर डालते हैं। बस, मनुष्यों में

जितने प्रकार के घोर पाप, अँधेरी रात के जितने दुष्कर्म और भयानक कार्य हैं वे सब इन्हीं दुराचारियों का आश्रय लेते हैं। किन्तु समय का अच्छा व्यवहार करनेवाले लोग मनुष्यमात्र के लिये असंख्य उपकार कर गए हैं। महात्मा और भाग्यवान् लोगों की भी यही श्रेणी है। क्योंकि प्रधान प्रधान ग्रन्थकार, आविष्कारक, विज्ञानवित्, पण्डित, अध्यापक, देशहितैषी, परोपकारी, धार्मिक, सीधे, शान्त और सच्चरित्र, आदि महानुभाव लोग इसी श्रेणी में हुए और होते हैं और येही पृथ्वी के भूषण भी हैं। यदि ये न जन्म लेते तो क्या पृथ्वी ऐसी सुखद होती? कभी नहीं। बस, इन्हींको सभ्य और शिक्षित मण्डली धन्यवाद देती हैं। इन्हीं की पूजा करती हैं। इन्हींका सम्मान करती हैं। इन्हींका विश्वास करती हैं और इन्हींके दिखाए हुए पथ पर चल कर उन्नति प्राप्त करती हैं। संसार में जितने बड़े बड़े कार्य और जितनी सुख समृद्धियां दिखाई देती हैं वे सभी महानुभावों के हाथ और मस्तिष्क से उत्पन्न हुई हैं। अतएव वेही यथार्थ में मनुष्य जाति के गौरव हैं और उन्हींका जीवन धन्य है।

इसीसे कहते हैं कि भाइयो! आलस्य में पड़े पड़े व्यर्थ अपने दिन न बिताओ। जब तुम प्रत्येक घड़ी और पल को अपने सद्-व्यवहार में लाओ, तब देखोगे कि हमारे हाथ पांव किस प्रकार काम करने में समर्थ होते हैं, हमारा मन कैसा चिन्ता-शील हो जाता है और हमारा जीवन कैसा सुखद होता है। अतएव घड़ी पल के अति तुच्छ वस्तु होने पर भी तुम इन्हें तुच्छ न समझो,

क्योंकि छोटी छोटी वस्तुओंही से बड़ी बड़ी वस्तुएं बनती हैं। और छोटी वस्तुओं के बर्ताव के सीखने से ही बड़ी वस्तुओं का अभ्यास आपही हो जाता है। इसीलिये ज्ञानियों ने प्रत्येक पल को सद्व्यवहार में लाने की आज्ञा दी है।

यह बात नहीं है कि कञ्जूस लोग ही अधिक धन उपार्जन करते हैं; वरन् यह बात ठीक है कि एक ओर जैसे वे धन का उपार्जन करते हैं, दूसरी ओर वैसेही प्राण रहते उसका अपव्यय नहीं करते। इसीसे वे शीघ्र ही धनवान् हो जाते हैं। बस, कञ्जूस लोगों की नाईं जो मनुष्य अपने समय रूपी धन में से एक पल मात्र का भी अपव्यय नहीं करता, अर्थात् शारीरिक, मानसिक या आध्यात्मिक किसी प्रकार की उन्नति किए बिना नहीं रहता, वह अपनी उन्नति देखकर आपही आश्चर्यित होता है। यही कारण है कि समय के सद्व्यवहार ही से एक सामान्य से सामान्य लोग भी संसार में बड़े बड़े काम कर गए हैं। क्योंकि समय के लिये कुछ भी असाध्य नहीं है। अतएव इसके ऐसा अनमोल पदार्थ दूसरा नहीं है। एक बार खो जाने पर फिर धन, मान, बल, पराक्रम आदि किसी वस्तु से भी यह प्राप्त नहीं हो सकता है। उन मूर्खों से बढ़ कर और कौन ऐसा हिए का अन्धा है जो सबसे अधिक समय को नष्ट करता है। देखो चारों ओर जितने दुष्कर्म, दुराचार, दुःख दारिद्र इत्यादि दीखते हैं वे सभी समय के असद्व्यवहार के फल हैं।

समय का जैसा व्यवहार किया जाता है, फल भी वैसाही होता है। वे बड़ेही मूर्ख हैं जो ऐसे अमूल्य समय को दुखदाई मान कर "क्योंकर यह शीघ्र बीते" ऐसा कह कर अपने लिये खेद पश्चात्ताप और नरक का द्वार खोल देते हैं। किन्तु बुद्धिमान् लोग बड़े उमङ्ग से इसे आदर पूर्वक आलिङ्गन कर और इसके सद्व्यवहार से सांसारिक उन्नति करके अपने मनुष्य-जन्म को सफल करते हैं।

चाहे कोई कितना ही समय का सद्व्यवहार क्यों न करै, किन्तु नियमानुसार समय का विभाग करके काम में प्रवृत्त हुए बिना कोई भी काम उत्तम रीति से नहीं हो सकता। क्योंकि प्रत्येक काम के लिये स्वतंत्र समय होना चाहिए। बस, जिस समय के लिये जो काम नियत है, उसे उसी काल में करना उचित है; इसलिये ऐसे नियम की अवश्य दृढ़ता होनी चाहिए। यदि ऐसा न किया जाय तो आज के काम को कल के लिये डाल रखने से मनुष्य के ऊपर अधिक बोझ पड़ता है, क्योंकि फिर कल के काम को परसों पर डालना पड़ैगा और यों ही प्रति दिन के कामों का बोझ बढ़ता ही जायगा। इसी लिये बुद्धिमान् लोग अपने दिन रात के कामों के समय की अवधि बाँध कर उन्हीं उन्हीं समयों में वे वे काम करते हैं। ऐसा सङ्कल्प करने से शान्त भाव से सब काम ठीक समय पर सुगमता से होते जाते हैं।

जो लोग ऐसा नियम बांध कर ठीक समय पर काम करते हैं, उन्हें किसी काम के लिये घबराहट नहीं होती और न थका-

वट ही होती है। ऐसे मनुष्य वर्ष-गणना में अल्पायु होने पर भी कार्य-गणना में दीर्घायु से प्रतीत होते हैं। सामान्य मनुष्य जिस काम को अठवारे में नहीं कर सकता, अध्यवसायी पुरुष उसे चट पट दो ही एक दिन में कर डालते और अपने बीते हुए समय की ओर देख कर प्रसन्न होते हैं, तथा दूने उत्साह के साथ वर्त्तमान समय की कमी को समाप्त करते हैं और समय के नष्ट होने का अनुताप उनके हृदय को स्पर्श तक नहीं करता।

जीवन के साथ युद्ध करने के लिये सुसज्जित युवक जन किन किन नियमों को अवलम्बन करके समय के सद्व्यवहार करने पर सफल-मनोरथ हो सकते हैं, इस विषय में एक उदार-हृदय महात्मा ने नीचे लिखी प्रणाली के अनुसार काम करने की आज्ञा दी है—

(१) बहुत से कामों को एक साथ करने का सहज उपाय यह है कि एक एक बार एक ही एक काम को करो।

(२) जो काम तुरन्त पूरा करने योग्य है उसे उसी समय कर डालो।

(३) जिस काम को आज करना है उसे कल के लिये न डाल रक्खो।

(४) जो काम अपने किए होता हो, उसे दूसरे के भरोसे पर न छोड़ो।

(५) घबराहट से जितनी जल्दी काम पूरा किया चाहोगे उतना ही उसमें विलम्ब होगा।

(६) यदि शीघ्र काम पूरा किया चाहते हो तो उसे धीरज से करो।

वे लोग कैसे सुखिया हैं, जो सदैव अच्छे कामों में अपने दिन बिताते हैं। अहा! जिस समय वे दुखी और दीनहीन लोगों के दुःख दूर करने के लिये यत्न करते हैं, जिस समय वे मूर्खों को उपदेश देकर उनके अन्धकार-मय हृदय में प्रकाश का विकाश करते हैं; जिस समय वे पापियों को उपदेश देकर उन्हें सत् पथ पर लाते हैं, जिस समय वे देश के हितकारी कामों को करते हैं, जिस समय वे रोगियों की सेवा टहल करते हैं, जिस समय वे नीतिमय पुस्तकों का पाठ कर अमृत पीने के समान सुख प्राप्त करते हैं, जिस समय वे ज्ञानी और धर्मात्मा बन्धुओं के साथ शास्त्रों की चर्चा करते हैं, और जिस समय वे करुणामय जगदीश्वर के ध्यान में निमग्न होकर उसकी पूजा करते हैं, उस समय उनके आनन्द को सीमा ही नहीं रहती। और उस समय वे समझते हैं कि परमेश्वर ने बड़ी कृपा करके यह समय रूपी अमूल्य-रत्न हम लोगों के सुख-साधन के लिये दिए हैं। अतएव उन्हीं लोगों का मनुष्य-जन्म सफल है जो कि समय को अपने सद्व्यवहार में लाकर उसे सार्थक करते हैं।

परन्तु हा! वे लोग कैसे मूर्ख और कैसे मतिमन्द हैं, जो कि ऐसे अमूल्य रत्न को व्यर्थ ही लुटा कर आप बड़े बड़े दुःख जाल में फँसते और अपने को नष्ट करते हैं। संसार में ऐसे लोगों का जीवन केवल दुःखमय और व्यर्थ है।

8

मुद्राराक्षस*

पूर्वकाल में भारतवर्ष में मगध-राज्य एक बड़ा भारी जनस्थान था। वहां जरासन्ध आदि अनेक प्रसिद्ध पुरुवंशी राजा बड़े प्रसिद्ध हुए हैं। उस देश की राजधानी पाटलीपुत्र अथवा पुष्पपुर थी। उन लोगों ने अपना प्रताप और शौर्य इतना बढ़ाया था कि आज तक उनका नाम भू-मण्डल पर प्रसिद्ध है। किन्तु काल-चक्र बड़ा प्रबल है कि किसीको भी एक अवस्था में रहने नहीं देता। अतएव अन्त में नन्दवंश ने पौरवों को निकाल कर वहां अपनी जय-पताका उड़ाई और सारे भारतवर्ष में अपना प्रबल प्रताप विस्तारित कर दिखाया।

इतिहास के ग्रन्थों में लिखा है कि एक सौ अड़तीस वर्ष नन्दवंश ने मगध देश का राज्य किया। उसी वंश में महानन्द का जन्म हुआ। वह बड़ा प्रसिद्ध और अत्यन्त प्रतापशाली राजा हुआ। जब जगद्विजयी सिकन्दर (अलक्षेन्द्र) ने भारतवर्ष पर चढ़ाई की थी, उस समय तीन सहस्त्र हाथी, दो सहस्त्र रथ, बीस सहस्त्र अश्वारोही और दो लाख पदाति सेना लेकर महानन्द उससे लड़ने को गया था। † सिद्धान्त यह कि भारतवर्ष में उस समय महानन्द सा प्रतापी और कोई राजा न था।

---

* खड्गविलास प्रेस, बांकीपुर, के स्वामी की आज्ञा से भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के मुद्राराक्षस नामक नाटक से उद्धृत।

† सिकन्दर कान्यकुब्ज से आगे न बढ़ा, इसलिये महानन्द से उसका मुक़ाबिला नहीं हुआ।

महानन्द के दो मन्त्री थे जिनमें मुख्य का नाम शकटार और दूसरे का राक्षस था। शकटार शूद्र और राक्षस ब्राह्मण था। वे दोनों अत्यन्त बुद्धिमान् और महाप्रतिभा-सम्पन्न थे। केवल भेद इतना था कि राक्षस धीर और गम्भीर था, उसके विरुद्ध शकटार अत्यन्त उद्धत-स्वभाव का था। यहां तक कि अपने प्राचीन-पने के अभिमान से कभी कभी वह राजा पर भी अपना प्रभुत्व जमाना चाहता था। महानन्द भी अत्यन्त उग्र-स्वभाव, असहन-शील और क्रोधी था, जिसका परिणाम यह हुआ कि उसने अन्त में शकटार को क्रोधान्ध होकर बड़े निविड़ कारागार में अवरुद्ध किया और नित्य सपरिवार उसके भोजन के लिये केवल दो सेर सत्तू नियत किया।

कहते हैं कि एक दिन राजा महानन्द हाथ मुंह धोकर हँसते हँसते ज़नाने में आरहे थे। उस समय विचक्षणा नाम की एक दासी, जो कि राजा के मुंह लगने के कारण कुछ ढीठ होगई थी, राजा को हँसते देख कर हँस पड़ी। राजा उसकी ढिठाई से बहुत चिढ़ा और उसने उससे पूछा कि तू क्यों हँसी? उसने उत्तर दिया "जिस बात पर महाराज हँसे उसीपर मैं भी हँसी"। महानन्द इस बात पर और भी चिढ़ा और बोला कि अभी बतला मैं क्यों हँसा, नहीं तो तुझको प्राण-दण्ड होगा। दासी से कुछ उपाय न बन पड़ा। उसने घबड़ा कर इसके उत्तर देने को एक महीने की अवधि चाही। राजा ने कहा, आज से ठीक एक महीने के भीतर जो उत्तर न देगी तो तेरे प्राण न बचेंगे।

विचक्षणा के प्राण उस समय तो बच गए, परन्तु महीने के जितने दिन बोतते थे मारे चिन्ता के वह उतनी ही मरी जाती थी। कुछ सोच विचार कर वह एक दिन कुछ खाने पीने की सामग्री लेकर शकटार के पास गई और रो रो कर अपनी सब विपत्ति कहने लगी। मन्त्री ने कुछ देर तक सोच कर उस अवसर की सब घटना पूछी और हँस कर कहा "मैं जान गया राजा क्यों हँसे थे। कुल्ला करने के समय पानी के छोटे छोटे छींटों पर राजा को बट-बीज का स्मरण हो आया और यह भी ध्यान हुआ कि ऐसे बड़े बट के वृक्ष इन्हीं छोटे छोटे बीजों के अन्तर्गत हैं। किन्तु भूमि पर पड़ते ही जल के छींटे नष्ट हो गए। राजा अपनी इसी भावना को स्मरण करके हँसते थे"। विचक्षणा ने हाथ जोड़ कर कहा, यदि आपके अनुमान से मेरे प्राण की रक्षा होगी तो मैं जिस प्रकार से होगा आपको कारागृह से छुड़ाऊंगी और जन्मभर आपकी दासी होकर रहूंगी।

राजा ने विचक्षणा से एक दिन फिर हँसने का कारण पूछा तो उसने शकटार से जैसा सुना था कह सुनाया। राजा ने चमत्कृत होकर पूछा, सच बता, तुझसे यह भेद किसने कहा? दासी ने शकटार का सब वृत्तान्त कहा और राजा को शकटार की बुद्धि की प्रशंसा करते देख अवसर पाकर उसके छूटने की भी प्रार्थना की। राजा ने शकटार को बन्दीगृह से छुड़ाकर राक्षस के नीचे मंत्री बनाकर रक्खा।

शकटार यद्यपि वन्दीगृह से छूटा और छोटा मंत्री भी हुआ, किन्तु अपनी अप्रतिष्ठा और परिवार के नाश का सोच उसके चित्त में सदा पहिले ही सा जागता रहा। रात दिन वह यही सोचता कि किस उपाय से ऐसे अव्यवस्थित-चित्त और उद्धत राजा का नाश करके अपना बदला ले। एक दिन घोड़े पर वह हवा खाने जाता था। नगर के बाहर एक स्थान पर क्या देखता है कि एक काला सा ब्राह्मण अपनी कुटी के सामने मार्ग की कुशा उखाड़ उखाड़ कर उसकी जड़ में मठा डालता जाता है। यद्यपि वह पसीने से लथपथ है परन्तु कुछ भी शरीर की ओर ध्यान नहीं देता। उसके चारों ओर कुशा के बड़े बड़े ढेर लगे हुए हैं। शकटार ने आश्चर्य से इस श्रम का कारण पूछा। उसने कहा "मेरा नाम विष्णुगुप्त चाणक्य है। मैं ब्रह्मचर्य में नीति, वैद्यक, ज्योतिष, रसायन आदि संसार की उपयोगी सब विद्या पढ़कर विवाह की इच्छा से नगर की ओर आता था। किन्तु कुश गढ़ जाने से मेरे मनोरथ में विघ्न हुआ। इसलिये जब तक इन बाधक कुशाओं का सर्वनाश न कर लूंगा दूसरा काम न करूंगा। मठा इसलिये इनकी जड़ में छोड़ता हूं कि जिसमें पृथ्वी के भीतर इनका मूल भी भस्म हो जाय"।

शकटार के चित्त में यह आया कि ऐसा पक्का ब्राह्मण जो किसी प्रकार राजा से क्रुद्ध हो जाय तो उसका जड़ से नाश कर के छोड़े। यह सोच कर उसने चाणक्य से कहा कि जो आप नगर में चल कर पाठशाला स्थापित करें तो मुझपर बड़ी कृपा

हो। मैं इसके बदले बेलदार लगा कर यहां की सब कुशाओं को खुदवा डालूंगा। चाणक्य ने मान लिया और नगर में आकर एक पाठशाला स्थापित की। बहुत से विद्यार्थी लोग पढ़ने आने लगे और पाठशाला बड़े धूम धाम से चल निकली।

अब शकटार इस सोच में हुआ कि चाणक्य से राजा से किस चाल से बिगाड़ हो। एक दिन राजा के घर में श्राद्ध था। उस अवसर को शकटार अपने मनोरथ सिद्ध होने के लिये अच्छा समय जानकर चाणक्य को श्राद्ध का न्योता देकर अपने साथ ले आया और श्राद्ध के आसन पर उसे बिठला कर आप चला गया, क्योंकि वह जानता था कि चाणक्य का रंग काला, आंखें लाल और दांत काले होने के कारण नन्द उसको आसन पर से उठा देगा, जिससे चाणक्य अत्यन्त क्रुद्ध होकर उसका सर्वनाश करैगा।

और ठीक ऐसाही हुआ। जब राक्षस के साथ नन्द श्राद्ध-शाला में आया और उसने एक अनिमंत्रित ब्राह्मण को आसन पर बैठा हुआ और श्राद्ध के अयोग्य देखा, तो चिढ़ कर आज्ञा दी कि इसका बाल पकड़ कर यहां से निकाल दो। इस अपमान से, ठोकर खाए हुए सर्प की भांति, अत्यन्त क्रुद्ध होकर और शिखा खोल कर चाणक्य ने सब के सामने प्रतिज्ञा की कि जब तक इस दुष्ट राजा का सत्यानाश न कर लूंगा तब तक शिखा न बांधूंगा। यह प्रतिज्ञा करके वह राजभवन से चला गया।

शकटार अवसर पाकर चाणक्य के मार्ग में से अपने घर ले आया और राजा की अनेक निन्दा कर के उसका क्रोध और भी बढ़ाया और अपनी सब दुर्दशा कह कर नन्द के नाश में सहायता करने की प्रतिज्ञा की। चाणक्य ने कहा कि जब तक हम राजा के घर का भीतरी भेद न जानें उसके नाश का कोई उपाय नहीं सोच सकते। शकटार ने इस विषय में विचक्षणा के सहायता देने का वृत्तान्त कहा और रात के एकान्त में उसे बुलाकर चाणक्य के सामने उससे सब बात की प्रतिज्ञा करा ली।

महानन्द के नौ पुत्र थे, जिनमें आठ तो विवाहिता रानी से और नवां चन्द्रगुप्त मुरा नाम की एक नाइन स्त्री से। इसी कारण से चन्द्रगुप्त को मौर्य और वृषल भी कहते हैं। चन्द्रगुप्त बड़ा बुद्धिमान् था, इसी कारण से और आठों भाई उससे भीतरी द्वेष रखते थे। और महानन्द भी अपने औरस पुत्रों का पक्ष करके उससे कुढ़ता था। वह यद्यपि शूद्रा के गर्भ से जन्मा था, परन्तु ज्येष्ठ होने के कारण अपने को राज्य का भागी समझता था और इसीलिये उसका राज-परिवार से पूर्ण वैमनस्य था। चाणक्य और शकटार ने इसी कारण से निश्चय किया कि हमलोग चन्द्रगुप्त को राज्य का लोभ देकर अपनी ओर मिला लें और नन्दों का नाश करके उसी को राजा बनावें।

यह सब परामर्श पक्का हो जाने के पीछे चाणक्य तो अपनी पुरानी कुटी में चला गया और शकटार ने चन्द्रगुप्त और विचक्षणा को सिखा पढ़ा कर पक्का करके अपनी ओर फोड़ लिया। चाणक्य

ने कुटी में जाकर हलाहल विष मिले हुए कुछ ऐसे पकवान बनाए कि जो परीक्षा करने में भी न पकड़े जांय, किन्तु उनके खाते ही प्राण-नाश हो जाय। विचक्षणा ने किसी प्रकार से महानन्द को पुत्रों समेत वह पकवान खिला दिया, जिससे वे बिचारे सबके सब एक साथ ही परम धाम को सिधारे।

चन्द्रगुप्त उस समय चाणक्य के साथ था क्योंकि शकटार अपने दुःख और पापों से सन्तप्त होकर निबिड़ वन में चला गया था और अनशन करके उसने अपने प्राण त्याग दिए थे। कोई कोई इतिहास-लेखक कहते हैं कि चाणक्य ने अपने हाथ से शस्त्र द्वारा नन्द का बध किया और फिर क्रम से उसके पुत्रों को भी मारा, किन्तु इस विषय का कोई दृढ़ प्रमाण नहीं है। चाहे जिस प्रकार से हो चाणक्य ने नन्दों का नाश किया, किन्तु केवल पुत्र सहित राजा के मारने ही से वह चन्द्रगुप्त को राजसिंहासन पर न बैठा सका। इसलिये अपने अन्तरङ्ग मित्र जीवसिद्धि को क्षपणक के वेश में राक्षस के पास छोड़कर आप राजा लोगों से सहायता लेने की इच्छा से विदेश निकला। अन्त में वह अफ़ग़ानिस्तान वा उसके उत्तर ओर के निवासी पर्वतक नामक लोभ-परतन्त्र एक राजा से मिल कर और जीतने के पीछे उसको मगध राज्य का आधा भाग देने के नियम पर पटने पर चढ़ा लाया। पर्वतक के भाई का नाम वैरोधक और पुत्र का मलयकेतु था। और भी पांच म्लेच्छ राजाओं को पर्वतक अपनी सहायता के लिये लाया था।

इधर राक्षस मन्त्री राजा के मरने से दुखी होकर उसके भाई सर्वार्थसिद्धि को सिंहासन पर बैठा कर राजकाज चलाने लगा। चाणक्य ने पर्वतक की सेना लेकर कुसुमपुर को चारों ओर से घेर लिया। पन्द्रह दिन तक घोर तर युद्ध हुआ। राक्षस की सेना और नागरिक लोग लड़ते लड़ते शिथिल हो गए। उस समय में गुप्त रीति से जीवसिद्धि के बहकाने से राजा सर्वार्थसिद्धि वैरागी होकर वन में चला गया। ऐसे कुसमय में राजा के चले जाने से राक्षस और भी उदास हुआ। फिर वह चन्दनदास नामक एक बड़े धनी जौहरी के घर में अपने कुटुम्ब को छोड़ और शकटदास कायस्थ तथा अनेक राजनीति जानने वाले विश्वास-पात्र मित्रों को अनेक आवश्यक काम सौंप कर राजा सर्वार्थसिद्धि के फेर लाने को आप तपोवन की ओर गया।

चाणक्य ने जीवसिद्धि द्वारा यह सब सुनकर राक्षस के पहुंचने के पहिले ही अपने मनुष्यों से राजा सर्वार्थसिद्धि को मरवा डाला। राक्षस जब तपोवन में पहुंचा और सर्वार्थसिद्धि को मरा देखा, तो अत्यन्त उदास होकर वहीं रहने लगा। यद्यपि सर्वार्थ-सिद्धि के मार डालने से चाणक्य की नन्दकुल के नाश की प्रतिज्ञा पूरी हो चुकी थी, किन्तु उसने सोचा कि जब तक राक्षस चन्द्रगुप्त का मंत्री न होगा तब तक राज्य स्थिर न होगा। वरंच बड़े विनय से राक्षस के पास तपोवन में चाणक्य ने मंत्रित्व स्वीकार करने का संदेसा भेजा, परन्तु प्रभुभक्त राक्षस ने उसको स्वीकार नहीं किया।

तपोवन में कई दिन रहकर राक्षस ने यह सोचा कि जब तक पर्वतक को हम न फोड़ेंगे काम न चलेगा। यह सोच कर वह पर्वतक के राज्य में गया और वहां उसके बूढ़े मंत्री से कहा कि चाणक्य बड़ा विश्वास-घाती है, वह आधा राज्य कभी न देगा; आप राजा को लिखिए, वह मुझसे मिलें तो मैं सब राज्य उनको दूं। मंत्री ने पत्रद्वारा पर्वतक को यह सब वृत्त और राक्षस की नीतिकुशलता लिख भेजी और यह भी लिखा कि मैं अत्यन्त वृद्ध हूं, आगे से मंत्री का काम राक्षस को दीजिए। पाटलिपुत्र विजय होने पर भी चाणक्य आधा राज्य देने में विलम्ब करता है, यह देखकर सहजलोभी पर्वतक ने मंत्री की बात मान ली और पत्र द्वारा राक्षस को गुप्तरीति से अपना मुख्य अमात्य बनाकर इधर ऊपर के चित्त से वह चाणक्य से मिला रहा।

जीवसिद्धि के द्वारा चाणक्य ने राक्षस का सब वृत्तान्त जानकर अत्यन्त सावधानता-पूर्वक चलना आरम्भ किया। अनेक भाषा जानने वाले बहुत से धूर्त पुरुषों को भेष बदल बदल कर भेद लेने के लिये चारों ओर नियुक्त किया। चन्द्रगुप्त को राक्षस का कोई गुप्तचर धोखे से किसी प्रकार की हानि न पहुंचावे इसका भी उसने पक्का प्रबन्ध किया, और वह दृढ़ सङ्कल्प करके अत्यन्त गुप्त रूप से पर्वतक की विश्वास-घातकता का बदला लेने का उपाय सोचने लगा।

राक्षस ने केवल पर्वतक की सहायता से राज्य के मिलने की आशा छोड़ कर कुलूत, मलय, काश्मीर, सिंधु और पारस इन

पांच देशों के राजाओं से सहायता ली। जब इन पांचों देशों के राजाओं ने बड़े आदर से राक्षस को सहायता देनी स्वीकार की तो वह तपोवन के निकट फिर लौट आया और वहां से उसने चन्द्रगुप्त के मारने के लिये एक विष-कन्या भेजी, और अपना विश्वासपात्र समझ कर जीवसिद्धि को उसके साथ कर दिया। चाणक्य ने जीवसिद्धि द्वारा यह बात जानकर और पर्वतक की धूर्तता और विश्वास-घातकता से कुढ़कर प्रकट में इस उपहार को बड़ी प्रसन्नता से ग्रहण किया और लानेवालों को बहुत सा पुरस्कार देकर बिदा किया। सांझ होने के पीछे धूर्ताधिराज चाणक्य ने इस कन्या को पर्वतक के पास भेज दिया और इन्द्रिय-लोलुप पर्वतक उसी रात को उस कन्या के सङ्ग करने से मर गया। इधर चाणक्य ने यह सोचा कि मलयकेतु यहां रहेगा तो उसको राज्य का हिस्सा देना पड़ेगा, इसलिये किसी प्रकार उसको यहां से भगावें तो काम चले। इस कार्य के हेतु उसने भागुरायण नामक एक प्रतिष्ठित विश्वासपात्र पुरुष को मलयकेतु के पास सिखा पढ़ा कर भेज दिया। उसने पिछली रात को मलयकेतु से जाकर और उसका बड़ा हिती बनकर कहा कि आज चाणक्य ने विश्वास-घातकता करके आपके पिता को विष-कन्या के प्रयोग से मार डाला है और अवसर पाकर आपको भी मार डालैगा। मलयकेतु बिचारा इस बात के सुनतेही सन्न हो गया और पिता के शयनागार में जाकर उसने देखा तो पर्वतक को बिछौने पर मरा हुआ पाया। इस भयानक दृश्य के देखते ही मुग्ध मलयकेतु

के प्राण सूख गए और भागुरायण की सम्मति से वह उस रात को छिपकर वहाँ से भागकर अपने राज्य की ओर चला गया। इधर चाणक्य के सिखाये भद्रभट्ट आदि चन्द्रगुप्त के कई बड़े बड़े अधिकारी प्रकट में राजद्रोही बनकर मलयकेतु और भागुरायण के साथ ही भाग गए।

राक्षस ने मलयकेतु से पर्वतक के मारेजाने का समाचार सुन कर अत्यन्त सोच किया और बड़े आग्रह और सावधानी से वह चन्द्रगुप्त और चाणक्य के अनिष्ट साधन में प्रवृत्त हुआ।

चाणक्य ने कुसुमपुर में दूसरे दिन यह प्रसिद्ध करा दिया कि पर्वतक और चन्द्रगुप्त दोनों समान बन्धु थे, इसलिये राक्षस ने विष-कन्या भेजकर पर्वतक को मार डाला और नगर के लोगों के चित्त पर, जिनको कि वह सब गुप्त अभिसन्धि नहीं विदित थी, इस बात का निश्चय भी करा दिया*। चाणक्य के हाथ किसी प्रकार से राक्षस की मुद्रा (मोहर) लग गई। बस, चट उसने धोखा देकर राक्षस के मित्र शकटदास से एक पत्र लिखवा लिया, तथा उसपर वह मोहर करके अपने गुप्त चर सिद्धार्थक को उसे देकर राक्षस के पास भेज दिया। इधर शकटदास को फांसी की आज्ञा दिलवा दी और सिद्धार्थक की सहायता से उसे भगवा भी दिया। इस कुटिल नीति को राक्षस न समझ सका और उसने सिद्धार्थक पर पूरा विश्वास करके उसे अपने पास रख लिया और मलयकेतु के दिए हुए आभरण उसे पुरस्कार में

---

* यहां से शेष कथा-पूर्ति बाबू श्यामसुन्दर दास, बी० ए०, लिखित है।

दिए। फिर चन्दनदास से भी चाणक्य ने कुटिल नीति का व्यवहार किया। एक दिन उसे बुलवा भेजा और राक्षस का कुटुम्ब सौंप देने को कहा। सब प्रकार से साम, दान, दण्ड और भय दिखाया, पर चन्दनदास न हिला। इसके पहिलेही चन्दनदास ने अभागे राक्षस के कुटुम्ब को अपने मित्र धनसेन आदि से कहकर दूसरे स्थान में भेजवा दिया था। अन्त में जब कोई उद्योग सफल न हुआ तो प्राण बचने के लिये चन्दनदास के सकुटुम्ब बन्दीगृह में भेजने की आज्ञा दी। इस समाचार को सुनकर राक्षस को बड़ा दुःख हुआ और वह चन्द्रगुप्त के मारने का उपाय सोचने लगा। परन्तु इसमें कृतकार्य होने के लिये जितने उद्योग उसने किए, वे केवल निष्फल ही नहीं हुए; वरंच उसके बहुत से लोग उन उद्योगों के करने में मारे भी गए।

मलयकेतु के भागजाने पर धूर्ताधिराज चाणक्य ने पर्वतक के भाई वैरोधक को चन्द्रगुप्त के साथ सिंहासन पर बैठाकर आधा राज बांट दिया और उसी दिन आधी रात के समय गृह-प्रवेश का समय स्थिर किया। राक्षस के अनुचरों को गृह-प्रवेश का वृत्तान्त सब ज्ञात था, इससे उन लोगों ने ऐसा प्रबन्ध किया था कि पहिले द्वार पर पहुंचते ही चन्द्रगुप्त पर द्वार गिर पड़े और वह मर जाय। चाणक्य को भी यह वृत्तान्त विदित था, इसलिये उसने वैरोधक को पहिले गृहप्रवेश करने के लिये बड़ी धूमधाम से भेजा, जिससे राक्षस के अनुचर समझे कि चन्द्रगुप्त आता है और इस धोखे में पड़कर वैरोधक को उन लोगों ने मार

डाला। इस स्थान में भी चाणक्य की कुटिल नीति सफल हुई। प्रकट में तो उसने आधा राज्य बांट दिया था, पर मन में वह जानता था कि वैरोधक जब जीता बचेहीगा नहीं तो राज कौन लेगा। इस प्रकार अमात्य राक्षस का प्रत्येक उद्योग निष्फल होता गया। इसके पीछे एक दिन चाणक्य ने चन्द्रगुप्त से कपट क्रोध किया और उस से अपनी असन्तुष्टता प्रकट की। यह समाचार सुन कर राक्षस बड़ा प्रसन्न हुआ और उसने एक दम कुसुमपुर पर आक्रमण करने के लिये सेना को प्रस्थान करने की आज्ञा दी।

चाणक्य के वे अनुचर कि जो मित्र बनकर राक्षस को चारों ओर से घेरे हुए थे, असावधान न थे, उपयुक्त अवसर की प्रतीक्षा कर रहे थे। सेना-प्रस्थान होने के पहिले ही से मलयकेतु ने यह आज्ञा दे रक्खी थी कि बिना मेरी मोहर के कोई व्यक्ति शिविर से बाहर न जाने पावे। यह आज्ञा सब पर प्रकट थी। पर जान बूझ कर अनजान बन के सिद्धार्थक उन आभरणों का डिब्बा, जिसे राक्षस ने उसे पुरस्कार में दिया था और चाणक्य की दी हुई चिट्ठी लेकर कुसुमपुर की ओर चला, परन्तु मार्ग ही में वह पकड़ा जाकर मलयकेतु के सन्मुख उपस्थित किया गया। वहां पहुंच कर उसने कहा कि मुझे राक्षस ने यह चिट्ठी और यह डिब्बा देकर कुसुमपुर चन्द्रगुप्त के पास भेजा है और यह कहने को कहा है कि "मित्र, कुलूत देश के राजा चित्रवर्मा, मलयाधिपति सिंह नाद, काश्मीरेश्वर पुष्करराज; सिन्धु के महराज सिन्धुसेन और पारसीकपालक मेघाक्ष, इन पांच राजाओं से आपसे पूर्व सन्धि

हो चुकी है। इनमें पहिले तीन तो मलयकेतु का राज्य चाहते हैं और शेष दो कोष और हाथी चाहते हैं। जिस प्रकार महाराज ने चाणक्य को उखाड़ कर मुझको प्रसन्न किया, उसी प्रकार इन लोगों को भी प्रसन्न करना चाहिए"। चिट्ठी के पढ़ने पर उस में लिखा हुआ मिला कि "अत्यन्त प्रामाणिक सिद्धार्थक जो कहे सो सुनना"। इस घटना के पूर्व ही चाणक्य के अनुचरों ने मलयकेतु को इस बात का पूरा पूरा विश्वास करा दिया था कि चाणक्य ने नहीं, वरंच राक्षस ने ही विषकन्या भेज कर पर्वतेश्वर को मरवा डाला है। अतएव मलयकेतु के हृदय में अविश्वास तो उत्पन्न होही चुका था, इस चिट्ठी के मिलने से पूरा विश्वास हो गया कि राक्षस चन्द्रगुप्त से मिला हुआ है और मेरे नाश करने में उद्यत है। बस, फिर तो उसने बिना सोचे समझे उन पांचों राजाओं को मरवा डाला और राक्षस को अपने राज्य से निकाल दिया। इस वृत्तान्त को देखकर मलयकेतु की सहायता के लिये जो दूसरे राजा आए हुए थे वे भी चले गए। ऐसा सुअवसर पाकर चाणक्य ने मलयकेतु की सेना पर आक्रमण किया और उसे छिन्न भिन्न कर मलयकेतु को पकड़ लिया।

राक्षस भी उदासीन होकर निज परम प्रीतिभाजन मित्र चन्दनदास को छुड़ाने के लिये कुसुमपुर चला आया। यहां आते ही चाणक्य की कुटिल नीति के प्रभाव से उसने सुना कि चन्दन-दास को आज ही फांसी दी जायगी। अपने मित्र का उपकार समझ कर और स्वयं अपने ही लिये उसे निज प्राण देते देख कर

अमात्य राक्षस जहां शूली दी जाने को थी वहां चला गया। उस के आने का समाचार पाते ही चाणक्य और चन्द्रगुप्त वहां पहुंच गए और राक्षस की इच्छानुसार उन्होंने चन्दनदास को छोड़ दिया। निदान अनेक उपायों से समझा बुझाकर चाणक्य ने अमात्य राक्षस को चन्द्रगुप्त का मंत्री बनने के लिये उद्यत कर उसे राज्य का अधिकार सौंपा। इस प्रकार से चाणक्य अपनी नीति-दक्षता और व्यवहार-कुशलता से सफल-मनोरथ हुआ।

रघुवंश*

दूसरा सर्ग

(नन्दिनी का वरदान देना)

चौपाई

भये प्रभात धेनु ढिग जाई।
पूजि रानि माला पहिराई॥
बच्छ पियाइ बांधि तब राजा।
खोल्यो ताहि चरावन काजा॥
परत धरनि गो चरन सोहावन।
जो मग-धूरि होत अति पावन॥
चली भूप तिय सोई मग माहीं।
स्मृति श्रुति अर्थ संग जिमि जाहीं॥

---

* लाला सीताराम, बी० ए० के अनुवाद से उनकी आज्ञानुसार उद्धृत।

चौ सिन्धुन थन रुचिर बनाई ।
धरनिहि मनहु बनी तहं गाई ॥
प्रिया फेरि अवधेश कृपाला ।
रक्षा कीन्ह तासु तेहिं काला ॥
व्रत महं चले गाय कर आगे ।
सेवक शेष सकल नृप त्यागे ॥
इक केवल निज वीर्य्य अपारा ।
मनु-सन्तति तन रक्षनहारा ॥
कबहुंक मृदु तृन नोचि खिलावत ।
हांकि माछि कहुं तनहिं खुजावत ॥
जो दिसि चलत चलत सोइ राहा ।
यहि विधि तेहि सेवत नरनाहा ॥
जहं बैठी सोइ धेनु अनूपा ।
बैठे तहंहि अवधपुर-भूपा ॥
खड़े ताहि ठाढ़ो नृप जानी ।
चले चलत धेनुहि अनुमानी ॥
पियत नीर कीन्हों जलपाना ।
रहे तासु संग छांह समाना ॥
राज-चिन्ह यद्यपि सब त्यागे ।
तऊ तेजबस नृप सोइ लागे ॥
छिपे दान[1] रेखा के संगा ।
होत मनहु मद-मत्त मतंगा[2] ॥

---

१ हाथी का मद । २ हाथी ।

केश लता सन बांधि बनाए ।
बन बिछर्‌यो धनु बान चढ़ाए ॥
ऋषय-धेनु रक्षक जनु होई ।
आयो पशुन सुधारन सोई ॥
बरुन सरिस धरि तेज प्रभाऊ ।
चले जदपि सेवक बिनु राऊ ॥
तरु पंछिन करि शब्द सुहावा ।
जनु चहुं दिसि जय-घोस सुनावा ॥
जानि निकट कोशल-पति आए ।
फूल वायु-बस लता गिराए ॥
जिमि नरेश निज पुर जब आवहिं ।
धान नगर-कन्या बरसावहिं ॥
चले जदपि नृप कर धनुधारी ।
तउँ दयाल तेहि हरिनि विचारी ॥
निरखत तासु शरीर मनोहर ।
लोचन-फल पायो तेहि अवसर ॥
भरि भरि पवन रन्ध्र युत बांसा ।
वेणु-शब्द तब करत प्रकासा ॥
बन-देविन कुंजन महँ जाई ।
नृप-कीरति तहँ गाइ सुनाई ॥
जानि घामबस म्लान शरीरा ।
लै सुगन्ध सोइ मिलत समीरा ॥

बन-रक्षक तेँहि आवत जानो ।
बिना वृष्टि वन-आगि बुझानी ॥
बांध्यो सबल निबल पशु नाहीं ।
भे फल फूल अधिक वन माहीं ॥
करि पवित्र दिसि चहुं दिसि जाई ।
धेनु सांझ आश्रम कहं आई ॥
यज्ञ-श्राद्ध-साधन सोइ साथा ।
इमि सोहत तहं कोशल-नाथा ॥
श्रद्धा मनहुं दृश्य तनु धारी ।
सोहत सन्त प्रयत्न मझारी ॥
जल सन उठत वराह-समूहा ।
चलत रूख-दिशि नभचर जूहा ॥
हरी घास जहं बैठ कुरंगा ।
चल्यो लखन सोइ सैारभि[1] संगा ॥
एक भरे थन भार दुखारी ।
धरे सरीर एक अति भारी ॥
मन्द चाल सन दोऊ तहं आई ।
तपवन सोभा अधिक बढ़ाई ॥
चलत वशिष्ठ-धेनु के पाछे ।
लैाटत अवध-भूप छबि आछे ॥

---

१ गऊ ।

प्यासे दृगन विलास बिसारी ।
लख्यो ताहि मगधेस-कुमारी ॥
आगे खड़ी रानि मग माहीं ।
पीछे भूप मनहु परछाहीं ॥
सोहत बीच धेनु यहि भांती ।
सन्ध्या संग मनहुं दिन राती ॥
अछत पात्र कर धरे सयानी ।
फिरी गाय चहुं दिसि तब रानी ॥
चरन बन्दि गो-माथ बिसाला ॥
पूज्यो अवध-रानि तेहिं काला ।
मिलन हेतु बच्छहिं अकुलानी ॥
यद्यपि रहीं धेनु गुनखानी ॥
पूजन काज रहीं सोई ठाढ़ी ।
सो लखि प्रीति भूप-मन बाढ़ी ॥
समरथ चहत देन फल जेही ।
प्रथम प्रसाद जनावत तेही ॥
पुनि संध्या-विधि नृप निपटाई ।
सादर गुरु-पद कमल दबाई ॥
जिन नृप भुज-बल शत्रु गिराए ।
दुहन-अन्त गो-सेवन आए ॥
पुनि पत्नी संग भूप दिलीपा ।
धारि धेनु आगे बलि दीपा ॥

सोए तहं तेहिं सोवत जानी ।
जागे, जगी धेनु अनुमानी ॥
सन्तति हित सेवत यहि भांती ।
बीते त्रिगुण-सप्त[1] दिन राती ॥
भक्त चित्त परखन एक बारा ।
हिम-गिरि-गुहा धेनु पग धारा ॥
मनहुं न सकहिं जन्तु यहि मारी ।
यह नरेश मन माहिं बिचारी ॥
नग[2] छबि लगे लखन नर राई ।
धेनुहि धर्यो सिंह इक धाई ॥
तड़पत सिंह गुहा के द्वारा ।
भयो तुरत तहं शब्द अपारा ॥
भूप-दृष्टि भूधर-पति लागो ।
परी धेनु पर नग-दिसि त्यागी ॥
सिंहहि लख्यो धेनु पर कैसा ।
गेरू गुहा लोध[3] तरु जैसा ॥
भयो क्रोध नाहर-वध काजा ।
खैंचन चह्यो तीर तब राजा ॥
नख-छबि कंक-पत्र[4] महं डारी ।
अंगुरिन विशिख-पुंख[5] तहं धारी ॥

---

१ इक्कीस । २ पहाड़ । ३ वृक्ष विशेष ।
४ तीर का फल । ५ बाण का सिरा ।

हरि मारन हित खैंचत बाना ।
रह्यो दच्छिन कर चित्र समाना ॥
लखि अपराधहि सौंहहि ठाढ़ा ।
अवध-नरेस क्रोध अति बाढ़ा ॥
बिबस नाग[1] सम मन्त्र प्रभाऊ ।
बर्यो स्वतेजन कोशल-राऊ ॥
मृगपति सरिस तेज-बल धारी ।
भयो चकित निज दसा बिचारी ॥
मनु-कुलकेतु अचर्ज बढ़ाई ।
बोल्यो हरि नर-बोल बनाई ॥
"बस ! नरेस ! श्रम व्यर्थ तुम्हारा ।
"लगत न मोहिं चलहु हथियारा ॥
"जदपि वायु, तरु-मूल उखारहिं ।
"पै नहिं सकत हिलाइ पहारहिं ॥
"जासु पीठ वृष चढ़त पुरारी ।
"पावन करत चरन नित धारी ॥
"जानु निकुम्भ-मित्र मोहिं चेरा ।
"कुम्भोदर, त्रिभुवनपति केरा ॥
"देवदारु जो लखहु सुजाना ।
"तेहि मानत हर पुत्र समाना ॥
"जो पाछे पय पियो कुमारा ।
"यह सोई पय-रस चाखनहारा ॥

१ साँप ।

"एक वार कनपटी खुजाई ।
"तासु छाल वन-गजन गिराई ॥
"आ गिरजहिं लखि सोक अपारा ।
"असुर-अस्त्र जिमि लगे कुमारा ॥
"तब सन मोहिं बनाइ मृग-राजा ।
"दै आये पशु भोजन काजा ॥
"नित वन-गजन डरावन हेतू ।
"राख्यो गुहा मोहि वृषकेतू ॥
"जानि समय मम क्षुधा निवारन ।
"भेजी नाथ मोहिं यह पारन ॥
"अहो भूप गुरु पद अनुरागी ।
"अब फिर जाहु लाज सब त्यागी ॥
"जो न शस्त्रसन रक्षन योगा ।
"शस्त्रि[1] दोष तहं देहि न लोगा" ॥
सुनि यह भांति गर्व-रस-सानी ।
कोशलपति मृगपति की बानी ॥
ईश-प्रभाव मोघ[2] सर जानी ।
कीन्ह न मन कछु भूप गलानी ॥
सर प्रयोग महं पहिलेहि बारा ।
निज श्रम भूपति व्यर्थ विचारा ॥

---

१ शस्त्रधारी ।   २ व्यर्थ ।

मारत बज्र मनहु सुर-नाथा।
भयो शम्भु-दृग-बस जड़ हाथा॥
बोले "बिबस बचन मृग-राजू।
"सदा हँसत सुनि सन्त समाजू॥
"तऊ तोहिं सर्वज्ञ विचारी।
"कहौं सुनिय हरि विनय हमारी॥
"रचि पालत जो जगहिं संहारत।
"को कहु तासु वचन नर टारत॥
"पै यजमान-पूज्य-गुरु थाती।
'सौंहहिं नसत लखौं केहि भांती॥
"ह्वै कृपाल मम देहहि खाई।
"अब होइय निवृत्त मृग-राई॥
"घर महँ बच्छ मिलन अनुरागी।
"देहु ऋषीस-धेनु यह त्यागी"॥
दसन ज्योति गिरि-खोहन केरा।
पंचानन तव नासि अंधेरा॥
भूतनाथ अनुचर मुसुकाई।
बोल्यो बचन "सुनहु नरराई॥
"भोगहु जगत अकंटक राजू।
"लहे रूप गुण वय सुख साजू॥
"तजत थोर हित बहु निज देहा।
"अहसि मूढ़मति नहिं सन्देहा॥

" जो दयाल तो लखु मन माहीं ।
" बचत गाय जो भूप नसाहीं ॥
" कोटि विघ्न सन धारत प्राना ।
" प्रजा पालिये पिता समाना ॥
" जो इक गाय-नास अपराधा ।
" लखि गुरु-कोप होत मन बाधा ॥
" कुम्भ-सरिस थन को सत गाई ।
" दै तेहिं सकिय नरेस मनाई ॥
" यहि सन मन फल भोगन हेतू ।
" राखिय देह भानु-कुल-केतू ॥
" महि मँह स्वर्ग कहावत सोई ।
" ऋद्धि समेत राज जहं होई" ॥
भयो मौन नाहर अस भाखो ।
सुनत मनहुं सोइ भूधर साखी ॥
करि प्रति-शब्द गुहन अस लागा ।
जनु सोउ कह्यो भूप अनुरागा ॥
सुनि हरि वचन अवधपुर-पालक ।
बोल्यो शत्रु-वृन्द-दल घालक ॥
धेनुहिं सिंह काल बस देखी ।
उपजत नृप मन कृपा बिसेखी ॥
" क्षत्रिय अर्थ सिद्ध जग सोई ।
" क्षत[1] सन सुजन बचावै जोई ॥

---

१ पीड़ा ।

" धिक् सो राज क्षत्रिय गुन हीना ।
" वृथा अजस बस प्रान मलीना ॥
" ह्वैहैं मुनि प्रसन्न केहि भांती ।
" दीन्हेउं सकल धेनु की जाती ॥
" निश्चय लखिय सिंह मन माहीं ।
" कामधेनु सन यह कम नाहीं ॥
" छुइ न सकत यहि हरि, संसारा ।
" हर प्रभाव तुम्ह कीन्ह प्रहारा ॥
" अब मम उचित धर्म्म लखु एही ।
" दै निज देह बचावौं तेही ॥
" तव अहार मुनि कर मख-काजा ।
" रहि हैं दोउ अविघ्न मृगराजा ॥
" तुमहुं मित्र यह लखहु बिचारी ।
" देवदारु यह थाति तुम्हारी ॥
" रक्ष्य[1] नासि बिनु आप नसाने ।
" स्वामि सौंह किमि जांहि सयाने ॥
" बधत मोहि लागति जो दाया ।
" मो जस-देह राखु मृग-राया ॥
" निश्चय नास देह कर जानत ।
" मो सम तनहि तुच्छ कर मानत ॥

१ रक्षा करने योग्य ।

" जन-सम्बन्ध सकल जग माहीं ।
" संवादहिं सन होत लखाहीं ॥
" भयो मिलन सम बन महं सोऊ ।
" हैं यहि हेत मित्र हम दोऊ ॥
" प्रथम विनय मम मृग-पति टारन ।
" उचित न ताहिं मित्र यहि कारन ॥
" जो तुम चहहु" कह्यो सुनि नाहर ।
खुली नरेश बांह तेहिं अवसर ॥
डारि अस्त्र अवधेश महाना ।
हरिहि दीन्ह तन पिंड समाना ॥
झुके सीस तहं सिंह प्रहारा ।
जोहत छन छन भूप उदारा ॥
करि जय जय नभ फूल सुहावा ।
विद्याधर नृप पर बरसावा ॥
" उठिय वत्स" सौरभि की बानी ।
सुनत नरेश अमिय-रस-सानी ॥
उठि निज मातु सरिस तेहि ठामा ।
ठाढ़ी लखी धेनु अभिरामा ॥
कह्यो धेनु तेहिं चकित निहारो ।
" मैं परखी नृप भक्ति तुम्हारी ॥
" जो मोहिं यमहु सकत हनि नाहीं ।
" ताहि जन्तु केहि लेखे माहीं ॥

" मांगिय बर प्रसन्न मोहि जानी ।
" लखि तव भक्ति भूप गुनखानी ॥
" मैं न होहुं साधारन गाई ।
" गनु मोहि काम-धेनु नरराई ॥"
निज बलवीर प्रसिद्ध महीसा ।
दोऊ कर जोर नाय पद सीसा ॥
बोले 'मातु अनुग्रह कीजै ।
" ह्वै प्रसन्न मोहिं यह बर दीजै ॥
" मिलै मागधी सन सुत सोई ।
" चहुं दिसि विदित जासु यश होई ॥"
करि पूरन नरेस अभिलाषा ।
" एवमस्तु" सौरभि तहं भाषा ॥
" दुहि मम दूध पत्र महं राऊ ।
" पय लहु सुत इक अमित-प्रभाऊ ॥
" मख हित दुहि पुनि बच्छ पियाई ।
" शेष दूध ऋषि-आयसु पाई ॥
" चाहहुं करन मातु मैं पाना ।
" रक्षित महि षट भाग समाना ॥"
सुनि यहि भांति अवधपति-बानी ।
मुनिवर-धेनु अतिहि हरखानी ॥
भूधर-राज-गुहा पुनि त्यागी ।
लौटी धेनु भूप संग लागी ॥

अति प्रसन्न गुरु सन नर देवा ।
विकसत बदन कह्यो सब भेवा ॥
लखि पति मुदित सफल अनुमाना ।
बिनहिं कहे रानी सब जाना ॥
धेनु-दूध पुनि विधि अनुरूपा ।
पियो रानि संग कोसल-भूपा ॥
भये प्रभात वसिष्ठ मुनीसा ।
तिनहिं देइ प्रस्थान असीसा ॥
कह्यो "भूप अब अवधहिं जाहू ।
"भोगहु जन्म सुकीरति लाहू[1] ॥"
सुनि यहि भांति देव-मुनि वैना ।
रानी सहित भूप गुन ऐना[2] ॥
धेनु बच्छ संग यज्ञ-कृशानुहि[3] ।
तिय समेत मुनि मन-तन-भानुहि ॥
करि प्रदक्षिणा रानि समेता ।
चले अवध दिशि शील-निकेता ॥
देत बेगहित अनँद अपारा ।
करत मधुर धुनि रथ असवारा ॥
पुत्र-काज व्रत बस कृश अङ्गा ।
चले दिलीप मागधी सङ्गा ॥

---

१ लाभ । २ आधार ।
३ यज्ञ की आग्नि ।

बढ़त उछाह दरस बिनु पाये ।
तेहि उघारि दृग टकी लगाये ॥
पावत प्रजा अनन्द विसेखा ।
तेहि नव चन्द सरिस तब देखा ॥
चहुं दिसि नगर लोग जस गावत ।
रथ ऊपर शुचि ध्वजा उड़ावत ॥
धरे इन्द्र सम तेज विशाला ।
कोशल नगर पैठ महिपाला ॥
निज भुज शेष सरिस बल सारा ।
धरयो बहोरि भूप महिभारा ॥

दोहा ।

तेज अत्रि मुनि-नयन-कर , जिमि लीन्हों आकास ।
लीन्ह देव-सरि गंग ज्यों , शंकर-ज्योति-उजास ॥
लोकपाल·शुचि-तेज-मय , प्रबल तेज गुन खानि ।
नरपति-कुल की वृद्धि हित , धरयो गर्भ तिमि रानि ॥

नीति-रत्न-माला ।

दोहा ।

प्रातहि उठि कै नित्त नित , करिये प्रभु कै ध्यान ।
जाते जग में होय सुख , अरु उपजै सत ज्ञान ॥ १ ॥
जानि सर्वगत[1] ईश कौं, करै न कबहूं पाप ।
सबहि चराचर जगत कौं , देखत है वह आप ॥ २ ॥

---

१ जो सब में रहे ।

दुष्ट भारजा मित्र सठ, उत्तर-दायक दासु।
तासु मृत्यु संसय नहीं, सर्प बास गृह जासु ॥ ३ ॥
विपद हेतु रच्छै धनहिं, धन तैं रच्छै नारि।
रच्छै दारा धनहु तैं, आतम[1] नित्य विचारि ॥ ४ ॥
नहि वृत्ती[2] नहिं बन्धु हैं, नहीं मान जेहि देस।
विद्या हू आगम[3] नहीं, तहां बास नहिं बेस[4] ॥ ५ ॥
भूप नदी वेदज्ञ धनि, पचयें वैद गनाइ।
ये पांचों जहँ होहिं नहिं, बसिय न दिवसहुं जाइ ॥ ६ ॥
आतुरता दुखहूं परें, शत्रु संकटैा पाइ।
राज द्वार समसान मैं, साथ रहै सोइ भाइ ॥ ७ ॥
कन्या बरै कुलीन की, जदपि रूप की हान[5]।
रूपसील नहिं नीच की, कीजै व्याह समान ॥ ८ ॥
सींग और नह के पसुनि, सस्त्र लिये जो होई।
नदी राजकुल अरु तियनि, मत विसवासो कोइ ॥ ९ ॥
नारी इच्छागामिनी, पुत्र होइ बस जाहि।
विभव पाइ संतोष जेहिँ, इहैं स्वर्ग है ताहि ॥ १० ॥
सोइ सुत जो पितु भक्त है, जो पालै पितु सोइ।
मित्र सोइ विश्वास जहँ, तिय सोइ जहँ सुख होइ ॥ ११ ॥
पाछे काम नसावहीं, मुख पर मीठे बैन।
बरजै ऐसे मित्र कों, पय मुख घट विष ऐन ॥ १२ ॥
मन के सोचे काम कों, नाहिन करै प्रकास।
मन्त्र सरिस इच्छा करैः काम बनावै खास ॥ १३ ॥

---

१ अपने को। २ रोज़गार। ३ प्राप्ति। ४ अच्छा। ५ कुरूपा।

ते माता पितु शत्रु सम, सुत न पढ़ावैं जौन।
राज-हंस मधि बक सरिस, सभा न सोभत तौन ॥ १४ ॥
नदी तीर का वृच्छ श्रौ, राजा मन्त्री-हीन।
नष्ट होहिँ पर घर तिया; अवसि शीघ्रहीँ तीन ॥ १५ ॥
खल अरु सर्प इन दुहुन मैं, भलो सर्प खलु नाहिँ।
सर्प डसत है काल मैं, खल-जन पद पद माहिं ॥ १६ ॥
मरजादा सागर तजैं, प्रलय होन के काल।
तऊ साधु छोड़ैं नहीं, सदा श्रापनी चाल ॥ १७ ॥
रूप कोकिलनि स्वर तियनि, पतिव्रत रूप अनूप।
विद्या रूप कुरूप कों, छमा तपस्विन रूप ॥ १८ ॥
नहिं दारिद उद्योग पर, जप तैं पातक नाहिँ।
कलह रहै नहिं मैान में, नहिं भय जागत माहिं ॥ १९ ॥
अति छबि सीता हरन भैा, नसि रावन अति गर्व।
अतिहिं दान तें बलि बन्धे, अति तजिये थल सर्व ॥ २० ॥
तुलसी पती फूलिये, जेते अंग समाइ।
अति का फूलो सैंजनो[1], डार पात सों जाइ ॥ २१ ॥
उत्तम विद्या लीजिये, जदपि नीच पै होइ।
पड़ो अपावन ठैार में, कंचन तजत न कोइ ॥ २२ ॥
दान दरिद्रिहिं दीजिये, मिटै जु वाकी पीर।
औषध वाकों दीजिये, जाके रोग सरीर ॥ २३ ॥
क्यों कीजै ऐसो जतन, जातैं काज न होय।
पर्वत पै खोदे कुआं, कैसे निकसै तोय ॥

---

१ एक प्रकार का वृक्ष।

मति को हू कहिये नहीं, जो नर होय अबोध।
ज्यों नकटे को आरसी, होत दिखायें क्रोध ॥ २५ ॥
करि कुसंग चाहत कुसल, तुलसी यह अपसोस।
महिमा घटी समुद्र की, रावन बसे परोस ॥ २६ ॥
फीकीहू नीकी लगै, कहिये समय बिचारि।
सबको मन हर्षित करै, ज्यों विवाह में गारि ॥ २७ ॥
नीकी हू फीकी लगै, बिन अवसर की बात।
जैसे बरनत युद्ध में, रस सिंगार न सुहात ॥ २८ ॥
जो जाही सों रमि रह्यो, तिहिं ताही सो काम।
जैसे किरवा[1] आक[2] को, कहा करै बसि आम ॥ २९ ॥
दुष्ट न छोड़ै दुष्टता, केतो हू सुख देत।
धोये हू सौ बेर के, काजल होय न सेत ॥ ३० ॥
जाको जैसो उचित है, करिये सोई बिचारि।
गीदड़ कैसे लाइ है, गज-मुक्ता गज मारि ॥ ३१ ॥
कुल बल जैसो होइ सो, तैसी करिहै बात।
बनिक पुत्र जाने कहा, गढ़[3] लेवे की घात ॥ ३२ ॥
अपने अपने समय पर, सबको आदर होय।
भोजन प्यारो भूख में, तिस[4] में प्यारो तोय ॥ ३३ ॥
रूप भयो यौवन भयो, कुलहू में अनुकूल।
विन विद्या के जानिये, गन्धहीन ज्यों फूल ॥ ३४ ॥
महिमा जो विद्वान की, राजा की नहिं होइ।
राजा पुजै स्वदेस में, गुनी पुजै जग जोइ ॥ ३५ ॥

---

१ कीड़ा। २ मदार का पेड़। ३ क़िला। ४ प्यास।

बैर न काहू सें करहु, सबके रहिये मीत ।
जातें मन प्रफुलित रहै, होइ न रिपु की भीत ॥ ३६ ॥
रहै जैान से देस में, तहंके नृप की नीति ।
देख चलै ता चाल पर, यह चतुरन की रीति ॥ ३७ ॥
कबहूं झूठी बात कों, को करिहै पक्षपात ।
झूठे संग झूठे पड़त, फिर पाछे पछितात ॥ ३८ ॥
करत करत अभ्यास के, जड़-मति होत सुजान ।
रसरी आवत जात तें, सिल पर परत निसान ॥ ३९ ॥
होइ भले के सुत बुरो, भलो बुरे कों होइ ।
दीपक तें काजल प्रगट, कमल कीच तें जोइ ॥ ४० ॥
सज्जन को दुखहू दिये, दुरजन पूरैं आस ।
जैसे चन्दन को घिसे, सुन्दर देत सुबार ॥ ४१ ॥
जाहि बड़ाई चाहिये, तजहि न उत्तम साथ ।
ज्यों पलास संग पान के, पहुंचे राजा हाथ ॥ ४२ ॥
एक सुगन्धित वृक्ष सों, सब बन होत सुबास ।
जैसे कुल सोभित अहै, लहि सुपुत्र गुन रास ॥ ४३ ॥
करनहार सन्ताप सुत, जन में कहा अनेक ।
देइ कुलहिं विश्राम जो, श्रेष्ठ होइ वरु एक ॥ ४४ ॥
बिन औसर हू देत फल, काम-धेनु सम नित्त ।
माता सी परदेस मैं, विद्या संचित-वित्त ॥ ४५ ॥
सौ निर्गुनहू सों अधिक, एक पुत्र सुविचार ।
एक चन्द्र तम को हरै, तारा नहीं हजार ॥ ४६ ॥

घर कुगाम सुत मूढ़ तिय, खल नीचनि सेवकाइ।
कुभक्ष सुता बिधवा छवों, तन बिनु अग्नि जराइ॥ ४७॥
कहा होय तेहि धेनु जो, दूध न गाभिन होइ।
कौन अर्थ उहिं सुत भये, पण्डित भक्त न जोइ॥ ४८॥
तप एकहि द्वै सों पठन, गान तीन पथ चारि।
कृषी पांच रन बहुत मिलि, अस कहु सास्त्र बिचारि॥ ४९॥
दुष्ट मन्त्रि सों नृप नसै, कुल कपूत सों जान।
बिन विद्या ब्राह्मण नसै, अधिक खर्च धनवान॥ ५०॥
जब लग भय आवै नहीं, तब लग डरिये मीत।
पै जब भय सिर आपरै, करहु यत्न तजि भीत॥ ५१॥
घर आये अतिथीन कों, करहु यथोचित मान।
निज छाया ज्यों देत द्रुम, सबहीं को हित जान॥ ५२॥
भय सों सुभ कारज तजै, सो जन जानो नीच।
बहु भय सों हूँ नहिं तजे, यह गुन उत्तम बीच॥ ५३॥
परदारा धन हरन रुचि, सबसों द्वेष निकाम।
हित सिक्षा माने नहीं, सोई दुष्ट कुनाम॥ ५४॥
धन की तो गति तीन हैं, दान भोग अरु नास।
दान भोग जो नहिं करै, निश्चय होय बिनास॥ ५५॥
घटत बढ़त सब वस्तु जग, यह निश्चय जिय आनि।
विपति परे पर सुज्ञ जन, मन नहिं करत गलानि॥ ५६॥
मिथ्या बस ह्वै लोग वरु, निन्दा करो अनेक।
न्याय-निपुन नर धीर जे, छाड़त नहिं निज टेक॥ ५७॥

जीव दया परधन घृणा, सत्य यथारुचि दान।
इन्द्रिय जित अरु नम्रता, यह मारग कल्यान ॥ ५८ ॥
महा वृक्ष को सेइयै, फल छाया जुत जेय।
दैव योग जदि फल नहीं, छाया को हरि लेय ॥ ५९ ॥
दूसत सज्जन गुन गनन, दिन दिन दुरजन सूम।
बिना हेतु जिमि अमल[1] नभ, मलिन करत हठि धूम ॥ ६० ॥
तथा न गुन फैलत कबहुं, जथा दोष जग माहिं।
रुजी[2] कलंकी शशि कहत, कहत सुधाकर नाहिं ॥ ६१ ॥
कूप हरत जन की तृषा, हरत न पारावार[3]।
करत दीन उपकार जस, तस न करत बड़वार ॥ ६२ ॥
सदगुन सोहत सकल तन, भये सील अरु धीर ॥
जुबा बैस जिमि आभरन, सोहत दुगुन सरीर ॥ ६३ ॥
सूर सहत सांकर बिपत, सहत न कादर कोइ।
सान धार हीरा सहत, परभ[4] न कंकर कोइ ॥ ६४ ॥
भव संभव दुख हरन कों, समरथ इक जदुराइ।
जिमि जलधर जलधार बिन, दावानल न वुझाई ॥ ६५ ॥

हरिश्चन्द्र*

पहिला सर्ग

सुभ सरजू-तट-बसति अवधपुरि परम सुहावनि।
विदित वेद इतिहास माहिं कलि-कलुष-नसावनि ॥

---

१ निर्मल, स्वच्छ। २ रोगी। ३ समुद्र। ४ पत्थर।
* बाबू जगन्नाथदास, बी० ए०, लिखित।

दिव्य दिनेस-बंस-महिपालनि की रजधानी ।
सब सोभा-सम्पन्न सकल सुख सम्पति सानी ॥
तेहिँ पुरि औ तेहिँ वंस माहिँ अवतंस वीरवर ।
अट्ठाइसवाँ भयो भूप हरिचन्द गुनाकर ॥
रामचन्द सों भयो पूर्व सो पाँतस पीढ़ी ।
निज प्रन पालि सदेह चढ़यो जो सुर पुर-सीढ़ी ॥
परम पुन्य को पुंज प्रौढ़ प्रन प्रखर[1] प्रतापी ।
सत्यव्रती दृढ़ धर्म-धैर्य-मर्यादा थापी ॥
प्रजा-पाल खल-माल काल सम कुटिल कुजन कें ॥
गुन-ग्राहक असि-बाहक दाहक दुअन[2] दलन कें ॥
नृप-कुल कल-किरीट-मनि संज्ञा को अधिकारी ।
नहिँ छत्रिहिं बरु मनुष मात्र को गौरव-कारी ॥
सकल सुखी तेहिं राज माहिं नित रहत धर्म-रत ।
निज निज चारहु वरन चारु आचरन आचरत ॥
कहुं कलेस को लेस देस में रह्यो न ताके ।
घर घर नित नव मंजुल मंगल मोद प्रजा के ॥
ताको कछु इतिहास यहां संछेप बखानैं ।
जैा सादर बुध सुनहिं सफल तैा निज श्रम जानैं ॥
एक दिवस नारद मुनि-वर सुर-सभा पधारे ।
गावत हरि-गुन बिसद बीन कांधे पर धारे ॥
पेखि पुरन्दर मानि मोद पग-परसन कीन्ह्यो ।
शिष्टाचार यथाविध करि दिव्यासन दीन्ह्यो ॥

---

१ तीक्ष्ण, प्रचण्ड । २ शत्रु, दुश्मन ।

पुनि पूछी कुसलात बात बहु भांति चलाई ।
निपट नम्रता-सहित करी कल बिनय बड़ाई ।
"अहो देव-ऋषि-राज आज आगमन तिहारे ।
गृह पवित्र, मन मुदित, भए मम नैन सुखारे ॥
जौ न अकारन करहिं कृपा तुम से उपकारी ।
तौ पावहिं सतसंग कहां हमसे गृहधारी[१]" ॥
सुनि सुरेस को सुघर वचन रचना-चतुराई ।
मृदु मुसकात सुहाति बात बोले ऋषि-राई ॥
"सब देवन के राज अहो तुम इमि कत भाषत ।
तुव संगति सुख बरु सब सुर नर मुनि अभिलाषत ॥
औ हमको तौ रहत सदा इहिं ढारहिं ढरिबो ।
करिबो हरि-गुन-गान मोद मढ़ि विस्व बिचरिबो" ॥
पुनि पूछ्यो सुरराज "आज मुनि आवत कित तैं" ।
लोकोत्तर आल्हाद परत छलक्यो जो चित तैं ॥
सुनि मुनि सहित उछाह चाहि बोले मृदुबानी ।
"अहो सहसदृग[२] साधु बात सांची अनुमानी ।
सांचहि अकथ अनन्द मुदित मन आज हमारो ।
धन्य भूप हरिचन्द धन्य जग जनम तिहारो ॥
धन्य धन्य पितु मात तुमहिं जीवन जिन दीन्ह्यो ।
जेहिं विरिंचि रचि निज प्रपञ्च को प्राच्छित कीन्ह्यो" ॥
सुनि सुरपति अति आतुरता-जुत कह्यो जोरि कर ।
"कौन भूप हरिचन्द कहौ हम सहुं कछु मुनिवर" ॥

---

१ गृहस्थ । २ इन्द्र ।

" सुनहु सुनहु सुरराज" कह्यो नारद उछाह सों ।
" ताकी चरचा करन माहिं चित चलत चाह सों ॥
मृत्युलोक के मुकुट देस भारत जो सोहै ।
ताके उत्तर पच्छिम भाग माहिं मन मोहै ॥
अवधपुरी अति रम्य परम पावनि मंगल मय ।
है तेहि को नरनाह भूप हरिचन्द महासय ॥
ताही के लखि चरित आज मन मुदित हमारो ।
अति अमोघ आनन्द परम लघु हृदय बिचारो ॥
अहह होत ऐसे नर-रत्न जगत में थोरे ।
सरल हृदय निष्कपट भाव अविचल व्रत भोरे " ॥
सुनि मघवा[1] अति ईर्षा सों मनहीं मन खीझ्यो ।
पै निज भाव दुराइ बचन ऐसे पुनि सीझ्यो ॥
" सांचहि जानि परत हरिचन्द उदार चरित अति ।
सम्प्रति ताहिं प्रसंसत सुनियत सबहि धीरमति ॥
पैं कहिये कछु गृह-चरित्र ताके हैं कैसे" ।
बोले मुनि पुनि "होत उचित सज्जन के जैसे ॥
जिनके परम पवित्र चरित्र नाहिं घर माहीं ।
कैसहु होहिं कदापि प्रसंसा जोग सु नाहीं" ॥
करि कछु कूत[2] मनहिं मन पुनि पुरहूत[3] उचार्यो ।
" कहा भूप हरिचन्द स्वर्गहित यह व्रत धार्यो" ॥
बोले मुनि " यह कहत कहा तुम बात अनैसी[4] ।
सब उदार चरितनि को स्वर्ग-कामना कैसी ॥

---

१ इन्द्र । २ अनुमान । ३ इन्द्र । ४ बेढब ।

मरम आत्म-संतोष हेत निज चरित सुधारत ।
कहुं सज्जन स्वर्गासा करि निज जनम बिगारत ॥
करि कर्तव्य सुधारि चरित सन्तुष्ट सुखी जो ।
स्वर्ग-लोक-सुख बरु औरनि करि दान सकत सो ॥
उदाहरण ताको देखौ हम प्रगट लखावैं ।
बैठे स्वर्गहु मैं ताको गुन गुनि सुख पावैं" ॥
सुरपति मन मैं गुन्यो "जदपि सांचहि मुनि भाषत ।
जद्यपि नृप हरिचन्द स्वर्ग-आसा नहिं राखत ॥
निज चरित्र सों ह्वै है तदपि स्वर्ग-अधिकारी ।
तातैं करिबो विघन कछुक अतिसय उपकारी" ॥
कह्यो "जदपि हरिचन्द लखात अमंद चरित अति ।
तदपि परिच्छा की इच्छा कछु होति धीरमति ॥
यातैं कोउ मिस ठानि ब्योंत ऐसो कछु कीजै ।
जासों ताके सत्यहिं परखि सहज मैं लीजै ॥
सानुकूल सुभ समय सबहि सोभा संग राखत ।
पै सुबरन सोइ सांच आंच सहि जो रंग राखत" ॥
सुनि मुनि अति अनखाइ चढ़ाइ भौंह भरि भाख्यो ।
"सुमनराज[1] यह कहा तुच्छ आसय उर राख्यो ॥
अहह जाति तव मत्सरता अजहूं न भुलाई ।
हेर फेर सौ बेर जदपि मुंह की तुम खाई ॥
तुमहिं दीन्ह करतार बड़ोपन तौ इमि कीजै ।
लघु गुरु सबके हित मैं चित सहर्ष नित दीजै ॥

---

१ इन्द्र ।

परहित लखि दहिबो पर अहितहिं हेरि जुड़ैबो।
परम छुद्र मति काज जिन्हें नहि कबहुं लजैबो॥
औ हरिचन्द अमन्दचरित को तौ गुन खांचत[1]।
हृदय भूलि सब भाव एक अनन्द एक रस रांचत॥
जदपि उपद्रवप्रिय सहजहिं नित प्रकृति हमारी।
तउ निश्छल-हिय हेरि चहति नहिं ताहि दुखारी॥
औ चाहेहु कहा सिद्धि कछु सम्भव है ना॥
नारद कहा सारदहु तेहिं मति बदलि सकै ना" ॥
सुनि सुरेस खिसियाइ दियो उत्तर कछु नाहीं।
लाग्यो करन विचार हारि औरै मन माहीं॥
सोच्यो सरत लखात काज इनके न सहारे।
ताही समय महा-मुनि विश्वामित्र पधारे॥
नारद मांगी विदा कियो परनाम पुरन्दर।
यह असीस दै हरि-सुमिरत गवने गुन-सागर॥
"करहि कृपा अब हरि सो हरहि सुभाव तिहारो।
पर-उन्नति लखि वृथा तुम्हें जो दाहनहारो॥"
पूछ्यो विश्वामित्र "विचित्र आज यह बानी।
कहा भयो सुरराज कही कत मुनिवर ज्ञानी" ॥
कह्यो सुरेस बनाइ वचन तब स्वारथ-साधक।
"भयो कछू ऋषिराज काज नहिं रिस-अवराधक[2] ॥
पै तिनको सुभाव तौ विदित सकल जग माहीं।
रुष्ट होन में तिन्हें खोज मिस की कछु नाहीं॥

---

१ विचारते हुए। २ क्रोध उपजाने वाला।

कछु चरचा हरिचन्द अवध-नरपति की आई ।
ताके धर्म धैर्य की अतिसय कीन्ह बड़ाई ॥
टोक उठे हम रोकि न जब अति सों मन भाई ।
होहि परिच्छा तौ कछु परहि जानि धर्म्माई ॥
ताही पर बस बिगरि उठे करि नैन करारे ।
हरिहर-निन्दावचन कछुक हम मनहुं उचारे ॥"
सुनि मुनि कर भ्रूभङ्ग कह्यो "जो मुनि मन मोहैं ।
कहा भूप हरिचन्द माहिं ऐसे गुन सोहैं ॥"
बोल्यो विहंसि विडौजा[1] "हमहूं तौ इहि भाषत ।
मैं मिथ्या-श्लाघी[2] औचित्य विवेक न राखत ॥
तुमसे महानुभावन हू के होते जग में ।
इक सामान्य गृहस्थ भूप को व्रत केहि मग में ॥
करि मन रहैं विचार हारि सुनि अनुचित बानी ॥
सिच्छा हेत परिच्छा की इच्छा उर आनी ॥
यह सुनि विश्वामित्र कह्यो टेढ़ी करि भौंहैं ।
"यामें अनुचित कहा जानि मुनि भये रिसौंहैं ॥
सब संसय परिहरहु परिच्छा हम अब लैहैं ।
निज तपि तेज तचाइ खोलि कलई सब दैहैं ॥
मो आगे जाके तप तोन्यो लोक तपैहैं ।
सो दानी ह्वै कहा कहौ निज सत्य निबैहैं ॥
देखौ वेगहि जौ ताको नहिं तेज नसावों ।
तौ पुनि प्रन करि कहौं न विश्वामित्र कहावों ॥"

---

१ इन्द्र । २ झूठी प्रशंसा करने वाला ।

यों कहि आतुर दै असीस लै विदा पधारे ।
चपल धरत पग धरनि कियो लोचन रतनारे ॥

दूसरा सर्ग

चलि सुरपुर सों विश्वामित्र अवधपुरि आये ।
देखे तहां समाज साज सब सुभग सुहाये ॥
बन उपवन आराम सुखद सब भांति मनोहर ।
लह-लहात ह्वै हरित भरित फल फूलनि तरवर ॥
बापी कूप तड़ाग झील सरवर सरिता सर ।
जीवन-धर सँताप-हर-नर-हीलत-सीतलकर ॥
कियो नैकु विश्राम आनि सरजू-तट बैठे ।
तहं अन्हाइ करि नित्य कृत्य पुरि अन्तर पैठे ॥
धवल-धाम अभिराम-अवलि दोहूं दिसि देखी ।
रचना परम विचित्र चित्र में जाति न लेखी ॥
मध्य देस में सोहित हाट चारु चौपर की ।
दुहुं दिस दिव्य दुकान-पांति बहु भांति सुघर की ॥
अपने अपने काज करत बिन रोके टोके ।
सहित अमंद अनंद चारहू वरन विलोके ॥
घर घर होति वेद-धुन जेहि सुनि पातक भाजैं ।
हरिहर-चरचा सुरस रसिक सब लोग विराजैं ।
जांच्यो सोधि समस्त न कहुं मुखिया कोउ दीस्यो[1] ।
जासों चरचा चली नृपति गुन गाइ असीस्यो ॥

---

१ दिखाई दिया ।

यह करतूति विलोकि मनहिं मन लगे सराहन।
भये तुष्ट सोच्यो बरवस प्रन पर्‌यो निबाहन॥
विविध गुनावन करत राजपौरी पर आए।
लखि रचना निज सृष्टि-सक्ति को गर्व भुलाए॥
रजत-हेम मुकतामय मंजुल भवन विराजत।
बड़े बड़े मनि अच्छर खचित द्वार इमि भ्राजत॥
"टरै चन्द सूरज औ टरहि मेरु गिरि सागर।
टरहि न पै हरिचन्द भूप को सत्य-उजागर"॥
पढ़त प्रतिज्ञा साभिमान ईर्षा पुनि आई।
"भला देखि हैं तौ" मन मैं कहि भौंह चढ़ाई॥
तब लौं दौरि पौरिया भूपहिं यह सुधि दीन्हीं।
"महाराज! इक ऋषिवर कृपा आज इत कीन्ही"
सुनि नृप आपहिं उमगि द्वार अति आतुर धाए।
करि प्रनाम पग परसि सभा मैं सादर ल्याए॥
बैठार्‌यो सनमान सहित बहु विनय उचारी।
आनँद सों तन पुलकि उठ्‌यो नैननि भरि बारी॥
सहज अकृत्रिम भाव भूप के मुनि मन भाए।
श्रद्धा सील सुभाव नम्रता हेरि हिराए॥
पै बानी करि उदासीन निज परिचय दीन्हो।
"सुनहु भूप हम कौन जाहि आदर तुम कीन्हो॥
जाके तप ब्रह्माण्ड तप्यो हरि-आसन डोल्यो।
जो तप-बल छत्री सों ह्वै ब्रह्मर्षि कलोल्यो॥

जिन वसिष्ठ सौ सुतनि क्रोध करि सहज नसायो ।
कठिन ब्रह्म–हत्यहु कों निज तपतेज जरायो ॥
निज तप बल सदेह तव जनकहिं स्वर्ग पठायो ॥
नवल सृष्टि करि ब्रह्मादिक को गर्व गिरायो ॥
कौशिक विश्वामित्र सोई हम तव गृह आए ।
सकल मही के दान लेन को चाव[1] चढ़ाए ॥
जान्यो हमैं तथा आवन को कारन जान्यो ।
कहौ वेग अब जो बिचार उर अन्तर आन्यो ॥"
कह्यो भूप "कत जानि बूझि बूझत मुनि ज्ञानी ।
यामैं सोच विचार कहा जैा तुम यह ठानी ॥
तुम सो पाइ सुपात्र दान दैवे मैं चूकै ।
तौ यह चूक सदैव आनि उर अन्तर हूकै ।
लीजे मानि प्रमोद सकल महि सादर दीन्ही ।"
"स्वस्ति" भाषि मुनि मन मैं बिबिध प्रसंसा कीन्ही ॥
"स्रवन सुन्यो जैसो तासों बढ़ि आंखिनि देख्यो ।
सांचहि नृप हरिचन्द अमन्द चरित मुनि लेख्यो ॥
सद्-गुन-गन-आगार धर्म आधार लसत यह ।
सांचहिं परम उदार भूमि-भर्तार लसत यह ॥
जेहि महि के दस हाथ देत नृप माथ कटावैं ।
रुंडहु ह्वै उठि लरैं रुधिर सों कुण्ड भरावैं ॥
जेहि हित तप करि तचैं पचैं नर स्वारथ घेरे ।
सो सब तृन इव तजी नैकु तेवर नहिं फेरे ॥

---

१ उत्साह ।

अब करि कौन उपाव दाव दै इहिं दिक कीजै । "
पुनि कछु गुनि बोले " अब दान प्रतिष्ठा दीजै ॥ "
कह्यो भूप कर जोरि " होहि इच्छा सो लीजै । "
बोले ऋषि वर " सहस स्वर्न मुद्रा बस दीजै ॥ "
"जो आज्ञा" कहि नृपति वेग मन्त्रिहिं बुलवायो ।
सहस स्वर्न मुद्रा आनन हित हरषि पठायो ॥
यह लखि ऋषि बिकराल लाल लोचन करि बोले ।
भृकुटी जुगल मिलाइ किये नासापुट पोले[1] ॥
" रे मिथ्या धर्मध्वज, मृषा सत्य-अभिमानी ।
धर्म-धीरता प्रन-दृढ़ता तेरो सब जानी ॥
ऐसहि तुच्छ कपट छल सों महिमा विस्तारी ।
भयो सकल जग मैं विख्यात सत्य-व्रत-धारी ॥
दई दान तैं अब समस्त महि भई हमारी ।
राज-कोष को अब तैं मूढ़ कौन अधिकारी ॥
जो बुलाइ मंत्रिहिं ऐसी यह कीन्हि ढिठाई ।
मुद्रा आनन की आयस सानन्द सुनाई ॥
रे मतिमन्द अमन्द कुटिल, रे कपट कलेवर ।
कहा घटत कछु बिना बने ऐसो दानी नर ॥ "
सुनि मुनिवर के परुष बचन कछु भूप सकाये[2] ।
बोले वचन निहोरि जोरि कर विनय-बसाये[3] ॥

---

१ फुलाये हुए। क्रोध के समय नाक कुछ फूल जाती है और भौहैं समीप चली आती हैं । २ डरे । ३ विनय से सुगन्धित किए हुए ।

"छमा छमा ऋषिराज दया-सागर गुन-आगर ।
छमा छमा तप-तेज-तरनि तिहुं-लोक उजागर ॥
सांचहिं अब समुझात बात हम अनुचित कीन्ही ।
मंत्रिहिं जो मुद्रा आनन की आयस दीन्हो ॥
हम अवगुन के कोस किये सब दोस तिहारे ।
तुम गुन–सिन्धु अगाध क्षमहु अपराध हमारे ॥
जेहि तेहि भांति सहस्र स्वर्न मुद्रा सब दैहैं ।
दारा सुअन समेत याहि ऋण हेत बिकैहैं ॥"
पुनि मुनि करि भ्रू बंक सहित आतंक उचारयो ।
"रे रवि–कुल–कलंक ! मति–रंक हमैं निरधारयो ॥
जा हित मांगत छमा न सो छल छाड़त नेकहु ।
निज मुख–पानिप[1] संग सहावत बिसद बिवेकहु ॥
अरे मूढ़मति ! भई सकल बसुधा जब मेरी ।
काके धन तब अधम देह बिकिहै कहु तेरी ॥"
यह सुनि नृपति सभीति सोच करि नीति गुनावन ।
बोले बचन बिनीत बिसद इहिं रीति सुहावन ॥
"करि कुबेर सों जुद्ध आनि धन सुद्ध चुकैहैं" ।
बोले मुनि "तब तो जब अस्त्र तुम्हैं हम दैहैं" ॥
यह सुनि पुनि नरनाह सोच के सिन्धु समाने ।
बहु बिधि सोधि मुखाग्र वचन-मुकता यह आने ॥
"सब सास्त्रन सोँ सिद्ध लोक बाहिर जो कासी ।
निज त्रिसूल पर धारत जाहि संभु अविनासी ॥

---

१ आबरू ।

अघ-ओघनि करि दूर मोच्छ-पद बरबस दैनी ।
कहा कठिन जो होहि हमारेहु ऋण की छैनी[1] ॥
दारा सुअन समेत जाइ हम तहां बिकैहैं ।
एक मास की अवधि दयासागर जो दैहैं ॥"
सुनि भूपति के बचन भये मुनि प्रथम चकित अति ।
लगे प्रसंसा करन मनहिं मन बहुरि यथामति ॥
"धन्य धर्म-दृढ़ता हरिचन्द अमन्द तिहारी ।
सांचहि तुम तिहुँ लोक माहिं नर-गौरव-कारी ॥"
पुनि बानी करि उदासीन यह आज्ञा कीन्ही ।
"एक मास की अवधि तुम्हें करुना करि दीन्ही ॥
पै जो एक मास मैं सब मुद्रा नहिं पैहैं ।
तो तोहिं पुरुषनि संग साप दे नरक पठैहैं ॥"
"जो आज्ञा" कहि नृपति हर्षजुत सीस नवायो ।
मंत्रिहिं अपर समस्त राजकाजिन्ह बुलवायो ॥
सबसों सहित उछाह बिदित बेगहि यह कीन्ह्यो ।
"हम सब राज समाज आज ऋषिराजहिं दीन्ह्यो ॥
अब तुम इनके होहु हृदय सों आज्ञाकारी ।
राज-काज इमि करहु रहै जेहि प्रजा सुखारी ॥
दारा सुअन समेत अबहि कासी हम जैहैं ।
ऋषि-ऋण सों उद्धार हेत बिन सोच बिकैहैं ॥
भयो होहि कोउ कबहुं कूर बरताव जो हम सों ।
सो सब अब बिसराइ देहु निज हिय उत्तम सों ॥"

---

१ लोहे इत्यादि काटने का यन्त्र ।

यह सुनि सब अकुलाइ लगे नृप बदन निहारन ।
"कहत कहा यह आप" सहित स्वरभंग उचारन ॥
बेगहि उठि सिंहासन को प्रनाम नृप कीन्ह्यो ।
रोहितास्व बालकहिं महिषि शैव्यहिं संग लीन्ह्यो ॥
चले राज तजि हरष विषाद न कछु उर आन्यो ।
भूल भाव सब और एक ऋण-भंजन ठान्यो ॥
चले प्रजागन संग लागि दृग बारि बिमोचत ।
मंत्रि आदि सब मौन मलीन बदन जुत सोचत ॥
पुर बाहिर ह्वै भूप सबहिं सब विध समुझायो ।
निज प्रन-पालन को आवश्यक धर्म जतायो ॥
जद्यपि समुझावन सों लह्यो तोष कछु नाहीं ।
पै लौटे लूटे से गुनि आज्ञा मन माहीं ॥
सहत विविध संताप दाप आतप को भारी ।
सुत पत्नी जुत चले कासिका सत-व्रत-धारी ॥

तीसरा सर्ग

पहुंचि कासिका मैं विश्राम नैकु नृप लीन्ह्यो ।
स्नानादिक करि चन्द चूर[1] को बन्दन कीन्ह्यो ॥
पूनि बिकिबे के हेत हाट दिसि चले बिचारत ।
पुर-सोभा धन धाम बिबिध अभिराम निहारत ॥
"अहो संभुपुर की सुखमा कैसी मन मोहै ।
पै निज चित्त उदास भयें सोऊ नहिं सोहै ॥"

१ महादेव ।

दै सब महि मुनिबरहिं नाहिं तेतौ सुख लीन्ह्यो ।
जेतौ दुख अब लहत जानि ऋण अजहुं न दीन्ह्यो ॥
तेहिं अवसर पुनि गाधि-सुअन तहं आनि प्रचार्‍यो ।
किये दृगनि बिकराल व्याल लों वचन उचार्‍यो ॥
"अरे भ्रष्ट-प्रण बोलि मास पूर्‍यो कै नाहीं ।
अब बिलंब किहिं हेत दच्छिना देवे माहीं ॥
अब हम इक छन मात्र तोहि अवसर नहिं दैहैं ।
नैकु न सुनिहैं बात सकल मुद्रा चुकवैहैं ॥
बोलि देत कै नाहिं नतरु[1] अब वेग नसैहै ।
ब्रह्म-दंड अति कठिन साप वस तब सिर पैहै ॥"
करि प्रनाम कर जोरि नृपति बोले मृदु बानी ।
"ह्वै है अवधि आज पूरी मुनिवर विज्ञानी ॥
बिकन हेत हम जात हाट मैं धनिकनि हेरत ।
पहुंचि तहां क्रयकर्तन को तुरतहिं अब टेरत ॥
सुत पत्नी जुत दास होइ तिनसों धन लैहैं ॥
ऋषिवर राखहु छमा नैकु ऋण सकल चुकैहैं ॥
सुनि मुनि मन मैं कह्यो "अजहु मति नैकु न फेरी ।
अरे भूप हरिचन्द धन्य छमता यह तेरी !"
बोले पुनि करि क्रोध "भला रे मृषाभिमानी !
सांझ होतही तब दृढ़ता जैहै सब जानी ॥
सूर्य-अस्त के पूर्व दच्छिना जौ नहिं पैहैं ।
तोहिं धृष्टता को तेरी तौ फल भल दैहैं ॥"

---

१ नहीं तो ।

यों कहि खिरह चढ़ाइ भौंह ऋषिराइ सिधाये।
हरि सुमिरत हरिचन्द हाट अति आतुर आये॥
सिर धरि तृण लागे पुकारि यों सबहिं सुनावन।
"सुनौ सुनौ सब नगर-धनीगन सेठ महाजन!
हम अपने को बेचत सहस स्वर्ण मुद्रा पर।
लेन होहि जेहिं लेहि वेगि सो आनि कृपाकर[1]॥
तब महिषी शैव्या सभंग स्वरकम्पित बानी।
बोली नृपहिं निहोरि जोरि कर सोच सकानी॥
"महाराज! हम होत बिकन नहिं उचित तिहारो।
तातैं प्रथम बेचि हमकों ऋण-भार निवारो॥
जौ एतहु पर चुकै नाहिं सब ऋण ऋषिवर को।
तौ चाहे सो करहु ध्यान धरि उर हरिहर को॥"
यों कहि लगी पुकारि कहन भरि वारि विलोचन।
"कोउ लै मोल हमैं करि कृपा करै दुख मोचन॥
निज जननी दृग वारि हेरि बालक बिलखायो।
ह्वै उदास अंचल गहि आनन लखि मुरझायो॥
बहुरि तोतरे वचन बोलि आरत उपजैया।
बूझ्यो "ऐं ये कहा भयो रोवति क्यों मैया॥"
सुनि बालक की बात अधिक करुना अधिकाई।
दम्पति सके न थांभि आंसु-धारा बहि आई॥
जदपि विपति दुख-अनुभव-रहित रुचिर लरिकाई।
मात पिता की गोद छोड़ नहिं मोद निकाई॥

---

१ दया का समूह।

रोवत तऊ देखि तिनकों लाग्यो सिसु रोवन ।
इनके कबहुं कबहुं उनके आनन रुख जोवन ॥
लखि दम्पति कातर ह्वै लै लगाइ उर लीन्ह्यो ।
फेरि माथ पर हाथ चिबुक को चुम्बन कीन्ह्यो ॥
बहुरि बिकन के हेत लगे ग्राहक कों टेरन ।
आशाकृत चल चखनि चपल चारहुं दिसि फेरन ॥
जित तित चरचा चली विकन इक दासऽरु दासी ।
लखन हेत सब ओरन सों उमड़े पुरवासी ॥
एकत्रित तहं भये आनि बहु लोग लुगाई ।
लागे पूछन मोल कहन निज निज मनभाई ॥
उपाध्याय इक वृद्ध शिष्यजुत सुनि यह धायो ।
करि श्रम भीड़ हटाइ आइ तिन सों नियरायो ॥
लखि तिनकों ह्वै चकित हृदय अन्तर इमि भाख्यो ।
"छत्र मुकुट के जोउ सीस यह क्यों तृण राख्यो ॥
अति प्रलंब आजानु बाहु दृग कानन-चारी ।
उन्नत ललित ललाट विसद वक्षस्थल धारी ॥
को यह जामें लखियत चिन्ह चक्रवर्त्ती के ।
औ तैसेही शुभ सोहत लच्छन इहि ती[1] के ॥
रूपसील गुनखानि सुघर सबही बिध सोहति ।
लाजनि बोलति मन्द नैकु सौंहे[2] नहिं जोहति ॥
सांचहि यह कोउ अति पुनीत कुल को कुलनिधि है ।
जानि परत नहिं बाम भयो ऐसे क्यों विधि है" ॥

---

१ स्त्री । २ सामने ।

यों गुनि मन पसीजि नृप सों बोल्यो मृदुबानी ।
"कहहु महासय कौन आप ऐसी कत ठानी ॥
सब संसय करि दूर हमैं हितचिन्तक जानै ।
होहि उचित तो कछु अपनो वृत्तान्त बखानै ॥
करि प्रनाम अवलोकि अवनि उत्तर नृप दीन्ह्यो ।
"छत्रीकुल मैं जन्म सुनहु द्विजवर हम लीन्ह्यो ॥
इक ब्राह्मण-ऋण काज आज बिकिबे की ठानी ।
इहै मुख्य सब कथा अपर अब वृथा कहानी ॥"
उपाध्याय बोल्यो "हम सों धन लै ऋण दीजै" ।
कह्यो भूप कर जोरि "छमा हम पैं बस कीजै" ॥
यह तो द्विज की वृत्ति कबहुं ऐसो नहिं ह्वैहै ।
जो यह तन धन लै सेंतहि निज भार चुकैहै ॥
पै अपने को बेचि आप सों जो धन पावैं ।
तो ऋषिऋण हम तुरत सहित संतोष चुकावैं ॥
कह्यो विप्र "तो पंच सत स्वर्नखण्ड यह लीजै ।
दोउनि मैं सों एक दासपन स्वीकृत कीजै ॥" ॥
यह सुन शैव्या कह्यो जोरि कर दृग भरि बारी ।
"हमहिं अछत तुम नाथ न होहु दास-व्रत-धारी ॥
बिकन देहु हमहीं पहिलैं सुनि विनय हमारी ।
जामैं ये दृग लखैं न ऐसी दसा तिहारी ॥"
कह्यो थाम्हि हिय भूप "कहा कछु हम अब कहिहैं ।
अच्छा प्रथम जाहु तुमहीं याहू दुख सहिहैं ॥"

उपाध्याय सों कह्यो बहुरि महिषी "हम चलिहैं" ।
पूछो द्विज तब "कैान काज तुम पाहिं निकलिहैं ॥"
"संभाषन पर पुरुष संग उच्छिष्ट ग्रसन तजि ।
करिहैं हम सब काज" कह्यो रानी धर्महिं भजि ॥
कियो विप्र स्वीकार कह्यो "पुत्रीवत रहियो ।
गृह के काम काज की सुधि छमता जुत लहियो" ॥
यह सुनि द्विज सों तुरत स्वर्णमुद्रा लै आई ।
नृप के वसन माहिं बांधत करुना अधिकाई ॥
कह्यो विप्र सों "कीजै छमा नैकु अब द्विजवर ।
लेहिं निरखि भरि नैन नाह को आनन सुन्दर ॥
फिर यह आनन कहां कहां यह नैन अभागी" ।
यों कहि बिलखि निहारि नृपति रुख रोवन लागी ॥
कह्यो विप्र "हम चलत सिष्य के संग तुम आओ ।
निज पति सों मिलि मांगि विदा दुख नैकु न पावो" ॥
यों कहि द्विज कौडिन्यहिं छोड़ गये निज घर कों ।
शैव्या-लगी पाय परि बिनवन नाह सुघर कों ॥
"दरसन हूं दुर्लभ अब तो लखि परत तिहारे ।
छमहु भये जो होहिं नाथ अपराध हमारे ॥"
यह सुनि महाधीर भूपहु को साहस छूट्यो ।
अश्रु-वाह को प्रबल पूर[1] दोहूं दिस फूट्यो ।
पै पुनि करि हिय प्रौढ़ भूप रानिहिं समुझायो ।
बहु विधि करि उपदेस धर्म पथ कठिन दिखायो ॥

---

१ बांध ।

कह्यो "विप्र कौ आयस पैं नित प्रति मन दीज्यो।
जासों रहैं प्रसन्न सदा सोई कृत कीज्यो॥
विप्रानिहुं कों तुष्ट सुखद सेवा सों रखियो।
औ सिष्यन की ओर समुद मातावत लखियो॥
यथाशक्ति बालक हू को प्रतिपालन कीज्यो।
रहे धर्म जासों करि कर्म सोई जस लीज्यो"॥
लखि विलंब अनखाइ "चलौ" कौडिन्य कह्यो तब।
कह्यो भूप दृग बारि ढारि "हां देवि जाहु अब"॥
चलत देखि दुख कृत विकृत मुख बालक खोल्यो।
"कहां जाति, जनि जाइ माइ" अंचल गहि बोल्यो॥
पुनि विलंब जिय जानि क्रूर कौडिन्य रिसायो।
कह्यो "वेगि चलि" झटकि बालकहिं भूमि गिरायो॥
रोवन लाग्यो फूटि झपटि हरिचन्द उठायो।
धूरि पोंछि मुख चूमि लाइ हिय मौन गहायो॥
कहयो विप्र सों "सुनो देवता यह अबोध है।
बालक पै नहिं कबहुं उचित कहुं इतो क्रोध है"॥
पुनि बालक कों बोधि कहयो "माता संग जायो"।
कहयो महारानी सों "अब जन देर लगाओ॥"
चली बटुक के संग उछंग लिये बालक कों।
फिरि फिरि करुणा सहित बिलोकत नरपालक कों॥
इहि विधि ओझल[1] भई दृगनि सों उत महारानी।
इत आये दृग लाल किये कौशिक मुनि मानी॥

---

१ आड़।

सहित अमोघ अतंक बंक भृकुटी करि भाख्यो ।
"अब विलंब केहि हेत दच्छिना मैं करि राख्यो ॥
सांझ होन मैं देर दिखाति नैकहुं नाहीं ।
देत क्यों न अब मूढ़ कहा सोचत मन माहीं" ॥
परसि चरन नरनाह कहयो "आधी यह लीजै ।
सेसहु बेगहि देत छमा करुणा करि कीजै" ॥
बोले ऋषि करि क्रोध "कहा आधी लै करिहैं ।
एकहि बेर बिना लीन्हे सब अब नहि टरिहैं ॥
हम व्यवहारी नाहिं लेहिं जो खण्ड खण्ड करि ।
सुनि मुनि की यह बात गई धुनि यह नभ मैं भरि ॥
"धिक सब तप, व्रत, ज्ञान तथा धिक बहु श्रुतिताई ।
जो हरिचन्द भुआलहिं यह दुर्दसा दिखाई" ॥
सुनि यह धुनि मुनि मानि माख मुख नभि दिसि कीन्हयो ॥
विश्वे देवन्हि निरखि साप अति रिस भरि दीन्हयो ॥
"रे छत्रीकुलपच्छ सदा उर रच्छन हारे ! ।
अन्तरिच्छ सों बेगहिं गिरौ समच्छ हमारे ॥
छत्रिहिं कुल मैं होहिं जन्म पुनि जाइ तिहारे ।
बालपनहिं मैं जाहु बहुरि दुज हाथनि मारे" ॥
जल छाड़त इमि भाषि भयो कोलाहल भारी ।
लगे गगन सों गिरन सकल ह्वै परम दुखारी ॥
यह लखि भूप सराहि तपोबल मन मैं भाख्यो ।
"सांचहि मुनि अति दया भाव हम पर यह राख्यो ॥

जो नहिं अबलों दियो साप करि दाप हृदय मैं" ।
पुनि बोले कर जोरि बचन बर बोरि विनय मैं ॥
"दासी करि महिषीहिं दिरम आधे ही पाए ।
यह लीजै तन बेचि देत अब सेस चुकाए" ॥
यों कहि गांठि निवारि डारि धन महि पर दीन्ह्यो ।
तिरस्कार ताको करि मुनि यह उत्तर दीन्ह्यो ॥
"हम आधो नहिं चहत एक बेरहि सब लैहैं ।
राखहु दृढ़ यह जानि और अवसर नहिं दैहैं" ॥
लागे भूप ससंक बहुरि ग्राहक-गन टेरन ।
लगी भीर पुनि आइ चारहू दिसि ते हेरन ॥
डोम चौधरी मरघट को तेहि अवसर आयो ।
इक सेवक के संग सुरा के रंग रंगायो ॥
कारो तन बिकराल बदन लघु दृग मतवारे ।
लाल भाल पैं तिलक केस छोटे घुघुरारे ॥
अकबक बोलत बैन कह्यो "हम तुम्हैं बिसैहैं[1] ।
तुम जो माँगत मोल पांच सौ मोहर दैहैं ॥"
यह सुनि नृप हरिषाइ कह्यो "आओ इत आओ ।"
लखि सकाइ पूछ्यो "पै को तुम प्रथम बताओ ॥"
सो बोल्यो "हम डोम चौधरी मरघटवारे ।
अमल हमारो रहत नदी के दुहू किनारे ॥
फूलमती को पूजन करत कलेस नसावन ।
बिना लिये कर कफन देत नहिं मृतक जरावन ॥

---

१ मोल लेंगे ।

धन-तेरस को सांझ और अधिरात दिवाली ।
नाचि कूदि बल दै पूजैं मसान औ काली ॥
सोई हम यह सुनौ मोल तुमको अब लैहैं ।
तुरत गांठ सों खोलि पांच सौ मोहर दैहैं ॥
यह सुनि अति दुख पाइ नाइ सिर भूप विचारयो ।
"तब नहिं तौ अब सबहि भांति बिधि ब्योंत बिगारयो ॥
बिकें होत चण्डाल बिकें बिन ऋण न चुकत है ।
कीजै कौन उपाइ होइ नहिं धीर रुकत है ॥
औ अब सांझहु होन माहिं कछु औसर नाहीं ।
अरे कहूं ह्वै जाइ न दिन इन झगड़नि माहीं ॥"
पुनि ह्वै बिकल कह्यो ऋषि सों "करुणा अब कीजै ।
इहिं अवसर गहि बाहिं उबारि हमैं जस लीजै ॥
करि निज दास जन्म भर सब सेवा करवाओ ।
हा हा पै चंडाल होन सों हमैं बचाओ ॥"
"कौन काज करि है" बोले मुनि "दास हमारो ।
हम तपस्वि निज दास आपही तुमहिं विचारो ॥"
कह्यो भूप पुनि "नैकु दया उर अन्तर आनो ।
करिहैं सो सब जो आज्ञा ह्वै है मुनि मानौ ॥"
"सुनौ धर्म साखो सब" मुनि यह सुनत पुकारयो ।
"मम आज्ञा पालन को प्रन देखौ यह धारयो ॥
कह्यो भूप "हां हां ह्वै हैं आज्ञा सो करिहैं ।
सब संसय परिहरहु प्रतिज्ञा सों नहिं टरिहैं ॥"

बोले मुनि "तौ होति इहै आज्ञा न बकावो ।
बिकि याही के हाथ दच्छिना अबहिं चुकावो ॥
सुनि यह अधर दबाइ नाइ सिर मौन भये छन ।
फिर बोले "अच्छा याही के कर बेचत तन ॥"
बहुरि डोम सों कह्यो " सुनहु पहिलहिं हम भाषत ।
बिकत रावरे हाथ नियम पर ये करि राखत ॥
रखि हैं भिच्छा असन बसन हित कम्बल लैहैं ।
बसिहैं बिलग बेग करि हैं आयसु जो पैहैं ॥ ॥
सो सुनि नृप के बचन नियम सब स्वीकृत कीन्हे ।
पँच सत स्वर्ण खण्ड सेवक सों लै गिनि दीन्हे ॥
भूपति अति सुख मानि धरे लै मुनिवर आगे ।
मुनि उठाइ कहि 'स्वस्ति' चहूं दिसि बांटन लागे ॥
कह्यो भूप "ऋषिराज सकल अपराध छमौ अब ।
जो बिलंब सों भयो कष्ट बिसराइ देहु सब ॥
"तजहु संक हम भए तुष्ट लखि चरित तिहारे ।"
यों कहि नैन नवाइ बेग ऋषिराइ सिधारे ॥
बोले नृप भरि सांस आंस तब पोंछि बसन सों ।
" आयसु होहि सु करहिं चौधरी अब तन मन सों ॥"
कह्यो चौधरी "तुम दक्खिन मसान पर जाओ ।
तहां कफन के दान लेन मैं नित चित लाओ ॥
बिना दिये कर मृतक फुकन कबहूं नहिं पावै ।
धनी रंक राजा परजा कैसहु कोउ आवै ॥

घाट निवास सचेत करो ह्वै दास हमारे ।"
यह आयस सुनि भूप तुरत तेहि दिसि पग धारे ॥
लगे कफन कर लेन जाइ तहं इत महिदानी ।
उपाध्याय घर जाइ भई दासी उत रानी ॥
इहिं विधि दारा संग बेचि निज अंग दास ह्वै ।
राख्यो नृप निज रंग इन्द्र भो दंग जाहि ज्वै ॥

चौथा सर्ग

कीन्हे कम्बल बसन तथा लीन्हे लाठी कर ।
सत्यव्रती हरिचन्द हुते टहरत मरघट पर ॥
कहत पुकारि पुकारि "बिना कर कफन चुकायें ।
करहि क्रिया जनि कोइ देत हम सबहिं जतायें ॥"
कहुं सुलगति कोउ चिता कहूं कोउ जाति बुझाई ।
एक लगाई जाति एक की राख बहाई ॥
बिबिध रंग की उठति ज्वाल दुर्गन्धनि महकति ।
कहुं चरबी सो चटचटाति कहुं दहदह दहकति ॥
कहुं फूकन-हित धरयो मृतक तुरतहि तहं आयो ।
परयो अंग अध जरयो कहूं कोऊ करखायो[1] ॥
कहूं स्वान इक अस्थि खंड लै चाटि चिचोरत ।
कहुं कारौ महि काक ठोर सों ठोकि टटोरत ॥
कहुं श्रृगाल को मृतक अंग पर ताक लगावत ।
कहुं कोउ शव पर बैठि गिद्ध चट चोंच चलावत ॥

---

१ झुलसकर काला हो गया ।

जहं तहं मज्जा मांस रुधिर लखि परत बगारे।
जित तित छटके हाड़ स्वेत कहुं कहुं रतनारे॥
हरहरात इक दिस पीपल को पेड़ पुरातन।
लटकत जामें घंट घने माटी के बासन॥
वर्षा ऋतु के काज औरहू लगत भयानक।
सरिता बहति सवेग करारे गिरत अचानक॥
ररत कहूं मंडूक कहूं झिल्ली झनकारैं।
काक मंडली कहूं अमंगल मंत्र उचारैं॥
लखत भूप यह साज मनहिं मन करत गुनावन।
पर्‌यो हाय! आजन्म कर्म यह करन अपावन॥
"भए डोम के दास बास ऐसे थल पायो।
कफन खसोटी काज माहिं दिन जात बितायो॥
कौन कौन सी बातनि पैं दृग-बारि बिमोचैं।
अपनी दसा लखैं कै दुख रानी को सोचैं॥
कै अजान बालक को अब संताप बिचारैं।
भयो कहा यह हाय होत मन हृदय बिदारैं॥
पै याहू करि सकत नाहिं अब हे त्रिपुरारी।
भये और के दास कहां निज तन अधिकारी॥
इहिं विध विविध विचार करत चारहु दिस टहरत।
कबहुं चलत कहुं चपल कबहुं काहू थल ठहरत॥
लखि मसान देवी को थल तहं सीस नवायो।
अति प्रसन्नता सहित शब्द यह तित तैं आयो॥

"महाराज हम पूज्य सदा चण्डालनि ही को।
तव प्रनाम सों होति सुनहु लज्जित परि फीको॥
भई तुष्ट अति पै बिलोकि सदचरित तिहारे।
मांगहु जो वर देहि तुरत यह हृदय हमारे॥
बोले नृप "सांचहि प्रसन्न तो यह वर दीजै।
सब विध सों कल्यान हमारे प्रभु को कीजै॥"
बहुरि भई धुनि "धन्य धर्म यह को पहिचानै।
साधु साधु हरिचन्द कौन तुम बिन इमि ठानै॥"
भई आनि तब सांझ घटा आई घिरि कारी।
सनै सनै सब ओर लगी बाढ़न अंधियारी॥
भये एकट्टा आनि तहां डाकिन पिसाचगन।
कूदत करत कलोल किलकि दौड़त तोड़त तन॥
आकृत अति बिकराल धरे कौला से कारे।
बक्र बदन लघु लाल नयन जुत जीभ निकारे॥
कोऊ कड़ाकड़ हाड़ चाबि नाचत दै ताली।
कोऊ पीवत रुधिर खोपरी की करि प्याली॥
कोउ अंतड़ी की पहिरि माल इतराइ दिखावत।
कोउ चरबी लै चोप सहित निज अंगनि लावत॥
कोउ मुण्डनि लै मानि मोद कन्दुक लों डारत।
कोउ रुंडनि पै बैठि करे जो फार निकारत॥
ऐसे अवसर कठिन सबहि विध धीर नसावन।
नृप-दृढ़ता के कसन हेत हरि कीन्ह गुनावन॥

करि कापालिक[1] वेष धर्म तब तेहि ठां आयो ।
वसन गेरुआ अंग नसे के रंग समायो ॥
छूटे लांबे केस नैन राजत रतनारे ।
सिर सेंदुर को तिलक भस्म सब तन में धारे ॥
एक हाथ खप्पर चिमटा दूजे कर भ्राजत ।
गरे हाड़ के हार सहित तरिवार बिराजत ॥
लखि नृप कियो प्रनाम भए ठाढ़े सिरनाये ।
कह्यो कपालिक "हम तुम पै अर्थी ह्वै आये ॥"
यह सुनि नृप सकुचाइ नैन नीचे करि भाष्यो ।
"जोगिराज हमकों बिधि काहू जोग न राख्यो ॥"
सो बोल्यो "हम जोग दृष्टि सों सब कछु जानत ।
करहु न नृप संकोच सोचि कछु यह उर ठानत ॥
जदपि भई वह दसा तदपि हम कहत पुकारे ।
महाराज सब काज आज करि सकत हमारे ॥"
कह्यो भूप "ताै नैकहु नहिं संसय उर आनाै ।
होहि हमारे जोग काज सो बेगि बखानो ॥"
कह्यो जोगि "बैताल, जोगिनी, बज्र, रसायन ।
बहुरि पादुका, धातु भेद" गुटिका अाै आंजन[2] ॥

---

१ अघोरी । २ "अंजन सिद्धि से ज़मीन में गड़े ख़ज़ाने देख पड़ते हैं । गुटिका मुंह में रखकर वा पादुका पहिन कर चाहे जहां अलक्ष्य चला जाय । धातु भेद से औषध मात्र सिद्ध होती हैं; बैताल वस में होकर यथेच्छ काम देता है । वज्र सिद्ध होने से जहां गिराओ वहां गिरता है । रसायन सिद्ध होने से चांदी सोना बनता है । योगिनी सिद्ध होने से भूत भविष्य का वृत्तान्त कह देती है और सब इच्छा पूर्ण करती है । यही आठों सिद्धि हैं ।" (सत्य हरिश्चन्द्र की टिप्पणी)

सब के सिद्धि विधान भली भांतिनि हम जानत ।
विघ्न उपस्थित होत आनि पै नैकु न मानत ॥
तिन्हैं निवारौ तुम तौ सिद्धि बेग हम पावैं ।
निकट सिद्धि आकर ह्यां सों तहं जाइ जगावैं" ॥
लहि उत्तर अनुकूल गयो उत सुख सों साधक ।
इत नृप विघ्ननि रोकि होन दीन्ह्यो नहिं बाधक ॥
पुनि कछु समय बिताइ तहां जोगी सो आयो ।
अति आनंद सों उमगि भूप कों टेरि सुनायो ।
"महाराज तव कृपा आज हम सब कछु पायो ॥
देखौ महानिधान[1] सिद्ध यह भयो सुहायो ॥
जोगी जन जाके प्रभाव ह्वै अमर अमर लों ।
बिहरहिं निपट निसंक जाइ गिरि मेरु सिखर लों ॥
लीजै आपहु ह्वै प्रसन्न हम सादर लाए" ।
कह्यो भूप "बस छमा करहु हम दास पराए ॥
बिन स्वामी के कहें कछू काहे सों लैबो ।
जानि परत हमकों जैसे करि कपट कमैबो" ॥
कह्यो कपालिक "तो न वृथा एतो दुख पाओ ।
यासों स्वर्ण बनाइ जाइ निज दास्य छुड़ाओ" ॥
सत्यव्रती हरिचन्द बहुरि यह उत्तर दीन्ह्यों ।
"जोगिराज निज मत प्रकास प्रथमहिं हम कीन्ह्यो ॥

---

१ "महानिधान, बुभुक्षित पारा जिसे बावन तोला पाव रत्ती कहते हैं"—(सत्य हरिश्चन्द्र की टिप्पणी)

होइ चुके जब दास गुनत तब यह मन नीको।
जो कछु हमको मिलै सबहि धन है स्वामी को॥
यातें करि अब कृपा मानि बिनती यह लीजै।
जो कछु दैबो होइ जाइ स्वामिहिं को दीजै"॥
यह सुनि अजगुत[1] मानि मनहिं मन धर्म सराह्यो।
"अहो भूप हरिचन्द इहां लों सत्य निबाह्यो॥"
बहुरि बिदा लै दै असीस यह भासि सिधार्‌यो।
"अच्छा सोई करत जाइ जो तुम उच्चार्‌यो"॥
पुनि आए तेहिं ठाम अनेक देव देवी तब।
आठहु सिद्धि नवो निधि द्वादसहू प्रयोग[2] सब॥
लगे कहन "जय होइ भूप हरिचन्द तिहारी।
तुम करि कृपा समस्त विघ्न बाधा निरवारी॥
अब जो आज्ञा होइ करहिं हैं सुबस तिहारे।"
यह सुनि गुनि मन मांहिं नृपति इमि वचन उचारे॥
"कृपा भाव यह आहिं सुनहु सब भांति तिहारे।
पराधीन हम पै यातें यह कहत पुकारे॥
जो प्रसन्न तो महासिद्ध जोगिन पहं जाओ।
औ सज्जन के सदन सदा निधि बास बनाओ॥

---

१ आश्चर्य। २ "अष्ट सिद्धि यथा-अणिमा, महिमा, लघिमा, गरिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, और वशित्व। नव निधि यथा-पद्म, महापद्म, शंख, खर्व, मकर, कच्छप, मुकुन्द, नील और नन्द। बारह प्रयोग यथा—मारण, मोहन, उच्चाटन, कीलन, विद्वेषण और कामनाशन यह छः बुरे और स्तंभन, वशीकरण, आकर्षण, वन्दीमोचन, कामपूरण और वाक्प्रसारण ये छः अच्छे"—(सत्य हरिश्चन्द की टिप्पणी)

औ प्रयोग साधकनि प्राप्त ह्वै मोद बढ़ाओ ।
पै भाषत यह भेद ताहि गुनि हृदय बसाओ ॥
जो षट भले प्रयोग सहज में होहिं सिद्ध सो ।
सधहिं बिलँब सों पै प्रयोग षट आहिं बुरै जो ॥"
यह सुनि भैाचक ह्वै समस्त यह उत्तर दीन्ह्यो ।
"धन्य भूप हरिचन्द लोक-उत्तर कृत कीन्ह्यो ॥
तुम बिन को महि जो ऐसी सम्पति लहि त्यागे ।
आपुन पैा बिसराइ जगत के हित में पागे ॥"
यों कहि दै असीस सब देवो देव सिधारे ॥
पुनि नृप टहरन लगे लट्ठ कांधे पर धारे ॥
गई राति रहि सेस रंचिक[1] पैा फाटन लागी ।
नृप के अन्तिम परखन की पारी तब जागी ॥
टहरत टहरत अंग बाम लागे कछु फरकन ।
औ ताही के संग अनायासहि हिय धरकन ॥
लगे चित्त मैं अनुभव होन असुभ संघाती ।
भई वृत्त उचाट भभरि आई भरि छाती ॥
एकाएक अनेक कल्पना उठी भयानक ।
कियो गुनावन भूप "भयो यह कहा अचानक ॥
यह असकुन क्यों होत कहा अब अनरथ ह्वै है ।
गयो कहा रहि शेष जाहि बिधना अब ग्वै है ॥
छूट्यो राज समाज भए पुनि दास पराए ।
ऐसी महिषीहू को उत दासी करि आए ॥

---

१ थोड़ी सी ।

औ प्रबोध बालकहुं को बिलकत सँग भेज्यो।
इक मरिबे को छोड़ि कहा जो नाहिं अँगेज्यो[1] ॥"
फरकी बाईं आंख बहुरि सोचत बालक कों।
औ यह धुनि सुनि परी परम दृढ़-व्रत-पालक कों॥
"सावधान अब बत्स परिच्छा अन्तिम है यह।
डगन न पावै सत्य हरिच्छा अन्तिम है यह॥
ऐसा कठिन कलेस सह्यो कोऊ नृप नाहीं।
सपनेहिं कैसे धैर्य धरै याहू दुख माहीं॥
तब पुरुषा इक्ष्वाकु आदि सब नभ मैं ठाढ़े।
सजल नयन धरकत हिय जुत इहिं अवसर गाढ़े॥
संसय संका सोक सोच संकोच समाये।
सांस रोकि तव मुख निरखत बिन पलक गिराये॥
देखहु तिनके सीस होन अवनत नहिं पावैं।
ऐसी विध आचरहु सकल जग जन जस गावैं॥"
यह सुनि नृप ह्वै चकित चपल चारहु दिसि हेरयो।
"ऐसे कुसमय माहिं कौन हित सों इमि टेरयो॥"
जब कोउ दीस्यो नाहिं हृदय तब यह निरधारयो।
"ज्ञात होत कुलगुरु सूरज यह मंत्र उचारयो॥
ह्वै आतुर निज आवन मैं करि बिलँब गुनावन।
उदयाचल की ओटहि सों यह दीन्ह सिखावन॥"
यह विचारि पुनि धारि धीर दृढ़ उत्तर दीन्ह्यो।
"महानुभाव महान अनुग्रह हम पर कीन्ह्यो॥

[1] सहन किया।

तजहु सङ्ग सब अङ्ग कलङ्क लगन नहिं दैहैं ।
जब लौं घट में प्रान आन करि सत्य निबैहैं ॥"
एतेहि मैं श्रुति माहिं शब्द रोवन को आयो ।
भूलि भाव सब और स्वामि-हित पर चित लायो ॥
लट्ठ ठोंक तिहिं ओर चले आतुर-आहट पर ।
सान्ति मुनिनि की वारि गई तिहिं घबराहट पर ॥
पग उठावतहि भये असुभ सुभ सकुन एक संग ।
जम्बुक काटी बाट लगे फरकन दहिने अङ्ग ॥
विगत विषाद हर्षहत हिय करि धैर्य भाव भरि ।
होत हुतो जहं रुदन तहां पहुंचे सुमिरत हरि ॥
देखी सहित विलाप विकल रोवति इक नारी ।
धरें सामुहें मृतक देहि इक लघु आकारी ॥
कहति पुकारि पुकारि "वत्स ? मैया मुख हेरौ ।
वीरपुत्र ह्वै ऐसे कुसमय आंख न फेरौ ॥
हाय हमारौ लाल लियो इमि लूटि विधाता ।
अब काको मुख जोहि मोंहि जीवै यह माता ॥
पति त्यागे हू रहे प्रान तव छोह सहारै ।
सो तुमहूं अब हाय विपति मैं छाड़ि सिधारै ॥
अबहिं सांझलों तौ तुम रहे भली विध खेलत ।
चौंचकहीं मुरझाइ परे मम भुज मुख मेलत ॥
हाय न बोलै बहुरि इतोहो उत्तर दीन्ह्यो ।
'फूल लेत गुरु हेत सांप हमको डस लीन्ह्यो ॥'

गयो कहां सो सांप ग्रानि क्यों मोहुं डसत ना ।
ग्ररे प्रान किहिं ग्रास रह्यो ग्रब बेग नसत ना ॥
कबहुं भागवस प्राननाथ जैा दरसन दैहैं ।
तैा तिनको हम बदन कहैा किहि भांति दिखैहैं ॥
उन तैा सैांप्यो हमैं दसा हम यह करि दीन्हो ।
हाय हाय क्यों सुमन चुनन की ग्रायसु दीन्ही ॥
ग्रहो नाथ ग्रब तैा ग्रावो इत नैकु कृपा करि ।
लेहु निरखि निज हृदय-खण्ड को वदन नैन भरि ॥
प्रानदण्ड दै हमैं कष्ट सब वेगि निवारौ ।
सुनत क्यों न इहिं बेर फेर निज न्याव सम्हारैा ॥
हाय बत्स छिन सुनि पुकारि मैया की जागत ।
ग्ररे मरे हूं पै तुम तैा ग्रति सुन्दर लागत ॥ ”
करि विलाप इहिं भांति उठाइ मृतक उर लायो ।
चूमि कपोल विलोकि वदन निज गोद लिटायो ॥
हिय-बेधक यह दृस्य देखि नृप ग्रति दुख पायो ।
सके न सहि बिलगाइ नैकु हटि सीस नवायो ॥
लगे कहन मन माहिं “ हाय याको दुख देखत ।
हम ग्रपनोहूं दुसह दुःख न्यूनहिं करि लेखत ॥
ज्ञात होत काहू कारण याकौ पति छूट्यो ।
पुत्र-शोक को वज्र हृदय ताहू पर टूट्यो ॥
हाय हाय याको दुख देखत फाटति छाती ।
दियो कहा दुख ग्ररे याहि बिधना दुर्घाती ॥

हाय हमैं अब याहू सों मांगन कर परिहै ।
पै याके सौहैं कैसे यह बात निकरिहै ॥ "
पुनि भूपति को ध्यान गयो ताके रोदन पर ।
बिलकि बिलकि इमि भाषि सीस धुनि मुख जोवन पर ॥
"पुत्र ! तोहिं लखि भाषत हे सब गुनि औ पण्डित ।
ह्वैहै यह महराज भोगिहै आयु अखण्डित ॥
तिनके सो सब वाक्य हाय प्रतिकूल लखाये ।
पूजा पाठ दान जप तप सब वृथा जनाये ॥
तव पितु को दृढ़ सत्यव्रतहू कछु काम न आयो ।
बालपनेहिं मैं मरे यथाविध कफन न पायो ॥"
यह सुनि औरै भये भाव सब भूप-हृदय के ।
लगे दृगनि मैं फिरन रूप संसय अरु भय के ॥
चढ़ी ध्यान पै आनि पूर्व घटना सम ह्वै ह्वै ।
हिचकिचान से लगे कछुक शव को दिसि ज्वै ज्वै ॥
एतहिं मैं रोवत रोवत सो बिलकि पुकारी ।
"हाय आज पूरी कौशिक सब आस तिहारी" ॥
यह सुनि एकाएक भई धक सों नृप छाती ।
भरी भराई सुरङ्ग माहिं लागी जनु बाती ॥
धीरज उड्यो धधाइ धूम दुख को घन छायो ।
भयो महा अन्धेर न हित अनहित दरसायो ॥
बिबिध गुनावन महा मर्म-बेधक जिय जागे ।
"हाय पुत्र ! हा रोहितास्व !" कहि रोवन लागे ॥

"हाय भयो हो कहा हमैं यह जात न जान्यो ।
जो पत्नी अरु पुत्रहिं अबलों नाहि पिछान्यो ॥
हाय पुत्र तुम कहा जनमि जग मैं सुख पायो ।
कीन्ह्यो कहा बिलास कहा खेल्यो अरु खायो ॥
हाय ! हमारे काज कष्ट भोग्यो तुम भारी ।
राजकुंवर ह्वै हाय भूख औ प्यास सहारी ॥
पातकही ह्वै गये आजलों जो हम कीन्ह्यो ।
नतरु पुत्र को शोक दुसह अति क्यों विधि दीन्ह्यो ॥
कहिहै सब संसार हमैं अब हाय पातकी ।
सहिहैं कैसे हाय चोट पर चोट बात की ॥
हाय ! पुत्र यह कहा गई ह्वै दसा तिहारी ।
गये कहां तजि माता पितहिं ससोक दुखारी ॥
हम तो सांचहिं किये सबहि अपराध तिहारे ।
पै दुखिनी मैया कों क्यों तजि वृथा सिधारे ॥
हाय, हाय, जग मैं कैसे अब बदन दिखैहैं ।
कहा महारानी के सौहें बात बनैहैं ॥
जग कों यह वृत्तान्त जनावन के पहिलेहीं ।
महिषी कों यह वदन दिखावन के पहिलेहीं ॥
जानि परत अति उचित प्रान तजि दैन हमारो ।
जामैं सब संसार माहिं मुख होहि न कारौ ॥
यह विचार दृढ़ करि पीपल के पास पधारे ।
लीन्ही डोरी खोलि ह्वैक घंटनि करि न्यारे ॥

मेलि तिन्है पुनि एक छोर पर फांद बनायो ।
चढ़ि इक साखा बांधि छोर दूजै लटकायो ॥
पै ज्यों हीं गल माहिं फांद दै कूदन चाह्यो ।
त्यों हीं सत्य बिचार बहुरि उरमाहिं उमाह्यो ॥
"हरे ! हरे ! यह कहा बात हम अनुचित ठानी !
कहा हमैं अधिकार भई जब देह बिगानी ॥
जो हम तजिबो प्रान होइ मति-अन्ध बिचार्‍यो ।
हाय जाइ कैसे यह मनसा पाप निवार्‍यो ॥
दुख सों गई हाय ऐसी ह्वै मति मतवारी ।
अन्तरजामी नाथ छमहु यह चूक हमारी ॥
अब तो हम हैं दास डोम के आज्ञाकारी ।
रोहितास्व नहिं पुत्र न शैव्या नारि हमारी ॥
चलैं स्वामि के काज माहिं दृढ़ ह्वै चित लावैं ।
लेहिं कफन को दान बेगि नहिं बिलँब लगावैं ॥"
यह निरधारि निवारि फांद हिय प्रौढ़ महा करि ।
उतरि आइ रानी पाछें ठमके उर कर धरि ॥
सुन्यो बहुर ताको बिलाप अति बिकल करैया ।
"हाय वत्स ! अब उठौ हमैं टेरो कहि मैया ॥
हाय हाय काके हित अब हम असन बनैहैं ।
काको मुख की धूरि पोंछि के अङ्क लगैहैं ॥
अब काके अभिमान बिपतिहूं मैं सुख मानैं ।
दासी हूं ह्वै रानिन सों निज कों बढ़ि जानैं ॥

हाय वत्स ! तुम बिन अब जग जीवति नहिं रैहैं ।
याही छन इहि ठाम प्रान काहू विध दैहैं ॥
याहि बिटप मैं लाइ गरे फांसी मरि जैहैं ।
कै पाथर उर धारि धार मैं धाइ समैहैं ॥"
यों कहि उठि अकुलाइ चह्यो धावन ज्यों रानी ।
त्यों स्वर करि गम्भीर धीर बोले नृप बानी ॥
"बेचि देह दासी ह्वै तब तो धर्म सम्हास्यो ।
अब अधरम क्यों करति कहा यह हृदय विचास्यो ॥
या तन पै अधिकार कहा तुमको सोचौ छिन ।
जानि बूझि जो मरन चली स्वामी आयसु बिन" ॥
यह सुनि ह्वै चैतन्य महारानी मन मान्यो ।
"ऐसे कुसमय माहिं कौन हित मन्त्र बखान्यो ॥
सांचहि अनरथ होन चहत हो यह अति भारी ।
धन्य धर्मवक्ता सो जो गहि बांह उबारी ॥
हमैं कौन अधिकार रह्यौ अब प्रान तजन को ।
दीसत और उपाव न दुख सो दूर भजन को ॥
तो छाती धरि बज्र लोक आचार सम्हारैं ।
जिन कर पाल्यो तिन कर...! हा हा कहि पुकारैं" ॥
इहिं विध करत बिलाप काठ चुनि चिता बनाई ।
धाड़ मारि ह्वै मृतक देहि ताके ढिग ल्याई ॥
तब नृप बरबस रोकि आंसु सोहैं बढ़ि आये ।
थाम्हि करेजो धारि धीर ये शब्द सुनाये ॥

"है मसानपति की आज्ञा कोऊ मृतक फुकै ना ।
जब लौं फूकन-हार कफन आधो कर दै ना ॥
यातें देवौ देहु तुमहुं कर क्रिया करौ तब । "
भरयो गगन यह शब्द भूप इमि टेरि कह्यो जब ॥
"धन्य धैर्य बल सत्य दान सब लसत तिहारे ।
अहो भूप हरिचन्द सकल लोकनि तें न्यारे ॥ "
यह सुनि शैव्या भई चकित बोली इत उत ज्वै ।
"आर्यपुत्र की करत प्रशंसा कौन हितू ह्वै ॥
पै यह वृथा प्रशंसाहू सों होत कहा फल ।
जानि परत सब सास्त्र आदि अब तो मिथ्या छल ॥
निस्सन्देह सकल सुर महिसुर स्वारथरत अति ।
नातरु ऐसे धर्मी की कैसे ऐसी गति ॥ "
वह सुनि श्रवननि धारि हाथ भूपति तिहिं टोक्यो ।
"हरे ! हरे ! यह कहत कहा तुम" यों कहि रोक्यो ॥
"सूर्यवंस की बधू चन्द्रकुल की ह्वै कन्या ।
मुख सों काढ़ति हाय कहा यह बात अधन्या ॥
वेद ब्रह्म ब्राह्मण सुर सकल सत्य जिय जानौ ।
दोष आपने कर्महि कौ निश्चय करि मानौ ॥
मुख सों ऐसो बात भूलि फिरि नाहिं निकारौ ।
होत बिलंब दै हमैं कफन करि क्रिया पधारौ ॥ "
सुनि यह अति दृढ़ बचन महिषि निज नाथहिं जान्यो ।
कछु सुभाव कछु स्वर कछु आकृति सों पहिचान्यो ॥

परो पाय पर धाइ फूटि पुनि रोवन लागी ।
औरहु भई अधीर अधिक आरत जिय जागी ॥
कह्यो हुचकि "हा नाथ ! हमैं ऐसा विसरायो ।
कहां हुते अबलौं कबहूं नहिं बदन दिखायो ॥
हाय आपने प्रिय सुत की यह दसा निहारौ ।
लूटि गईं हम हाय करहिं अब कहा उचारौ ॥"
सुनि भूपति गहि सीस उठाइ विविध समुझायो ।
"प्रिये ! न छाड़ो धैर्य, लखौ जो दैव लखायो ॥
अब बिलंब को समय नाहिं चेतौ मत रोवो ।
भोर होन ही चहत उठो अवसर जनि खोवो ॥
कोउ इत उत तैं आनि कहूँ पहिचानि जु लैहै ।
इक लज्जा बचि गई अहै सोऊ चलि जैहै ॥
चलौ हमैं दै कफन क्रिया करि भैान पधारौ ।
सुनौ वीरपत्नी ह्वै धीरज नाहिँ बिसारौ ॥"
यह सुनि शैव्या कह्यो बिलखि अतिसय मन माहीं ।
"नाथ ! हमारे पास हुतौ बस्तर कोउ नाहीं ॥
अंचल फारि लपेटि मृतक फूंकन ल्याईं हैं ।
हा हा पती दूर बिना चादर आई हैं ॥
दीन्हे कफन फारि देखहु सब अंग खुलत है ।
हाय ! चक्रवर्ती को सुत बिन कफन फुकत है ॥"
कह्यो भूप " हम करहिं कहा हैं दास पराये ।
फुकन देन नहिं सकत मृतक बिन कर चुकवाये ॥

ऐसेही अवसर मैं पालन धर्म काम है ।
महा विपति मैं रहै धैर्य सोई ललाम है ॥
बेचि देहि हू जेहिं सत्यहि राख्यो मन ल्याओ ।
एक टूक कपड़े पर ! तेहिं जनि आज छुड़ाओ ॥
फाड़ि कफन तैं अर्ध बसन कर बेगि चुकाओ ।
देखौ चाहत भयो भोर जनि देर लगाओ" ॥
सुनि महिषी बिलखाइ कफन फारन उर ठायो ।
पै ज्योंहीं उत "जो आज्ञा" कहि हाथ बढ़ायो ॥
त्योंहीं एकाएक लगी कांपन महि सारी ।
भयो महा इक घोर शब्द अति विस्मयकारी ॥
बाजे परे अनेक एकही बेर सुनाई ।
बरसन लागे सुमन चहूं दिस जय धुनि छाई ॥
फैलि गई चहुं ओर बिज्जु कैसो उंजियारो ।
गहि लीन्हयो कर आनि अचानक हरि असुरारो ॥
लगे कहन दृग बारि डारि "बस, महाराज ! बस ।
सत्य धर्म की परमावधि ह्वै गई आजु बस ॥
पुनि पुनि कांपति धरा पुन्य भय लखहु तिहारे ।
अब रच्छहु तिहुं लोक मानि मन बचन हमारे" ॥
करि दण्डवत प्रणाम कह्यो महिपाल जोरि कर ।
"हाय ! हमारे काज कियो यह कष्ट कृपाकर" ॥
एतोही कहि सके बहुरि नृप गर भरि आयो ।
तब शैव्या सों नारायन यह टेरि सुनायो ॥

"पुत्री ! अब मत करौ सोच सब कष्ट सिरायो ।
धन्य भाग हरिचन्द भूप सों पति जो पायो" ॥
रोहितास्व की देह ओर पुनि देखि पुकारयो ।
"उठो भई बहु बेर, कहा सोवन यह धारयो" ।
एतैा कहतहिँ भयो तुरत उठि कै सो ठाढ़ो ।
जैसें कोऊ उठत बेगि तजि सोवन गाढ़ो ॥
लग्यो चकित ह्वै चारहु ओर सविस्मय देखन ।
कबहुं मात औार कबहुं पिता को वदन निरेखन ॥
नारायन कें लखि प्रणाम पुनि सादर कीन्ह्यो ।
मात पिता के बहुरि धाइ चरननि सिर दीन्ह्यो ॥
अजगुत आनँद औा करुना पुनि प्रेम समाये ।
दम्पति सके न भाषि कछू दग आंसु बहाये ॥
सत्य धर्म भैरव गौरी शिव कैाशिक सुरपति ॥
सब आए तिहिं ठाम प्रसंसा करत यथामति ॥
दम्पति पुत्र समेत सबहिँ सादर सिर नायो ।
तब मुनि विश्वामित्र दगनि भरि बारि सुनायो ॥
"धन्य भूप हरिचन्द लोक-उत्तर जस लीन्ह्यो ।
कैान सकत करि महाराज जैसो व्रत कीन्ह्यो ॥
केवल चारहु जुग मैं तव जस अमर रहन हित ।
हम यह सब छल कियो छमहु सो अति उदारचित ॥
लीजै संसय त्यागि राज अब आहि तिहारैा ।"
कह्यो धर्म तब "हां हमकों साखी निरधारैा ॥"

बोलि उठ्यो पुनि सत्य "हमैं दृढ़ करि धारयो जो ।
पृथ्वी कहा त्रिलोकराज सब है ताही को ॥"
गद्गद स्वर सों सम्हरि बहुरि बोले त्रिपुरारी ।
"पुत्र तोहिँ दै कहा लहैं हमहूं सुख भारी ॥
निज करनी हरिकृपा आज तुम सब कछु पायो ।
ब्रह्म-लोकहू पैं अविचल अधिकार जमायो ॥
तदपि देत हम यह असीस कल कीर्ति तिहारी ।
जबलों सूरज चन्द रहै तिहुं पुर उँजियारी ॥
तव सुत रोहितास्वहूं होहि धर्म थिर थापी ।
प्रबल चक्रवर्ती चिरजीवी महा प्रतापी ॥"
तब अति उमगि असीस दीन्हि गौरी शैव्या कों ।
"लक्ष्मी करहि निवास तिहारे सदन सदा कों ॥
पुत्रबधू सौभाग्यवती सुभ होहि तिहारी ।
तव कीरति अति विमल सदा गावैं सुर नारी ॥"
यह असीस सुनि दम्पति कों दम्पति सिर नायो ।
तैसहिं भैरवनाथ बाक मैं बाक मिलायो ॥
"औ गावहिँ कै सुनहिँ जु कीरति बिमल तिहारी ।
सो भैरवी जाचना सो नहिँ होहि दुखारी ॥"
देवराज तब लाज सहित नीचैं करि नैननि ।
कह्यो भूप सों हाथ जोरि अतिसय मृदु बैननि ॥
"महाराज ! यह सकल दुष्टता हुती हमारी ।
पै तुमकों तौ सोऊ भई महा उपकारी ॥

स्वर्ग कहै को तुम अति श्रेष्ठ ब्रह्म-पद पायो ।
अब सब छमहु दोष जो कछु हमसों बनि आयो ॥
लखहु तिहारे हेत स्वयं शंकर बरदानी ।
उपाध्याय हैं बने बटुक नारद मुनि ज्ञानी ॥
बन्यो धर्म आपहि तुम हित चण्डाल अघोरी ।
बन्यो सत्य ताको अनुचर यह बात न थोरी ॥
बिके न तुम नहिं भये दास यह उर निरधारौ ।
हरि इच्छा सो इहिं विधि बाढ्यो सुजस तिहारौ ॥"
बहुरि कह्यो बैकुण्ठ-नाथ नृपहाथ हाथ गहि ।
"जो कछु इच्छा होहि और सो मांगहु बेगहि ॥"
कह्यो जोरि कर भूप "आज प्रभु दरस तिहारे ।
सकल मनोरथ भये सिद्ध इक लङ्क हमारे ॥
तद्यपि मांगत यह वर आयसु पाइ तिहारी ।
तव प्रसाद बैकुंठ लहै सब प्रजा हमारी ॥"
"एवमस्तु" कहि कह्यो बहुरि हरि विपति-बिदारन ।
"अवधपुरी के कीट पतङ्गनि लौं तुव कारन ॥
पाइ सकत हैं परम धाम कछु संसय नाहीं ।
ऐसेहि पुन्य-प्रताप-पुञ्ज राजत तुम माहीं ॥
पै एतोही दिये तोष मन नाहिं हमारे ।
कहहु औरहू जो कछु मन मैं होहि तिहारे ॥"
यह सुनि गद्गद स्वरनि कह्यो महिपाल जोरि कर ।
"करुनासिंधु सुजान महा आनँद रत्नाकर ॥

अब कोउ इच्छा रही नाहिं मन माहिं कहैं जो ।
पै ताहू यह होहि सुफल वर वाक्य भरत को ॥
"सज्जन कों सुख होइ सदा हरि पद रति भावै ।
छूटैं सब उपधर्म सत्व निज भारत पावै ॥
मत्सरता अरु फूट रहन इहिं ठाम न पावै ।
कुकविन कों बिसराइ सुकवि-बानी जग गावै ॥"
बोले हरि मुद मानि "अजहुं स्वारथ नहिँ चीन्ह्यो ।
साधु साधु हरिचन्द जगत हित मैं चित दीन्ह्यो ॥
इहिं युग तव कुल राज्य माहिँ ह्वै है ऐसोही ।
तुम्है देत सकुचाहि न वर मांगो कैसोही ॥"
यों कहि पत्नी सङ्ग नृपहिं नर अङ्गनि धारे ।
रोहितास्व कों सौंपि राज्य सब धर्म सहारे ॥
निज विमान बैठाय बेगि बैकुंठ पधारे ।
भई पुष्प वर्षा सब जय जय शब्द पुकारे ॥

॥ इति ॥